अनुवादकके दो शब्द

'जीवन-शोधन'का अनुवाद पहले-पहल मैंने १९३०के अपने जेल-जीवनमें किया था। वह छप नहीं पाया था कि अिसी बीच अुसका दूसरा संस्करण गुजरातीमें निकल आया व अुसमें लेखकने अितना परिवर्तन कर दिया कि मैंने दूसरा अनुवाद नये सिरेसे करना ही अधिक सुविधाजनक समझा। अुसका अवसर मुझे अब मिला। अिस बातका मुझे बड़ा खेद है कि हिन्दी-पाठक अिस बहुमूल्य ग्रन्थके परिचय व लाभसे अबतक वञ्चित रहे।

मूल ग्रन्थ व ग्रन्थकारके विषयमें मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है; क्योंकि ग्रन्थके सम्बन्धमें ग्रन्थकारके गुरुदेव पूज्य नाथजीने खुद अपनी भूमिकामें जितना लिख दिया है, अुससे अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। और ग्रन्थकार हिन्दी-पाठकोंसे अब काफी परिचित हो चुके हैं। गांधी सेवा संघके सभापति, 'गीता-मन्थन', 'गांधी विचार दोहन' तथा 'अहिंसा विवेचन'के कर्ता व 'सर्वोदय'के अेक प्रमुख लेखकके रूपमें वे हिन्दी-संसारके सामने आ चुके हैं। यह ग्रन्थ अुनके विचार और अनुभवकी गहराअी तथा विवेचन व तार्किक योग्यताका भलीभाँति परिचय दे देता है।

अनुवादकको स्वयं अिस ग्रन्थके परिशीलनसे बहुत लाभ हुआ है और अुसीने अुसे अिस अनुवादके लिअे प्रेरित किया है। मुझे विश्वास है कि जीवनका श्रेय साधनेकी आकांक्षा रखनेवाला प्रत्येक पाठक अिस ग्रन्थको अेक बार ही पढ़ कर नहीं अघा जायगा।

पूज्य नाथजीकी भूमिकाका किस्सा दिलचस्प है। मूल गुजरातीके पहले संस्करणमें अुनकी भूमिका नहीं थी। परन्तु मेरी अिच्छा रही कि अनुवादके साथ किसी महानुभावकी भूमिका जोड़ी जाय। वह किससे

लिखाओी जाय, अिस विषयमें श्री किशोरलालभाओीसे मैंने चर्चा की, तो अुन्होंने पूज्य नाथजी व पूज्य गांधीजीके नाम सुझाये। मैंने तुरंत पूज्य नाथजीको पत्र लिखा व श्री किशोरलालभाओीने भी अपनी सिफारिश अुसमें लिखनेकी कृपा की, जिसके फलस्वरूप यह महत्त्वपूर्ण भूमिका अिस अनुवादके लिअे प्रथम लिखी गओी। फिर श्री किशोरलालभाओीने अुसीका अनुवाद मूल पुस्तककी नयी आवृत्तिमें जोड़ दिया। पू० नाथजीकी मूल भूमिका मराठीमें थी। वह अिस समय मुझे अुपलभ्य नहीं है। अतः 'जीवन-शोधन' के तीसरे संस्करणमें जो अुसका गुजराती अनुवाद छपा है, अुसीके हिन्दी अनुवादसे सन्तोष मान लेना पड़ा है। अतः पाठक सहज ही समझ सकते हैं कि मूल भूमिकाके रससे यह कितनी दूर जा पड़ा होगा। अस्तु। पूज्य नाथजीने जो भूमिका लिखनेका अनुग्रह किया, अुसके लिअे अुनके चरणोंमें मेरा प्रणाम है। यह अनुवाद प्रेसमें जानेसे पहले ही लेखकने फिर गुजराती संस्करणमें कुछ सुधार किये। अुनके अनुसार अिस अनुवादमें सुधार किया गया। फिर मेरे परम मित्र श्री रमणीकलालजी मोदी (साबरमती) ने काफी परिश्रम करके मूल गुजरातीसे मिलाकर अिस अनुवादको बारीकीसे देख लिया व अुसमें आवश्यक सुधार किये। अुसके बाद श्री किशोरलालभाओीने खुद अनुवादको देख लिया, और अुसमें कुछ मौलिक संशोधन भी किये। परिणाम स्वरूप यह पुस्तक केवल अनुवाद नहीं, बल्कि क़रीब-क़रीब मूल पुस्तक जैसी हो जाती है। श्री रमणीकलाल मोदी और श्री किशोरलालभाओीका अुपकार मानना अुन्हें अच्छी लगने जैसी बात तो नहीं है, फिर भी ऋण स्वीकार किये बिना रहा नहीं जा सकता।

गांधी आश्रम,
हटूंडी (अजमेर)

भूमिका

जो विवेक व अुत्साह युक्त पुरुष जीवनमें किसी अुच्च अुद्देशको पूर्ण करनेकी आकांक्षा रखता है, अुसके मनमें अैसे प्रश्न बार-बार अुठते हैं कि मानव जीवनका हेतु क्या है या होना चाहिये, और क्या सिद्ध करनेसे अथवा अुसके लिअे यत्न करते रहनेसे अुसकी अुन्नति होगी। अैसे पुरुषको विचार करनेमें यत्किंचित् भी सहायता करना मुमकिन हो तो की जाय, अिस अुद्देशसे श्री किशोरलालभाअीने यह पुस्तक लिखनेका प्रयास किया है। वे खुद श्रेयार्थी हैं और अुन्हें खुद अिस बातका अनुभव है कि श्रेयार्थीको किन-किन कठिनाअियोंमेंसे गुजरना पड़ता है, किस प्रकारके संशयों व भ्रमोंसे अपने मनको मुक्त करना पड़ता है, अेक ओरसे विवेक-बुद्धि व दूसरी ओरसे केवल परम्परागत श्रद्धा द्वारा स्वीकृत मान्यताओंके संघर्षको किस तीव्रतासे मनको सहन करना पड़ता है। अतः अुनके ये लेख स्वानुभवपूर्वक और मनो-मन्थन करके लिखे गये हैं। अिसमें कोअी सन्देह नहीं कि अिससे ये श्रेयार्थीके लिअे अुपयोगी होंगे। मनुष्य चाहे कितना ही सात्त्विक हो, अनेक सद्गुण अुसके स्वभावभूत हो गये हों और अुसका जीवन अुन्नति-मार्गमें ही अग्रसर होता हो, तो भी केवल परम्परागत संस्कारोंके कारण अथवा किसी असम्भाव्य ध्येयको जीवनका अन्तिम साध्य बना लेनेके कारण अुसका मन अशक्य वस्तुके लिअे व्यर्थ ही परिश्रम करता व अुद्वेग पाता रहता है। अैसी स्थितिमें अुसकी कर्तृत्व-शक्तिका न तो समाजको ही पूरा लाभ मिलता है, और न खुद अुसे ही पूरा समाधान प्राप्त होता है। सात्त्विकता होते हुअे भी जिनके मनमें समाधान नहीं, अुन श्रेयार्थियोंके प्रति समभावसे प्रेरित होकर लेखकने अिस पुस्तकमें बहुत-कुछ लिखा है।

पाठक देखेंगे कि विवेक, सत्त्वसंशुद्धि, प्रामाणिकता, सत्यज्ञानके लिअे अुत्कण्ठा, समाजके हित-साधनकी भावना, कर्तव्य-पालन, संयम, निष्कामता, पवित्रता, आदि दैवी गुणोंके अुत्कर्ष पर अिस पुस्तकमें बहुत जोर दिया गया है। निःसन्देह हमारे जीवनमें दैवी गुणोंका अत्यन्त महत्त्व है। अिन

गुणोंके अुत्कर्षके द्वारा ही हम मनुष्यत्वकी पूर्णताको पा सकते हैं। अिन गुणोंमें जितनी कमी है, अुतने ही हम मनुष्यत्वसे दूर हैं। यदि हम मनुष्य हैं, और यदि अैसा होना कोअी बुराअी नहीं है, तो हमारा यही धर्म होना चाहिये कि हम पूर्ण मनुष्य बननेका यत्न करें और पूर्ण मनुष्य बनना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। यह ध्येय दैवी सम्पत्तियों—गुणों—के अुत्कर्षके बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

अिन सब गुणोंमें विवेक सर्वोपरि है। क्योंकि किसी गुणको गुण या अवगुण ठहरानेवाला, अुचित व अनुचितका निर्णय करनेवाला यही गुण है। प्रत्येक वस्तुको अिसीकी परीक्षामेंसे पास होना पड़ता है। जीवनमें अिस गुणका जितना महत्त्व है, अुतना ही यह दिन प्रतिदिन अधिकाधिक शुद्ध होता रहना चाहिये। जीवनके अनेक प्रकारके अनुभव, अुनका सूक्ष्म निरीक्षण, निरन्तर कर्मरत स्वभाव, और अैसे स्वभावसे ही धीमे-धीमे निष्काम बननेवाली हमारी बुद्धि — अिन सबके योगसे विवेक शुद्ध होता जाता है। अिसकी शुद्धि पर ही हमारी जीवन-नौका अुचित मार्गमें चल सकेगी। विवेक मानो जीवनका रहनुमा है। सद्गुणोंके रहते हुअे भी यदि हम राह भूल जायँ, अथवा अनेक सद्गुणोंमें किसका कितना महत्व है अिसका तारतम्य न रहे या समझमें न आवे, तो हानि हुअे बिना नहीं रह सकती। निदान मनुष्यत्वमें तो कसर रह ही जायगी। और जो कसर है, वही नुकसान है।

विवेकके बाद दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु है दृढ़ता यानी निग्रहकी क्षमता। विवेकसे जो अुचित सिद्ध हुआ हो, विवेकने हमारे आचरणके लिअे जो मार्ग निश्चित कर दिया हो, अुस पर चलनेकी यदि दृढ़ता मनुष्यमें न हो, तो विवेकके रहते हुअे भी वह पंगु रहेगा। संसारमें शायद ही अैसे लोग मिलेंगे, जो यह बिलकुल न जानते हों कि भला क्या है। और हमारे समाजमें तो कतअी अैसे व्यक्ति न मिलेंगे, जिन्हें भलाअी व बुराअीका कुछ ज्ञान न हो। परन्तु अिस भेदको समझते हुअे भी जो अुसके अनुसार चल नहीं सकते, अैसे ही लोग ज़्यादातर मिलेंगे। अिसका कारण यह है कि अच्छा क्या है, यह जानते हुअे भी अुस पर अमल करनेकी दृढ़ताका अुनमें अभाव है। अैसी हालतमें अुनकी यह अच्छाअीकी समझ भी

बेकार हो जाती है। अिसलिअे दृढ़ताकी अत्यन्त आवश्यकता है। बिना दृढ़ताके हम अेक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकते। विवेकके अनुशीलनसे जैसे विवेक दिन-दिन शुद्ध होता जाता है, वैसे ही दृढ़ताके अनुशीलनसे दृढ़ता भी बढ़ती है। धीरे-धीरे दृढ़ता जब हमारा स्वभाव बन जाती है, तब सच्चाअीके रास्ते चलते हुअे कम कठिनाअी होती है।

हमारे समाजमें अेक यह धारणा प्रवेश कर गअी है कि जो मनुष्य अपनी अुन्नति चाहता हो, अुसे समाजसे पृथक् रहना चाहिये। अुसे दूर करनेके लिअे लेखकने कअी जगह विस्तारसे लिखा है। समाजके प्रति अपने कर्तव्योंका निष्काम भावसे पालन करते रहनेमें ही श्रेयार्थीका कल्याण है — यह बात खास करके 'चौथा पुरुषार्थ', 'जीवन सिद्धान्त', 'जगत्के साथ सम्बन्ध', 'संन्यास', 'अुपाधि' आदि प्रकरणोंमें अधिक स्पष्टतासे प्रतिपादन की हुअी दीख पड़ेगी। हमारे समाजमें यह समझ बहुत अरसेसे चली आ रही है कि आध्यात्मिक अुन्नति व सामाजिक कर्तव्योंमें अत्यन्त विरोध है। अिस मान्यतासे समाजकी अतिशय हानि हुअी है। अिसकी बदौलत सिर्फ़ अितना ही नहीं हुआ कि आध्यात्मिक अुन्नतिके अिच्छुक व्यक्तिके मनमें समाज-विषयक अपने कर्तव्योंके प्रति अुदासीनता आ गअी है, बल्कि कौटुम्बिक कर्तव्यका भाव भी अुसके मनसे निकल गया है। यह बात नहीं कि अिस तरहके लोगोंमें कभी सात्विकताकी वृद्धि बिलकुल ही न हुअी हो, परन्तु अुनकी सात्विकताका परिणाम समाज पर अिष्ट-रूपमें होनेकी जगह अुलटे अुनकी अुदासीनताका ही परिणाम अधिक अनिष्ट प्रकारसे हुआ है। अिससे *अेक ओर समाजमें कर्तव्यके प्रति अुदासीनता — जड़ता — फैली व दूसरी ओर* स्वार्थसाधुता, कपट, दम्भ, दुष्टता आदिकी समाजमें वृद्धि होती गअी। फिर समाजमें यह धारणा घुस बैठी कि जो समाजमें रहना चाहते हैं अुन्हें स्वार्थी, मतलबी, कपटी, दम्भी, दुष्ट होना ही चाहिये, नहीं तो समाज-व्यवहार नहीं चल सकता। अिससे समाजमें अिन दुर्गुणोंकी वृद्धि होती गअी। फलतः समाजमें बुद्धूपन, जड़ता, स्वार्थभाव, पाखण्ड आदि दुर्गुणोंका ही अुत्कर्ष हुआ। कर्तव्य-भावनाका लोप हो जानेसे समाजकी अुन्नति नहीं हो पाअी। और जब समाजकी ही अुन्नति अटक

गअी, तब व्यक्तिकी तो कहाँसे हो? अतः समाजमें ही कर्तव्यनिष्ठ रह कर हमें अपनी अुन्नति करनी चाहिये। अुन्नतिका यही अेकमात्र मार्ग है। यदि सब लोग अिस बातको समझ लें कि निष्काम-भावसे अपना कर्तव्य-पालन करते रहनेसे ही खुदका और समाजका श्रेय होगा, और यदि समाज अिसे ही अपने व्यवहार-सिद्धान्तके रूपमें ग्रहण कर ले, तभी दोनों ओरसे होनेवाला समाजका वह नुकसान रुक सकेगा, जो भ्रमपूर्ण समझ या धारणाओंके कारण आज हो रहा है। अिस हानिको रोकनेके अुद्देशसे लेखकने अिस पुस्तकमें पाठकोंको बहुत तरहसे समझानेका प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि यह सिद्धान्त श्रेयार्थी जनोंको तो अवश्य स्वीकृत होगा।

यदि हम अपने समाजकी स्थितिका ठीक-ठीक निरीक्षण करें, तो मालूम पड़ेगा कि कितनी ही भ्रमपूर्ण मान्यताओं और असंभाव्य कल्पनाओंकी बदौलत हमारी और हमारे समाजकी कर्तृत्वशक्ति बहुत-कुछ नष्ट हो गअी है। हमारी विवेकबुद्धि, जो हमारे तथा समाजके लिअे अुपयोगी हो सकती थी, कुण्ठित हो गअी है। अिन भ्रमपूर्ण धारणाओं और असंभाव्य कल्पनाओंको छोड़ देनेसे ही हमारा व समाजका कल्याण होगा। हमारा मन या तो स्वार्थ साधनेका आदी हो गया है, या फिर किसी असम्भवनीय व कल्पित ध्येयके पीछे पड़ जाता है। यह आदत हमें छोड़ देनी होगी। यदि हम विचार करेंगे, तो यह बात हमारी समझमें आ जाने जैसी है कि अपनी अिस आदतको छोड़ने व स्वकर्तव्यनिष्ठ रहनेसे ही हमारा व समाजका कल्याण हो सकेगा।

हमारे अन्दर समाज-हितकी दृष्टिसे ही प्रत्येक बातका विचार करनेकी भावना अुत्पन्न नहीं हुअी। श्रेयार्थीमें अिस वृत्तिकी बहुत ज़रूरत है। अपने व्यक्तिगत हितकी ही दृष्टिसे विचारनेका हमारा स्वभाव धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी ज्यों का त्यों रहा है। हमें अिस स्वभावको बदलनेकी ज़रूरत है। श्रेयार्थीके मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ जानी चाहिये कि जबतक हमारे तथा समाजके अन्दर दैवी गुणोंकी वृद्धि न होगी, हमारा तथा समाजका शील-संवर्धन न होगा, तबतक हमारा तरणोपाय — अुद्धार — नहीं है। यह संकुचित भावना कि मुझ अकेलेका ही हित हो — फिर वह हितकामना आर्थिक क्षेत्रकी हो या

धार्मिक — श्रेयार्थीको छोड़ देनी चाहिये। प्रत्येक कल्याणप्रद वस्तुका विचार अुसे समुदायकी दृष्टिसे करते सीखना चाहिये। अैसी व्यापक दृष्टि व विचारसरणी हमारी न होनेके कारण जिन गुणों, जिन भावनाओं और जिन विद्याओं आदिकी वृद्धि संघ-शक्तिके बदौलत ही हो सकती है, अुनका विकास हमारे अन्दर अबतक नहीं हो पाया। अिनमें हम बहुत ही पिछड़े रह गये हैं। अिससे हमारी व्यक्तिगत अुन्नतिमें भी बहुत खामी रह गअी है। व्यक्तिगत या सामाजिक अुन्नति अेक-दूसरीसे स्वतन्त्र नहीं है; बल्कि परस्पर आश्रित है, अेकके बिना दूसरीकी पूर्ति नहीं हो सकती। व्यक्ति व समुदाय दोनोंकी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक तीनों प्रकारकी अुन्नति होनी चाहिये। अुसमें यदि कहीं भी खामी रह गअी, तो अुसका फल व्यक्ति व समुदाय दोनोंको भुगतना ही पड़ता है। यह बात हम जितनी जल्दी समझ जायें, अुतना ही अच्छा है। अिस समझके अभावसे सिकंदरके समयसे लें, तो भी आज कमसे कम दस-बारह सदियोंसे हम विदेशियोंके प्रहार सहते आये हैं। अब भी यदि हम यह समझ जायें तो अच्छा हो। महम्मद, तैमूर, नादिरशाह जैसे कअियोंको कअी बार हमने अगणित सम्पत्ति ले जाने दी है, सैकड़ों सालसे हम हाल-बेहाल हो रहे हैं, हर साल अरबों रुपया परदेश भेज रहे हैं। अितनी क़ीमत चुकाने पर तो अब हमें यह अच्छी तरह समझ ही लेना चाहिये। सत्यनिष्ठा, कर्तृत्व, प्रामाणिकता, निःस्वार्थता, पवित्रता, देशप्रेम, पुरुषार्थ, पराक्रम, तेजस्विता, स्वाभिमान, संघशक्ति, व्यवस्थितता, अुद्योगिता, आत्मरक्षाके लिअे आवश्यक बल, निर्भयता, आदि अनेक सद्‌गुणोंके अभावमें हमें आज तक कितना भुगतना पड़ा है; हमारे स्त्री-पुरुषों पर कैसे भयंकर जुल्म हुअे हैं और अुनका संहार हुआ है; कितनी मानहानि — मनुष्यताके लिअे लांछनास्पद मानहानि — हमें सहनी पड़ी है; अनाथ स्त्रियों व बच्चोंको कितने अत्याचार सहने पड़े हैं; और यह सब जुल्म-ज़्यादती, यह सारी विडम्बना विदेशियोंके ही द्वारा हुअी हो सो बात नहीं, हमने आपसमें भी अेक-दूसरेको सतानेमें कसर नहीं रखी है। परन्तु अितना सब सहन कर चुकने पर तो हमारे हृदयमें विचार पैदा होना चाहिये। सामुदायिक हितकी दृष्टिसे विचार

करनेकी हमारी वृत्ति न होनेके कारण हमारे अन्दर अुत्तम व व्यापक सद्गुणोंकी वृद्धि नहीं हुअी, और अिसीसे हमारा तथा हमारे समाजका बहुत ही नुकसान हुआ है। समुदायके कल्याणमें ही मेरा कल्याण है, यह बात श्रेयार्थीकी रग-रगमें पैवस्त हो जानी चाहिये। अुसे यह बात निश्चित रूपसे समझ लेनी चाहिये कि मेरा श्रेय समाजके श्रेयसे भिन्न व पृथक् नहीं है, बल्कि अेक ही है; और अुसे अैसी ही विचारधारा स्वीकार करनी चाहिये, जिससे दोनोंका कल्याण हो। अैसी कपोल-कल्पनाओं तथा असम्भवनीय ध्येयोंको, जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत तथा सामुदायिक कल्याणसे न हो, जल्दीसे जल्दी अुसे छोड़ ही देना चाहिये।

दूसरी भी अेक और बात श्रेयार्थीको ध्यानमें लानेकी ज़रूरत है। जिस प्रकार स्वार्थ, प्रतिष्ठा, देहसुख, कीर्ति आदि प्राप्त करना जीवनका हेतु — अुद्देश — नहीं होना चाहिये, अुसी प्रकार किसी भी तरहकी आनन्द-प्राप्ति भी जीवनका हेतु न होनी चाहिये। भौतिक आनन्दकी तरह अीश्वरानन्द, आत्मानन्द या ब्रह्मानन्दमें भी निमग्न रहनेका अुद्देश अुसे न रखना चाहिये। 'आनन्द'को जीवनका अुद्देश मानना मनुष्यकी बड़ी भूल है। श्रेयार्थीको अपने कर्त्तव्य-पालनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले समाधानके सिवा दूसरी किसी बातकी अपेक्षा न रखनी चाहिये। जिसमें भरपूर कर्तव्यनिष्ठा और करुणाकी भावना है, अुसे आनन्दका अुपभोग करनेकी फ़ुरसत शायद ही हो सकती है। श्रेयार्थीको यह कभी महसूस नहीं होता कि अब मुझमें पर्याप्त कारुण्यका विकास हो चुका है। अुसे कभी यह प्रतीत नहीं होता कि मेरा कारुण्य संसारके दुःखके जितना अगाध है। सब वस्तुओंका — अुनके सुख-दुःखोंका — निरीक्षण करके अुसने अपने कर्त्तव्यका मार्ग ग्रहण किया होता है। क्योंकि वह यह निश्चित रूपसे जानता है कि कर्तव्य-पालनसे अधिक मैं कुछ कर नहीं सकता हूँ। जब-जब कर्तव्य-रत रहते हुअे अुसके मन, बुद्धि, शरीर पर शक्तिसे बाहर तनाव पड़ता है, तभी अुसका हृदय कर्त्तव्यपालनके परिणाममें कुछ थोड़ी प्रसन्नता अनुभव करता है। अिसीको वह समझता है कि मुझे अपने कर्त्तव्याचरणका पूर्ण और अुचित मावजा मिल गया। फिर भी वह अैसी प्रसन्नता-प्राप्तिका अुद्देश रखकर कर्तव्य-पालन नहीं

करता। प्रसन्नताको तो वह कर्तव्य-पालनमें हुअे तनाव या श्रमका सहज
परिणाम समझता है। अुसकी यह भावना नहीं होती कि कोअी काम मैं
अिसलिअे करूँ कि अुसमें आनन्द मालूम होता है, किसी बातके पीछे
अिसलिअे पड़ूँ कि अुसमें आनन्द है; और न अुसका अैसा अुद्देश ही
होता है। फिर भी अिसका अर्थ यह नहीं कि अुसे कभी आनंद
होता ही नहीं। अपने या दूसरोंके जीवनमें कोअी अिष्ट, अुन्नतिकारक
घटना घटे या हृदयको पवित्र व निष्काम बनानेमें अुसे सहसा कठिन
प्रतीत होनेवाली सिद्धि प्राप्त हो जाय, अथवा व्यक्ति या समाजका जब
कुछ शुभ हो जाय, तो अुसे आनन्द हुअे बिना न रहेगा। परन्तु अुस
आनन्दका भोक्ता बनकर रहनेकी वह अिच्छा नहीं करेगा। निष्काम
कर्मयोगको सिद्ध करनेकी ओर ही अुसकी चित्तवृत्ति दौड़ती रहेगी।

विचार करनेसे अैसा मालूम होता है कि श्रेयार्थीको अिस बातका
विचार या चिन्ता न करते हुअे कि मुझे सुख या आनंद होता है अथवा
दुःख या शोक, अुस सुख अथवा दुःखका कारण खोजना चाहिये।
आनंद या सुखका कारण यदि सात्त्विक हो, तो डरनेकी जरूरत नहीं
और दुःख या कष्टका कारण भी यदि सात्त्विक ही हो, तो अुससे
भी दुःख मानने या घबरानेकी जरूरत नहीं है। यह बात श्रेयार्थीको
अच्छी तरह याद रखनी चाहिये कि सात्त्विकताके पथ पर चलते
हुअे कभी आनन्द मालूम होगा, तो कभी असह्य दुःख भोगनेका
भी प्रसंग आ जायगा। जब कभी अुस पर दुःख आ पड़े, तब
अुचित अुपायों व न्याय्य मार्गोंसे अुसे दूर करनेका प्रयत्न करते
हुअे भी, जो दुःख या कष्ट अपने हिस्से आ पड़े, अुसे सहन करनेके
लिअे आवश्यक धैर्य व सहिष्णुता अुसे अपनेमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये।
दुःख अथवा आपत्तिसे अुसका मन मुरझा न जाना चाहिये। अुसे अपने
मनको यह बात भलीभाँति समझा देनी चाहिये कि अुन्नतिका मार्ग सुख-
सुविधाओंमेंसे होकर नहीं गुजरता है। दुःख व संकटका मुकाबला करते
रहनेकी ओर अुसकी प्रवृत्ति और पुरुषार्थ अुसमें होना चाहिये। जीवनका
परम अुद्देश सिद्ध हो जानेके बादकी स्थितिमें जो कुछ समाधान होता हो
सो हो, परन्तु अुसे तो अुस परम अुद्देशकी स्थितिके लिअे सतत प्रयत्नशील

रहनेमें भी समाधान मालूम होना चाहिये । श्रेयार्थीका अिन बातों पर विश्वास होना चाहिये कि अुन्नतिके लिअे प्रयत्न करते हुअे जब-जब दुःख या संकट आ पड़ें व अुनमें अपने मन-बुद्धि-शरीरको श्रम करना पड़े, तनाव सहना पड़े, कठिनाअियोंमेंसे रास्ता निकालते हुअे, संकटोंका असह्य भार खींचते हुअे मनोभावनाओंको कभी अत्यन्त कोमल व कभी अत्यन्त कठोर करना पड़े, तब-तब मनको मृदुल या कठोर बनाते हुअे मन-बुद्धि-शरीरके द्वारा जो अनुभव होते हैं अुन्हींमें सारी विशेषता भरी रहती है, और अुन अनुभवोंके द्वारा ही हमारे मनुष्यत्वका स्वरूप घड़ा जाता है । अनेक प्रकारके विकट व कठिन प्रसंगोंसे तप कर निकले बिना हमारी सत्त्वशीलताकी परीक्षा नहीं होती और परीक्षा हुअे बिना आत्म-विश्वास नहीं पैदा होता । सात्विक - अुद्देशोंके लिअे जो दुःख व यंत्रणा सहन करनी पड़ती है, अुसीसे हमारे अन्दरकी मलिनता धुलकर मनुष्यता प्रकट होती है । अुन्नतिके मार्ग पर चलते हुअे, न्याय व करुणासे सराबोर हृदयमें यदि सात्विक सुख तथा आनन्द प्राप्तिकी गुंजायश हो, तो अुसे वह ठुकरावेगा नहीं, और दुःख व यन्त्रणा आ जावे, तो अुनको वह अपना दुर्भाग्य न समझेगा । अिस सबका अर्थ कोअी भूलसे यह न समझ ले कि कर्तव्य-मार्गके माने जानबूझ कर हमें ('आ बैल सींग मार' कहने) दुःखोंको निमंत्रण देनेकी ज़रूरत है ।

'जीवन-शोधन'में जो विचार प्रदर्शित किये हैं, अुनके सम्बन्धमें लेखकने खुद अनुभव करके तथा अुस विचारधाराके अनुसार आचरण करते हुअे श्रेयप्राप्तिके लिअे आवश्यक कष्टोंको सहन करनेके बाद अुन्हें पाठकोंके सामने पेश किया है । केवल कल्पनाके आनन्दके लिअे या तर्क-बुद्धिको कुशाग्र करनेके लिअे अुन्होंने कुछ लिखा नहीं है । विवेक-बुद्धिके कुशाग्र होनेके बाद मनमें भ्रम नहीं रहता, अिसलिअे विवेकबुद्धिको कुशाग्र करनेका अुन्होंने प्रयत्न किया है । अुन्होंने केवल अुन्हीं विषयोंमें अपनी विवेचक-बुद्धिको कुशाग्र करके पाठकोंकी बुद्धिको भी कुशाग्र करनेका यत्न किया है, जिनको मनुष्य व्यवहारमें ला सकता है और जिनके द्वारा वह अपनी अुन्नति कर सकता है । सारांश यह कि स्वतः अनुभव करते हुअे और तदनुसार बरतनेका प्रयत्न करते हुअे अुन्होंने ये सब विचार प्रदर्शित

किये हैं। अिन विचारोंकी सत्यासत्यताके विषयमें लेखकने खुद अपनी प्रस्तावनाके अन्तमें जो अिच्छा प्रकट की है और जो निर्णय दिया है,* वह मुझे भी अुचित मालूम होता है। अतः अिस विषयमें मुझे अधिक कुछ कहनेकी ज़रूरत नहीं रहती।

हम सबको अेक ही श्रेय सिद्ध करना है। हमारा परस्पर तथा समुदायका श्रेय हम सबकी पारस्परिक सहायतासे ही सिद्ध होगा। अुस श्रेयका व अुसकी साधनाके मार्गका स्पष्ट ज्ञान हम सबको हो, और अुस ज्ञानकी प्राप्ति होकर श्रेयप्राप्तिके लिअे आवश्यक दैवी गुण हमारे अन्दर दिन-दिन बढ़ते जायँ — अैसी अिच्छा करते हुअे मैं अिस भूमिकाको समाप्त करता हूँ।

बम्बअी
जनवरी, १९३४

केदारनाथ

---

* "अिन लेखोंमें जितना सत्य, विवेकबुद्धिसे ग्रहण करने योग्य व पवित्र प्रयत्नोंका पोषक हो अुतना ही जीवित रहे; जो अधिक अनुभव या विचारसे भ्रमपूर्ण या पवित्र प्रयत्नोंके लिअे हानिकर मालूम हो, अुसका निरादर व नाश हो — यही मेरी कामना है।"

विषय-सूची

खण्ड १

पुरुषार्थशोधन और विषय प्रवेश

खण्ड २

अदृश्य शोधन

खण्ड ३

भक्ति-शोधन

खण्ड ४

प्रकीर्ण विचारदोष

खण्ड ५

सांख्य और वेदान्त-विचारके साथ दृश्यशोधन

खण्ड ६

योगविचारशोधन

नमन

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये
स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय ब्रह्मणे ॥
आणिका कवणा नमस्कारूँ, कवणाचें स्तवन करूँ ।
जय जयाजी श्रीगुरु, अगाध महिमा ॥
तुज वीण अन्य न देखों कोणी, म्हणोनि आणिकातें न मानीं ।
हा मस्तक तुझिये चरणीं । ठेविला सत्य ॥

जेना अनुग्रह वडे थती शुद्ध बुद्धि,
जेनी सदैव अति प्रेमळ शान्त दृष्टि;
मारा हितार्थ मनमां दिनरात्र चिंते,
सो सो हजो नमन ते गुरुपादयुग्मे ॥

देश व कालसे अमर्यादित, अनन्त, चिन्मात्र जिसका स्वरूप है, जो हमारे अनुभवोंकि साररूपमें प्राप्त होता है, अुस शान्त ब्रह्मको नमस्कार है ।

दूसरे किसको नमस्कार करूँ ? दूसरे किसका स्तवन करूँ ? हे अगाध महिमावान् श्रीगुरु, आपकी जय हो ।

तेरे सिवा मैं किसीको देखता नहीं, अिसलिअे मैं दूसरेको मानता नहीं; यह मस्तक मैं तेरे ही चरणोंमें निश्चिन्तताके साथ रखता हूँ ।

जिनके अनुग्रह हुआ मम शुद्ध बुद्धि ।
जिनकी सदैव अति प्रेमल शान्त दृष्टि ॥
चिन्ता जिन्हें सतत ही मम श्रेयकी है ।
सौ सौ प्रणाम अुन श्री गुरुपादको है ॥

लेखककी प्रस्तावना

"लोगो, मैं जो-कुछ कहूँ वह परम्परागत है, अिसलिअे सच मत मानना। तुम्हारी पूर्व-परम्पराके अनुसार है, अिसलिअे सच मत मानना। अैसा ही होगा, अैसा मानकर सच मत मानना। तर्कसिद्ध है, अैसा समझकर सच मत मानना। लौकिक न्याय है, अैसा जानकर सच मत मानना। सुन्दर लगता है, अैसा समझकर सच मत मानना। तुम्हारी श्रद्धाका पोषक है, अिसलिअे सच मत मानना। मैं प्रसिद्ध साधु हूँ, पूज्य हूँ, अैसा मानकर सच मत समझना। परन्तु यदि तुम्हारी विवेक-बुद्धिको मेरा अुपदेश सच मालूम हो, तो ही अुसको स्वीकार करना।"

—बुद्ध

परन्तु पाठकगण, अिसके साथ ही, मैं जो-कुछ कहूँगा वह परम्परागत नहीं है, अिसीलिअे अुसे झूठ मत मानना। आपकी पूर्व-परम्परामें अुलट-फेर कर देनेवाला है, अिसीलिअे अुसे त्याज्य मत समझ लेना। आपके चित्तको आकर्षक लग जाय अितना सुन्दर या सहल नहीं दिखता, अिसी लिअे अुसे गलत मत मान लेना। आपकी चिरकालीन पोषित दृढ़ श्रद्धाको डिगा देनेवाला है, अिसीलिअे आपको अुल्टे रास्ते ले जानेवाला है, अैसा मत समझ लेना। मैं कोअी सिद्ध, तपस्वी, योगी या श्रोत्रिय नहीं हूँ, महज अिसी कारणसे मेरा कहना गलत मत मान लेना। परन्तु साथ ही यदि आपकी विवेक-बुद्धिको मेरे विचार सत्य और अुन्नतिकर दिखाअी दें, जीवन-व्यवहारमें व पुरुषार्थमें अुत्साह-प्रेरक, प्रसन्नता-अुत्पादक और आपके तथा समाजके लिअे श्रेय-वर्धक मालूम हों, तो अुन्हें डंकेकी चोट स्वीकार करनेमें डरना भी मत।

'जिन्दगी खा-पीकर अैशआराम करनेके लिअे है'— अिससे अधिक अुदात्त भावनाका स्पर्श ही जिन्हें नहीं हो सकता, अुनके लिअे मुझे कुछ नहीं कहना है। परन्तु जिनके मनमें अुदात्त भावनायें हैं, कभी-कभी

वे प्रबल भी हो अुठती हैं, जिनके मनमें यह अभिलाषा निरंतर रहती है अथवा रह-रह कर जोर मारती है कि मेरी आध्यात्मिक अुन्नति हो, मैं जीवनके तत्त्वको समझ लूँ, मेरा चित्त निर्मल हो जाय, मेरा जीवन दूसरोंका सुख बढ़ानेमें किसी कदर अुपयोगी हो जाय, मेरे जन्मके समय जो स्थिति मेरे समाजकी थी, अुससे वह अभ्युदयके मार्गमें आगे बढ़े, और अुसमें मेरा कुछ-न-कुछ हिस्सा हो, अुनके लिअे सहायक होनेकी अिच्छासे यह लेखमाला लिखनेके लिअे मैं प्रेरित हुआ हूँ।

कितने ही अैसे अुदात्त भावना रखनेवाले युवकोंकी व खुद मेरी अेक समयकी मनोदशाका अवलोकन करते हुअे मैंने अनुभव किया कि हममेंसे बहुतेरोंके चित्त पर गलत आदर्शोंने, या सही आदर्शकी गलत कल्पनाने, अथवा भ्रमपूर्ण तत्त्ववादोंने या योग्य तत्त्ववादकी भ्रमपूर्ण समझने अपनी छाप बिठा रखी है। यह छाप अितनी गहरी बैठ जाती है कि जब मनुष्य पूरी जवानीकी बहारमें होता है और अपने तथा समाजके कल्याणके लिअे पूरा-पूरा पुरुषार्थ करनेकी क्षमता रखता है, ठीक अुसी वक़्त अुसके कर्तृत्वकी गाड़ी अेकाअेक अटक जाती है, अथवा निष्फल मार्गकी ओर चल पड़ती है। और मानो अपनी समाज-सेवाकी भावना ही अेक पाप हो, अैसा खयाल करते हुअे वह अुससे पिण्ड छुड़ानेके लिअे अधीर होता हुआ मालूम पड़ता है। जिस समय अविरत कर्ममें ही अुसकी सब शक्तियाँ लगनी चाहियें, अुसी समय वह जीवन-क्षेत्रसे पीछा छुड़ाने व कर्मसे मुँह छिपानेका प्रयत्न करता दिखाअी देता है।

मैंने सखेद देखा है कि अिसमें जीवन-विषयक, जीवनकी सिद्धि-विषयक, और जीवनके ध्येय-विषयक तरह-तरहकी कल्पनायें व संस्कार कारणीभूत होते हैं। ये संस्कार हमारे चित्त पर अितने दृढ़ हो गये होते हैं, और विशेष दृढ़ बनानेके लिअे पूज्य माने गये पुरुषों द्वारा अितना प्रयत्न किया होता है कि अुनमें रही भूलको भूल माननेकी हिम्मत भी हमारी बुद्धिको नहीं होती। फिर भी, मुझे अैसी प्रतीति हुअी है कि जो व्यक्ति केवल कल्पनाश्रित श्रद्धा पर आधार नहीं रखते, बल्कि स्वतंत्ररूपसे अनुभवमें आनेवाले बुद्धिगम्य श्रेयको साधनेकी अिच्छा रखते हैं, अुन्हें भरसक जल्दी अिस भूल-भ्रमसे छूटना ही जरूरी है। अतः मैंने अैसे

कअी अेक प्राचीन मतोंको, जितना हो सकता है, सफ़ाअीके साथ समझानेका व शोधनेका प्रयत्न किया है ।

मैं यह नहीं मानता कि आर्य तत्व-ज्ञानकी अिमारत परिपूर्णताके साथ रची जा चुकी है, अिसमें अब कुछ भी खोज-सुधार या शुद्धि-वृद्धिकी गुंजाअिश नहीं, अब तो सिर्फ़ प्राचीन शास्त्रोंको जुदा-जुदा भाष्यों द्वारा या नये भाष्य रचकर समझाते रहना ही बाकी रहा है। मेरी रायमें नवीन अनुभवों और नवीन विज्ञानकी दृष्टिसे पुरानी बातोंको सुधारने, घटाने-बढ़ाने व जहाँ आवश्यकता हो, भिन्न-भिन्न मत बाँधनेका अधिकार अर्वाचीनोंका है । अिस अधिकारको छोड़ देनेसे हिन्दुस्तान 'अचलायतन' हो रहा है । मेरा मत है कि बादरायणके कालसे तत्त्वज्ञानका विकास प्रायः रुक गया है । अुन्होंने पुराने ज्ञानको सूत्रबद्ध करके तत्व-ज्ञानका दरवाजा बन्द कर दिया और शंकराचार्य तथा बादके आचार्योंने अुस पर ताले जड़ दिये । अब अुन तालोंको तोड़े बिना गति नहीं है ।

मेरी समझसे नवीन सांख्यके लिअे गुंजाअिश है, योग पर फिरसे विचार करनेकी ज़रूरत है, और वेदान्तके भी प्रतिपादनमें शुद्धि हो सकती है । अिसके फल-स्वरूप यदि ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग या योगमार्गमें फ़र्क़ होने लगे, तो अैसा होने देना ज़रूरी है ।

यदि यह पुस्तक आर्योंके अथवा संसारके तत्त्वज्ञानकी वृद्धिमें थोड़ा भी योग दे सके और श्रेयार्थीके लिअे कुछ भी अुपयोगी हो सके, तो बस है । मेरा यह दावा नहीं है कि अिस पुस्तकके द्वारा तत्त्वज्ञानकी पूर्णता हो जायगी । वर्तमान अथवा भावी विचारक अिसमें और शुद्धि-वृद्धि करें ।

मेरी दृष्टिमें तत्त्वज्ञान कोरे बौद्धिक विलासका विषय नहीं है । बल्कि हमें अुसके आधार पर अपना जीवन रचना है । अतअेव जिन मान्यताओंका जीवनके साथ कोअी सम्बन्ध नहीं, अुनकी चर्चामें मुझे कोअी दिलचस्पी नहीं । कोरी बुद्धिकी कसरतके तौर पर तत्त्वज्ञानकी चर्चा करनेकी मुझे अिच्छा नहीं । अतः अिस पुस्तकमें मैंने जो कुछ खण्डन-मण्डन करनेका यत्न किया है, वह जीवनको बदलनेकी दृष्टिसे है; केवल मान्यताको बदलनेकी दृष्टिसे नहीं ।

सम्भव है किसीको ये लेख धृष्टता-पूर्ण, किसीको आघात पहुँचाने-वाले, व किसीको अैसे लगें मानो मैं हिन्दूधर्मकी विशिष्टताका अुच्छेद करना चाहता हूँ। परन्तु अिसके लिअे मैं अितना ही कह सकता हूँ कि अिन लेखोंके लिखनेमें मेरी वृत्ति तो भरसक भक्ति-भावकी, (मेरी दृष्टिसे) अमूल्य कर्तृत्वको व्यर्थ जाते देखकर होनेवाले दुःख-भावकी और सत्योपासनाकी रही है।

यह भी संभव है कि अिन लेखोंके कोअी कोअी वचन सांप्रदायिक अनुयायियोंको अपने अिष्टदेव, गुरु या दूसरे पूज्य जनोंके प्रति अरुचिकर टीका करनेवाले मालूम हों। परन्तु वे विश्वास रखें कि अिनमें मेरा आशय किसीका अपमान या निन्दा करनेका नहीं है, न किसी पवित्र पुरुषका निरादर करनेका ही है। लेकिन मैंने जो कुछ लिखा है, वह अिसीलिअे कि जो कुछ मुझे भूल या भ्रम-युक्त मालूम होता है, अुसे वैसा साफ-साफ न कहूँ, तो मेरा सारा कथन ही निरर्थक हो जायगा।

फिर भी यदि किन्हीं साम्प्रदायिक लोगोंका रोष-पात्र मैं हो ही जाअूँ, तो भी मुझे आशा है कि अुस रोषकी पहली बाढ़ अुतर जानेके बाद बहुतोंको अैसा लगेगा कि मैंने रोष करने लायक कुछ नहीं किया है, और धीरे-धीरे मेरी बात अुन्हें पटने लगेगी।

जब पुरानी श्रद्धाओं और संस्कारों-सम्बन्धी भूलोंके प्रति पहली बार ध्यान जाता है, तो यह स्वाभाविक है कि गहरा आघात लगे। जब अपने-आप हमारा ध्यान अुसकी तरफ जाता है, तो कअी बार हम निराशाकी धारामें बहने लगते हैं और यदि दूसरोंके द्वारा अैसा होता है, तो शंका या रोषके बवंडरमें पड़ जाते हैं। परन्तु निःस्वार्थी व विचारशील व्यक्तिकी वह निराशा, शंका या रोष थोड़े ही समयमें शान्त हो जाता है व अुसका मार्ग अुज्ज्वल हो जाता है।

संसारके सब अनुगमों* (अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, अीसाअी आदि धर्मों)को कितने ही विषयोंमें अैसा आघात सहन किये बिना छुटकारा नहीं है। हिन्दू-अनुगम अिसके अपवाद नहीं हैं। यदि अैसे

---

* अिस शब्दके अर्थके लिअे देखिये पृष्ठ ११की टिप्पणी।

आघात अुचित रूपसे पहुँचानेमें मैं निमित्तभागी बनूँ, तो अिसका मुझे रंज नहीं। क्योंकि मुझे विश्वास है कि अिन आघातोंके असरको मंजूर कर लेनेसे धर्म-भावना अधिक स्पष्ट व अुज्ज्वल होगी।

अिन लेखोंमें जितना सत्य, विवेकबुद्धिसे ग्रहण करने योग्य व पवित्र प्रयत्नोंका पोषक हो, अुतना ही जीवित रहे; जो अधिक अनुभव या विचारसे भ्रमपूर्ण या पवित्र प्रयत्नोंके लिअे हानिकर मालूम हो, अुसका निरादर व नाश हो — यही मेरी कामना है।

आशा है कि पाठक लेखारम्भमें की गयी मेरी विनती पर ध्यान देकर अिस पुस्तकमें प्रदर्शित विचारोंके तथ्यातथ्यकी जाँच करेंगे।

जीवन-शोधन

[शोधनका अर्थ है अज्ञातकी खोज करना और ज्ञातका संशोधन करना]

खण्ड १

पुरुषार्थ-शोधन

१

चौथा पुरुषार्थ

पुराने ग्रन्थोंमें धर्म, अर्थ और काम अिन तीन पुरुषार्थोंका ही अुल्लेख पाया जाता है। पीछेसे कब 'मोक्ष' नामक चौथा पुरुषार्थ और बढ़ा दिया गया, अिसका पता पुरातत्त्व-वेत्ता ही बता सकते हैं। फिर भी पुरुषार्थ तीन नहीं, बल्कि चार हैं, यह बात तो ज़रा-सा विचार करनेपर समझमें आ जायगी। लेकिन मेरे खयालसे चौथे पुरुषार्थको 'मोक्ष' का नाम दिया जाना कुछ अंशतक भ्रम पैदा करनेवाला हो गया है।

पुरुषार्थ अुसे कहते हैं जिसे पानेके लिअे मनुष्य लगातार कुछ मेहनत करता है।

दूसरे प्राणियोंकी तरह मनुष्यमें भी पहली कुदरती प्रवृत्ति 'काम' अर्थात् सुख भोगने और खोजनेकी होती है। अुसके तमाम प्रयत्नोंका यही ध्येय मालूम होता है। अिस तरह पुरुषार्थोंमें कामको सहज ही पहला स्थान मिल जाता है।

परन्तु, थोड़ा भी विचार जिसके मनमें अुत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य कामके लिअे प्रयत्न करते-करते मालूम करता है कि सुखकी प्राप्तिके लिअे अर्थकी ज़रूरत है। और अिसलिअे, अर्थ — अर्थात् सुख-सुविधाके साधनोंकी प्राप्ति — अुसके लिअे दूसरा पुरुषार्थ बन जाता है।

पहले तो, अर्थ-प्राप्ति स्वतंत्ररूपसे पुरुषार्थका विषय नहीं मालूम होता, बल्कि सुख-भोगका आवश्यक साधन ही प्रतीत होता है। यानी पहले थोड़ी अर्थ-प्राप्ति कर लेना, फिर अुसकी सहायतासे सुख भोगना, अुसके बाद फिर थोड़ी अर्थ-प्राप्ति कर लेना और फिर सुख-भोग करना — यह चक्र चलता रहता है। किन्तु अर्थ-प्राप्ति करते-करते मनुष्य दो बातें अनुभव करने लगता है :— (१) सुख-भोगकी अिच्छाको अंकुशमें रक्खे बिना अर्थ-प्राप्ति करना ही सम्भव नहीं होता, और (२) अर्थकी खोजमें ही अुसे कुछ अैसा सन्तोष और समाधान मिलता रहता है कि जिससे सुख-सम्बन्धी

अुसकी भावनामें ही फ़र्क़ पड़ जाता है, और अिससे अुसकी पहलेकी कामेच्छा अथवा अुसकी तीव्रता कुछ अंशमें सदाके लिअे मन्द पड़ जाती है। अिसका परिणाम यह होता है कि अुसके जीवनका ज़्यादा-से-ज़्यादा समय 'काम' की अपेक्षा अर्थ-प्राप्तिके लिअे पुरुषार्थ करनेमें जाता है। भले ही कोअी मनुष्य खान-पान, राग-रंग और आमोद-प्रमोदसे अधिक अुच्च जीवनका ध्येय न रखता हो, फिर भी यदि अुसे अिन सबका अुपभोग करनेके लिअे अपने प्रयत्नसे ही अर्थ-प्राप्ति करनी पड़े, तो थोड़े समयमें ही वह देख लेता है कि दिनका थोड़ा ही भाग वह साधारण प्रकारके सुख-भोगमें लगा सकता है। अुसका ज़्यादा समय तो अर्थकी खोजमें ही चला जाता है। फिर भी अिसके कारण अुसे असन्तोष नहीं होता। क्योंकि वह अनुभव करता है कि सुख-भोगसे या सुखकी खोजसे जो सन्तोष मिलता है, अुससे भिन्न किन्तु अधिक अुच्च प्रकारका सन्तोष सुख-सुविधाओंके साधनोंकी प्राप्ति या खोजके पुरुषार्थमें है। अिस प्रकार स्वाभाविकरूपसे ही 'अर्थ' की अपेक्षा 'काम' पुरुषार्थका गौण विषय बन जाता है।

फिर भी 'अर्थ'का पुरुषार्थ चाहे कितनी ही प्रधानता पा जाय, आखिर अुसका प्रयोजन रहता है कामकी सिद्धिके लिअे ही। जिस अर्थकी प्राप्ति किसीके लिअे भी सुखदायी न हो, अुसे अर्थ नहीं, अनर्थ ही कहना होगा। जैसे, जो फल अेक ही दिनमें खराब हो जाते हैं, वे ज़रूरतसे ज़्यादा पैदा किये जायँ, तो वह अर्थ नहीं अनर्थ ही होगा। अिसीके अनुसार मनुष्यकी आवश्यकतासे अधिक वाहन, यंत्र और दूसरी छोटी-बड़ी चीज़ें बनने लगें, तो यह सब अर्थोपार्जन नहीं, बल्कि अनर्थोपार्जन ही हो सकता है। अिसका अर्थ यह हुआ कि अर्थ-प्राप्ति-सम्बन्धी पुरुषार्थ अुचित है या अनुचित, अिसका निर्णय करनेकी अेक कसौटी यह है कि अुसके ज़रिये काम या सुख सिद्ध होना चाहिअे।

अब विचार करनेपर मालूम होगा कि पुरुषार्थ चाहे कामके लिअे हो या अर्थके लिअे, दोनोंके निमित्त कुछ-न-कुछ कर्म करना आवश्यक होगा ही। अुस कर्मके दो प्रयोजन होते हैं:—(१) जिस प्रकारके सुख या अर्थकी अिच्छा हो, अुसके साधनोंको अिकट्ठा करना, (२) अुसमें विघ्न डालनेवाले कारणोंको दूर करना।

अिन दो प्रयोजनोंसे कर्म करनेवाला चाहे अेक ही व्यक्ति हो या बहुतसे मनुष्योंका समाज हो, दोनोंके लिअे कौनसे साधन जुटाना, कैसे जुटाना, कर्मका आरम्भ कब और कैसे करना, अन्त किस रीतिसे लाना, अुसे किस तरह पूर्ण और सुन्दर बनाना, किस तरह विघ्नोंका नाश करना, वगैरा बातोंमें कुछ-न-कुछ नियम — विधि-निषेध — अुत्पन्न होंगे ही। अिसमें शारीरिक श्रमसे लेकर अुस समयकी वैज्ञानिक, धार्मिक, आध्यात्मिक वगैरा मान्यताओं और शोधोंके अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्राकृतिक शक्तियोंके विकास और देवताओंके अनुष्ठान तकके सब कर्मोंका और राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक रचनाओं और व्यवस्थाओंका भी समावेश हो जाता है।

अिसका अर्थ यह हुआ कि अर्थ-प्राप्ति तथा सुखोपभोगके लिअे जिस अंशतक अनेक मनुष्योंका, प्राकृतिक शक्तियोंका और (वास्तविक या काल्पनिक) अदृश्य शक्तियोंका सहयोग आवश्यक प्रतीत होता है, अुस अंशतक अपने आप कर्माचरण-सम्बन्धी विधि-निषेधके नियम बनने लगते हैं। यही धर्मका पाया — बुनियाद — है।

'अर्थ' की तरह 'धर्म' भी पहली नज़रमें स्वतंत्र पुरुषार्थ नहीं मालूम होता। अैसा मालूम होता है कि अर्थकी और (अुस-अुस समयकी मान्यताके अनुसार) अिस लोक या परलोकमें सुखकी सिद्धिके लिअे अिसकी जगह और आवश्यकता है। परन्तु जिस तरह 'काम' पुरुषार्थकी अपेक्षा अर्थके लिअे किये गये प्रयत्नमें ही मनुष्यको अधिक सन्तोष मिलने लगता है, और परिणाममें सुखकी अुसकी कल्पना ही बहुत-कुछ बदल जाती है, और पहलेका सुख-सम्बन्धी पुरुषार्थ कुछ मन्द पड़ता जाता है, वही स्थिति 'काम' और 'अर्थ' दोनोंके बारेमें 'धर्म' पुरुषार्थसे हो जाती है।

यह हो सकता है कि अगर कोअी मनुष्य समाजमें रहते हुअे भी धर्मके विधि-निषेधोंको ताकपर रख दे, तो वह अर्थ तथा सुख अधिक प्राप्त कर सके। कअी बार धर्मका विचार करनेसे अुसे अपने अर्थ और काममें हानि होती हुअी दिखाअी देती है। फिर भी मनुष्य सदा धर्मको अलग रखकर नहीं चलता, बल्कि अपने अर्थ और कामको छोड़कर भी धर्माचरणको महत्त्व देता है। हरअेक ज़मानेमें अैसे कितने ही

लोग पाये जाते हैं, जो स्वर्गकी आशा, नरकका भय, या राज-दण्ड, किसी की सम्भावना न होते हुअे भी धर्म-सम्बन्धी पुरुषार्थको महत्त्व देते हैं, अर्थात् धर्म-पालनमें ही अुन्हें अितना सन्तोष मालूम होता है कि जिससे अुन्हें अर्थ अथवा कामसे मिलनेवाला सुख गौण लगने लगता है। सारांश यह कि जिस प्रकार 'अर्थ' पुरुषार्थ 'काम' के संयमके बिना सिद्ध नहीं होता, अुसी प्रकार 'धर्म' पुरुषार्थ भी अिन दोनों पुरुषार्थोंके संयमकी अपेक्षा रखता है। यह ठीक है कि धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिअे अुत्पन्न हुआ है, फिर भी कअियोंके लिअे वही धीरे-धीरे मुख्य पुरुषार्थ बन जाता है, और जिसके लिअे मुख्य न हो, अुसके लिअे भी अर्थ और कामकी लालसाका संयम करना आवश्यक हो ही जाता है।

अिस तरहके धर्मका ठीक स्वरूप क्या? अिसके सम्बन्धमें अेक यह कहा जाता है कि "सच्चे धर्मसे अर्थ और काम सिद्ध होने चाहिअें। जो कर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिका विरोधी हो, अुसे धर्म कहना भूल है।" यह कहना पूर्ण-रूपसे यथार्थ नहीं है। व्यक्तिके लिअे अक्सर, और बहुत बार समाजके लिअे भी, धर्म, अर्थ और कामकी अिच्छापर अेक लगाम या अंकुशका ही काम देता है। ज्यों-ज्यों धर्मकी मर्यादा विस्तृत होती है, त्यों-त्यों अर्थ और कामकी सिद्धिका क्षेत्र संकुचित होता जाता है। यह सोचा ही नहीं जा सकता कि जो समाज टॉल्स्टॉयके सिद्धान्तपर चल रहा होगा, वह बहुत अर्थवान् या विविध प्रकारके सुख-साधनोंसे युक्त हो सकता है। 'अर्थ' पुरुषार्थ भले ही सुखकी प्राप्तिके लिअे पैदा हुआ हो, फिर भी हमने परिणाममें देखा कि 'अर्थ' पुरुषार्थका मतलब हो जाता है, 'काम' का संयम। अुसी प्रकार 'धर्म' पुरुषार्थ परिणामतः 'अर्थ' और 'काम' का संयम ही हो जाता है। जो समाज जिस अंशतक धर्मको शोधेगा और पालेगा, अुस अंशतक अुस समाजके 'अर्थ' और 'काम' की सिद्धिका क्षेत्र मर्यादित ही रहेगा। परन्तु अिस धर्मके फल-स्वरूप अुस समाजके बाहरके समाज या प्राणी-वर्गके लिअे अर्थ या काम विशेष सुलभ हो जाते हैं। अगर कुटुम्बका अेक व्यक्ति धर्मको शोधे और पाले, यानी अपने खानगी अर्थ और कामकी लालसाका संयम करे, तो दूसरे व्यक्तियोंके अर्थ और काम सुलभ

होंगे। अेक कुटुम्ब पाले, तो दूसरे कुटुम्बोंको फ़ायदा हो; अेक देश पाले, तो दूसरे देशको फ़ायदा हो; मानव-समाज पाले, तो प्राणी-समाजको लाभ हो। अिस प्रकार "धर्मसे अर्थ और काम सिद्ध होना चाहिअे", अिसका अर्थ यह नहीं कि ख़ुद धर्म-पालकको वे लाभ प्राप्त हों; बल्कि यह है कि संसारको वे प्राप्त हों। 'अर्थ' और 'काम' की सिद्धिकी दृष्टिसे धर्मरूपी पुरुषार्थके क्षेत्रकी सीमा अुसे पालन करनेवालेकी अपेक्षा अधिक बड़े क्षेत्रतक फैलती है।

परन्तु 'धर्म'का — अर्थात् 'अर्थ' और 'काम' का संयम या धर्म-पालकके सिवाय दूसरोंके लाभका — यह अर्थ भी नहीं है कि ख़ुद धर्म-पालकके 'अर्थ' और 'काम'का सतत नाश हो, और अुसे केवल दुःखकी ही प्राप्ति हो। हाँ, कभी-कभी अैसा भी हो सकता है कि धर्माचरणसे धर्म-पालकके अर्थ और कामका नाश अनिवार्य रूपसे हो। परन्तु अैसे प्रसंग नित्य जीवनके नहीं हो सकते। नित्य जीवनमें तो धर्म-पालकके लिअे भी अुतना अर्थ और काम अवश्य अुचित माना जायगा, जितना अुस समाजकी कुल परिस्थितिके अनुसार आवश्यक हो। और 'धर्म' के द्वारा अितनी सिद्धि होना ज़रूरी है। 'अर्थ' और 'काम' के संयमका मतलब दुःखित या पीड़ित जीवन नहीं, बल्कि दूसरोंके मुक़ाबले ज़्यादा पाये जानेवाले अर्थ और कामका संयम है।

फिर भी, 'जो कर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके विरोधी हों, अुन्हें धर्म कहना भूल है'—अिस कथनमें अितना तथ्यांश ज़रूर है कि अुसके द्वारा यदि किसीके भी अर्थ और कामकी सिद्धि न होती हो, तो अुसे धर्म कहना भूल है। जैसे, बाल-विवाह, स्यापा, वग़ैरा कर्मोंमें मानी गअी धार्मिकता।

दूसरे, 'धर्म'का प्रभाव स्वयं धर्म-पालककी अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्रपर होता है; अिसलिअे अिस क्षेत्रकी विशालता किस विषयमें कहाँ तक हो, तो अुचित समझी जानी चाहिअे, अिसकी भी मर्यादा होती है। अिस मर्यादाको न समझनेमें तारतम्य बुद्धि (sense of proportion) की कमी है, जिससे धर्मी ख़ुद पंगु हो जाता है। यह मर्यादा भी देश, काल आदिकी परिस्थितिके अनुसार कम-ज़्यादा होती रहती है।

जो समाज अिस मर्यादाको समझ सकता है, और अिसके अनुकूल परिवर्तन अपने जीवनमें कर सकता है, वह जीवनमें टिका रहता है, और आगे बढ़ता रहता है। अिस मर्यादाकी योग्यता समझनेकी कसौटी यह है — धर्मका स्वरूप अैसा न ठहराना चाहिअे कि जिससे अुसका पालन करनेवाले व्यक्ति या वर्गके जीवनका धारण-पोषण और सत्व-संशुद्धि* अशक्य या अनुचित रूपसे परावलम्बी हो जाय। अुदाहरणार्थ, खेतीमें हिंसा होती है। अिसका मतलब यह हुआ कि अगर खेती न की जाय, तो कुछ प्राणियोंका सुख बढ़ता है। अथवा, शस्त्र-धारणमें हिंसा है, और अिसलिअे निःशस्त्र पुरुषसे कितने ही लोगोंको अभय मिलता है, अैवं अुनका सुख बढ़ता है; पर साथ ही जो वर्ग खेती या शस्त्रको छोड़ देता है, वह अपने जीवनके निर्वाह और सत्व-संशुद्धिके सम्बन्धमें अनुचित रूपसे परावलम्बी बन जाता है। यदि सारा मनुष्य-समाज अिस धर्मको ग्रहण करे, तो सम्भव है कि मनुष्य-जीवन ही अशक्य बन जाय। अिसलिअे खेत न जोतने या शस्त्र-धारण न करनेमें धर्म है, यह मान्यता मानव-समाजके अर्थ और कामकी सिद्धिकी विरोधी होनेसे गलत है। यह अेक अलग बात है कि कुछ लोग खेती या शस्त्र-धारणका पेशा अंगीकार न करें। यह भी अेक अलग और प्रशंसनीय बात है कि अैसे अुपाय किये जायँ, जिससे जीवन खेती या शस्त्रके बिना चल सके। लेकिन, तबतक जो खेती या सिपाहीगीरी करते हैं, वे तो अधर्म करते हैं, और जो अिन कामोंको खुद नहीं करते, मगर अिनसे सब तरहके लाभ ज़रूर अुठाते हैं — वे धर्मका आचरण करते हैं, यह खयाल गलत है।

अिस तरह जो 'धर्म'-पुरुषार्थके लिअे कटिबद्ध होते हैं, अुनपर भी दो मर्यादायें लागू होती हैं :— (१) अुनके धर्माचरणसे किसी-न-किसीको अर्थ और कामकी प्राप्ति सुलभ होनी चाहिअे; और (२) यह आचरण अैसा न होना चाहिअे कि जिससे जीवनका निर्वाह और सत्व-संशुद्धि अशक्य या अनुचित रीतिसे पंगु बन जाय।

---

* सत्वका अर्थ है, निर्णय करनेकी शक्ति (अर्थात् बुद्धि) और अूर्मियाँ, भावनायें, गुण — या संक्षेपमें चित्त। बुद्धिका विकास और भावनाओंकी शुद्धि-वृद्धि ही सत्व-संशुद्धि है। अिसका विशेष स्पष्टीकरण अिस खण्डके चौथे प्रकरणमें देखिये।

अिस तरह प्रत्येक पुरुषार्थमें हमने दो बातें देखीं :— अुसकी प्राप्तिके लिअे प्रयत्न अथवा शोध; और अुसके प्राप्त होनेके बाद अुसके फलोंका अुपभोग। हमने यह भी देखा कि अिस प्राप्तिके प्रयत्नमें ही मनुष्यको अितना सन्तोष मालूम होता है कि कअी लोगोंके लिअे यह प्रयत्न ही जीवनका मुख्य व्यवसाय बन जाता है, और अुसके फलका अुपभोग— प्रयत्नका प्रेरक हेतु — गौण हो रहता है। अिस तरह 'काम'की बनिस्बत 'अर्थ'-पुरुषार्थ और 'अर्थ'की बनिस्बत 'धर्म'-सम्बन्धी पुरुषार्थ मुख्य बन जाता है।

परन्तु यह शोध चाहे सुखके लिअे हो, चाहे अर्थ या धर्मके लिअे हो, प्रत्येकके लिअे ज्ञानकी ज़रूरत है। ज्ञानसे मनुष्य सुखको शोधता है, अर्थको शोधता है, और धर्मको शोधता है। 'शोधता है', का मतलब यह कि जो नहीं जाना है अुसे खोजता है, और जो जान लिया गया है अुसको शुद्ध करता है। और, जैसे अर्थ और धर्मकी प्राप्तिमें ही मनुष्यको अितना समाधान मिल जाता है कि अुसके पहलेके पुरुषार्थ अुसके लिअे गौण बन जाते हैं, वैसे ही ज्ञानकी शोध और प्राप्तिमें ही मनुष्यको अितना सन्तोष मिल जाता है कि वही अुसका स्वतंत्र पुरुषार्थ बन जाता है, और अुसकी धर्म, अर्थ, या कामरूपी फल भोगनेकी अिच्छा मन्द पड़ जाती है। अिस तरह 'काम,' 'अर्थ' और 'धर्म' के साथ 'ज्ञान' चौथा पुरुषार्थ बन जाता है।

परन्तु अितने विवेचनसे पाठक यह समझ सकेंगे कि बहुतसे लोग तो हरअेक पिछले पुरुषार्थका अुससे पहलेके पुरुषार्थके अुपायके रूपमें ही स्वीकार करेंगे; अगले पुरुषार्थको गौण समझकर पिछलेको ही महत्त्व देने-वाले लोगोंकी संख्या कम ही कम होती जायगी; अर्थात् धर्म, अर्थ और कामके लिअे ही ज्ञानके शोधक ज़्यादा लोग होंगे; अिन तीनोंकी उपेक्षा करके महज़ ज्ञान-प्राप्तिमें ही सन्तोष पानेवाले बहुत थोड़े लोग होंगे। अिसी तरह ज़्यादातर लोग धर्मका पालन अर्थ और सुखकी प्राप्तिके लिअे ही करेंगे; केवल धर्म-पालनमें ही सन्तोष माननेवाले थोड़े होंगे। अिसी प्रकार सुखके साधनके रूपमें अर्थके लिअे अुद्योग करनेवाले अधिक होंगे; अर्थ-प्राप्तिके ही सन्तोषसे तृप्त होनेवाले कम होंगे।

ज्यों-ज्यों पुरुषार्थका विषय अधिकाधिक सूक्ष्म होगा, त्यों-त्यों अुसीमें सन्तोष माननेवाला वर्ग अधिकाधिक छोटा होता जायगा।

अिस तरह आजतक अैसे कुछ लोग हो गये, ज्ञानकी शोध और प्राप्ति ही जिनके जीवनका मुख्य व्यवसाय बना। अुन्हें अुसका क्षेत्र अनन्त और अपार दिखाअी दिया। मनुष्य अनेक अनुभवोंकी छान-बीन कर, अुनके आधारपर तर्क चलाकर, अुस तर्कके आधारपर फिर शोध करके, ज्ञानकी वृद्धि करता ही गया। कभी जगत्को शोधते हुअे और कभी अपने शरीर और चित्तको शोधते हुअे अन्तको वह आत्मा और परमात्माकी भी शोधतक जा पहुँचा। शेष सारा ज्ञान अुसे अिस ज्ञानके अिस पारका मालूम हुआ। और, यह देखनेपर अुसने महसूस किया कि अब मैं अिस शोधके प्रयत्नसे मुक्त हो गया। अिसके अलावा, अुसने अिस शोधके अन्तमें देखा कि आत्मा अथवा ब्रह्मसे परे अुसके अूपर अधिकार चलानेवाली दूसरी कोअी वस्तु नहीं है। और अिस तरह भी अुसने अपनी स्वतंत्रता अथवा मुक्तिके दर्शन किये। अुसने यह भी देखा कि यह ज्ञान लेनेके बाद अब आगे कुछ भी जानना बाक़ी नहीं रहा। अिससे अुसकी अन्तिम जिज्ञासाका अन्त आ गया। अपने पुरुषार्थकी झंझटसे भी अुसका छुटकारा — मोक्ष — हुआ। धर्म-प्राप्तिके लिअे प्रयत्न करते हुअे अुसकी वासनायें जो क्षीण होती जा रही थीं, अब पूर्ण-रूपसे निवृत्त हो गयीं।

धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्तिके सिलसिलेमें नहीं, बल्कि स्वतंत्र-रूपसे ज्ञान जिनके लिअे पुरुषार्थका मुख्य विषय बन गया, अुन्हें जिस खास शक्तिके स्वरूप-शोधनका व अुचित रूपसे अुसकी शिक्षा व विकासका महत्त्व अधिकाधिक मालूम होता गया, वह मानव-चित्त है। अनन्त प्रकारके चमत्कारोंसे भरे अिस सारे विश्वमें जो विविधता और जो बल दिखाअी देता है, वैसी ही चमत्कारी विविधता और विभूतियाँ अुन्हें मानव-चित्तमें भी दिखाअी पड़ीं। अिस कारण चित्त चौथे पुरुषार्थके सिलसिलेमें संशोधनका सबसे महत्त्वपूर्ण विषय बन गया। भिन्न-भिन्न विचारकोंको अुसकी जाँच, शुद्धि और शिक्षाके लिअे भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ सूझीं, और अुनमेंसे ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म आदिके तरह-तरहके मार्ग निकले। अुन्हींमेंसे निरीश्वरमत, सेश्वरमत, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, सगुणोपासना, निर्गुणोपासना,

हठयोग, राजयोग, कर्ममार्ग, संन्यासमार्ग, मूर्तिपूजा, मूर्तिविरोध आदि अनेक दर्शन, सम्प्रदाय, दीक्षा आदिका प्रचार हुआ। यदि हम अिन सबकी जड़को देखेंगे, तो हम जान जायँगे कि यह सब चित्तके ही जुदा-जुदा पहलुओंके शोधन अथवा शिक्षणका प्रयत्न है।

फिर, किसी अति प्राचीन कालमें ज्ञान-प्राप्तिकी शोधके दरमियान कर्मका सिद्धान्त और अुसके फलस्वरूप पुनर्जन्मवादकी शोध हुअी। आर्यावर्तके वैदिक—अवैदिक लगभग सभी सम्प्रदायोंमें पुनर्जन्मवाद अेकमतसे मान्य होता आया है। धीरे-धीरे यह अितना बल प्राप्त करता गया कि अिन अनुगमों * में पले हुअे लोगोंके चित्तपर जन्मसे ही अिस वादका संस्कार दृढ़ होने लगा।

---

* अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' के लिअे हम आम तौरपर 'धर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं, और अुसके मुताबिक़ 'हिन्दू-धर्म', 'अीसाअी-धर्म', 'मुसलमान-धर्म' वग़ैरा कहते हैं। परन्तु हम अच्छी तरह समझते हैं कि हमारे 'धर्म' शब्दका अर्थ 'रिलीजन' से कहीं अधिक व्यापक है। अुदाहरणके लिअे, जीवनमें जो-जो कर्म आवश्यक हैं, जिन-जिन कर्मोंसे हमें मुक्त रहना चाहिअे, जो सदाचार हमें पालना चाहिअे, अुन सबको हम 'धर्म' समझते हैं; और वेद, क़ुरान या अिंजीलको मानने न माननेसे भी ज़्यादा महत्त्व हम अिनको देते हैं। अिस कारण शास्त्र-विशेष या पुरुष-विशेष-द्वारा प्रवर्तित आचार-विचार और श्रद्धा-प्रणालीके लिअे 'धर्म' शब्दका प्रयोग होनेसे विचारमें बार-बार गड़बड़ पैदा होती है। 'रिलीजन' शब्द अिस पिछले अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। अिस कारण मैंने 'रिलीजन' के लिअे 'अनुगम' शब्दका प्रयोग किया है। श्रुति-स्मृतिके आधारपर रचित प्रणाली 'वेदानुगम' हुअी; महावीरका पथानुसरण करनेवाली प्रणाली 'जैनानुगम' हुअी; बुद्धकी 'बुद्धानुगम'; अीसाकी 'अीसानुगम'; मुहम्मदकी 'मुहम्मदानुगम', अित्यादि। जो अुस प्रणालीको मानते हैं, वे अुसके अनुगामी या अनुयायी हुअे। अैसे किसी अनुगमकी शाखाओंको अुस अनुगमका सम्प्रदाय कहा जा सकता है। अिस प्रकार वैष्णव, स्मार्त, दिगम्बर, श्वेताम्बर, महायान, हीनयान, सुन्नी, शिया, प्रोटेस्टण्ट, रोमनकैथॉलिक वग़ैरा भिन्न-भिन्न अनुगमोंके भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय हैं।

जब यह कहा जाता है कि राजनीतिको 'रिलीजन' से अलग करना चाहिअे, तब योरपमें अुसका अर्थ यह होता है कि अैसे अनुगमों और सम्प्रदायोंसे

जिसने ज्ञानके पुरुषार्थका अन्त पाकर अपने अस्तित्वका मूल — आत्मतत्त्व — खोज निकाला, असने अपने सम्बन्धमें पुनर्जन्मकी सम्भावनासे और भयसे भी मुक्ति देख ली। आत्मतत्त्वकी शोधमें असे पुनर्जन्मको रोकने अथवा असके भयसे छूटनेका साधन मिल गया।

अैसे ही किसी कारणसे चौथे पुरुषार्थका नाम 'ज्ञान' के बदले 'मोक्ष' पड़ गया, और असका अर्थ हो गया पुनर्जन्मसे छुड़ानेवाला पुरुषार्थ। अब चूँकि पुनर्जन्मवादके मूलमें कर्म-सिद्धान्त है, अिसलिअे कर्म-नाशका अुपाय करना चौथे पुरुषार्थका ध्येय मान लिया गया। धर्म, अर्थ और काम ये तीनों किसी-न-किसी रूपमें कर्मका विस्तार अवश्य बढ़ाते हैं। अिससे अिन तीनोंमें और मोक्षमें मानो दिन-रात-जैसा विरोध है, अैसी विचार-श्रेणी अुत्पन्न हुअी। और अुसमेंसे यह समझ पैदा हुअी कि अिन तीन पुरुषार्थोंमें से निवृत्ति अथवा अैसे ही कर्मोंमें प्रवृत्ति, जिनका अिन तीनोंसे कोअी सम्बन्ध न हो, चौथे पुरुषार्थकी सिद्धिका साधन है।

अेक बात और। चौथे पुरुषार्थके स्थानपर 'मोक्ष' नामके आरूढ़ हो जानेसे और चित्तकी शोध अुसमें मुख्य हो जानेसे कुछ लोगोंका यह खयाल बन गया कि बन्ध और मोक्ष दोनों धर्म चित्तसे ही सम्बन्ध रखते हैं। चित्त है अनेक संस्कारोंका समूह; अिन संस्कारोंकी प्रबलता चित्तका बन्धन है, और अुनकी शिथिलता ही चित्तका मोक्ष है। मनुष्यने अपनेको देश, जाति, धर्म, अधर्म, नीति, अनीति वगैरा के अनेक संस्कारोंसे बाँध रक्खा है। अिसलिअे मोक्षके मानी हैं, अिन संस्कारोंके बन्धनको तोड़ डालना।

अिन तथा अूपरके विचारोंमें तथ्यांश अवश्य है, परन्तु जिस ढंगसे अिन विचारोंको पोषण मिला है, अुनसे विपरीत परिणाम भी निकले हैं। प्रवृत्ति-विचार या निवृत्ति-विचार, संस्कारोंका बन्धन या शैथिल्य, — ये सम्पूर्ण नहीं, बल्कि मर्यादित सिद्धान्त हैं। फिर यह मर्यादा भी भिन्न-भिन्न समयमें संकोच-विकास पाती रहती है; पर अिसकी तरफ़ ध्यान नहीं गया,

---

अुसको परे रखना चाहिअे। परन्तु 'रिलीजन' को 'धर्म' शब्दके अर्थमें ग्रहण करके हमारे देशमें भी कितने ही नेतागण अैसा कहने लग गये हैं कि राजनीति, नीति-अनीति, सदाचार-दुराचार वगैरा सम्बन्धी विचारोंसे परे रहनी चाहिअे! शब्दके कारण विचारमें जो भ्रम अुत्पन्न हो जाता है, अुसका यह अेक अुदाहरण है।

और नतीजा यह हुआ कि मानो ‘ मोक्ष ’ मार्गने अेक तरफ़से जड़ और कृत्रिम निवृत्तिके लिअे और दूसरी तरफ़से स्वच्छन्दताके लिअे, खुला परवाना ही दे दिया हो। चौथे पुरुषार्थकी सिद्धिके लिअे कर्ममात्रसे ज़बरदस्ती निवृत्त होना ही चाहिअे, अैसी कल्पना ‘ मोक्ष ’ शब्दने पैदा की है, तथा आचार और विचारमें बहुत गड़बड़ और अस्पष्टता भी फैलाअी है। प्रवृत्ति और साधनाको कृत्रिम रास्ते चढ़ा दिया है, और सांसारिक तथा परमार्थिक — ये दो अैसे कर्म-भेद रच डाले हैं, मानो अिनका अेक-दूसरेसे कोअी सम्बन्ध ही न हो।

अिस तरह ‘ मोक्ष ’ शब्द अनेक रीतिसे भ्रमकारक हो गया है। वस्तुतः चौथा पुरुषार्थ ‘ मोक्ष ’ नहीं, बल्कि ‘ ज्ञान ’ अथवा ‘ शोध ’ है। अिसके लिअे किये गये प्रयत्नके द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और कामको शोधता अर्थात् खोजता है, और तत्-सम्बन्धी प्रवृत्तियोंको शुद्ध करता है। अिसीसे वह अुसको मर्यादाओं और पारस्परिक अंकुशोंको जानता है; और अन्तमें अिसीके द्वारा वह जगत्‌को और अपनेको भी शोधता और शुद्ध करता है — यहाँतक कि वह अपने जीवनका मूल कारण भी शोध लेता है। ज्ञानी धर्म या नीतिके अंकुशसे मुक्ति नहीं प्राप्त करता, बल्कि अपने धर्मको यथावत् समझता है, अपने समयके अनुरूप विविध कर्मोंकी अुचित मर्यादाओंको जानता है, अुनके अंकुश तथा मर्यादाका ज्ञान-पूर्वक स्वीकार करता है, और अिस अंकुशमें रहकर अर्थ और कामको भोगता है।

जिस प्रकार पहले तीन पुरुषार्थोंका ध्येय जीवनका निर्वाह और सत्व-संशुद्धिकी खोज और संशोधन है, वैसे ही अिस चौथेका भी है। मृत्युके बादकी स्थितिकी चिन्ताके लिअे यहाँ कोअी जगह ही नहीं। जिस तरह प्रत्यक्ष जीवनके व्यवहारोंके साथ धर्मका संयोग न रहनेसे तारतम्यका भंग होता है, वही हाल चौथे पुरुषार्थका भी होता है।

अिस तरह देखेंगे तो चार पुरुषार्थोंमें रात-दिन-जैसा विरोध नहीं दिखाअी देगा; बल्कि सब अेक-दूसरेपर आधारित और अेक-दूसरेके नियामक मालूम पड़ेंगे।

मनुष्यको जिज्ञासु होना चाहिये; श्रेयार्थी होना चाहिये; शुशुत्सु (शोध और शुद्धिकी अिच्छा रखनेवाला) होना चाहिये। अिसके फल-स्वरूप अुसे अनेक भ्रम-वहम, अज्ञान, अधूरे ज्ञान, अनिश्चितता — संक्षेपमें अबुद्धिसे — मोक्ष मिल जायगा। यदि सृष्टिके नियमानुसार पुनर्जन्म अनिवार्य होगा, तो अुसे समाधान-पूर्वक स्वीकारनेका बल अुसे मिलेगा; यदि वह कोरी कल्पना ही होगा, तो अुससे डरनेका प्रयोजन नहीं रहेगा। यदि पुनर्जन्म सत्य होते हुअे भी सान्त (जिसका अन्त होता है) हो, तो अुसके मार्गको भी वह विशेष शुद्ध तथा अैसा बना देगा, जिससे अुसके द्वारा कम विपरीत परिणाम पैदा हों। पुनर्जन्मके डरसे ही वह अपना पुरुषार्थ करनेके लिअे प्रेरित नहीं होगा, बल्कि जिज्ञासासे, सत्य-शोधनकी भावनासे और शुद्ध होनेकी आकांक्षासे अिस चौथे पुरुषार्थकी ओर प्रेरित होगा।

२

ज्ञानकी शोधके अंग

पिछले परिच्छेदमें हमने देखा कि :—

(१) पुरुषार्थ—प्रयत्न-पूर्वक पानेके विषय—चार हैं:—सुख (काम), अर्थ, धर्म और ज्ञान।

(२) सुखकी सिद्धिके लिअे अर्थकी शोध आवश्यक होती है; परन्तु सुखके संयमके बिना अर्थ-प्राप्ति अशक्य है।

(३) जो अर्थ किसीके भी सुखकी सिद्धि न कर सके, अुसे 'अर्थ' कहना भूल है।

(४) अिसी तरह सुख और अर्थकी सिद्धिके लिअे 'धर्म' की शोध आवश्यक होती है; अर्थात् कौनसा कर्म किया जा सकता है, और कौनसा नहीं किया जा सकता, किस कर्मको किस तरीक़ेसे करना चाहिअे, आदि विधि–निषेध, सामाजिक रूढ़ियाँ, राज्यके क़ानून वग़ैरा बनते हैं। वे सुख और अर्थकी प्राप्तिपर अंकुश रखते हैं।

(५) जो धर्म किसीके भी सुख अथवा अर्थकी सिद्धि न कर सके, अुसे ‘धर्म’ कहना भूल है।

(६) अिसी तरह सुख, अर्थ और धर्मकी सिद्धिके लिअे ज्ञानकी शोध आवश्यक होती है। ज्ञानकी शोधके लिअे सुख, अर्थ और धर्मके पुरुषार्थका संयम* करना पड़ता है।

(७) जो ज्ञान किसीको भी धर्म स्थिर करनेमें या पालनेमें अथवा अर्थ या सुखकी सिद्धि करनेमें सहायक नहीं हो सकता, अुसे ‘ज्ञान’ कहना भूल है।

(८) सुख, अर्थ, धर्म और ज्ञान अिन चार पुरुषार्थोंमें प्रत्येक पिछले पुरुषार्थका अेक प्रयोजन है — अपनेसे पहलेके पुरुषार्थोंको सिद्ध करना। पर अुनका अितना ही प्रयोजन नहीं होता; बल्कि स्वतंत्र रूपसे भी अुनके द्वारा अेक प्रकारका सन्तोष मिलता है। अिस सन्तोषके कारण अगला पुरुषार्थ कुछ हदतक गौण पड़ जाता है, और पिछलेको अेक स्वतंत्र क्षेत्र मिलता है।

(९) अिस प्रकार धर्म, अर्थ और सुखकी अुत्तरोत्तर शुद्धि और शोध करना ज्ञानका अेक क्षेत्र है; और अपने तथा जगत्‌के मूल और प्रयाणकी दिशा जानना ज्ञानका दूसरा और स्वतंत्र क्षेत्र है।

प्रत्येक पुरुषार्थके स्वतंत्र क्षेत्रमें पुरुषार्थ करनेवालेको अुससे जो समाधान मिलता है, वही अुसके लिअे पुरुषार्थमें प्रेरक हेतु हो जाता है;

---

* पूछा जा सकता है कि ज्ञानकी प्राप्तिके लिअे ‘धर्म’ — पुरुषार्थका संयम किस प्रकार करना पड़ता है? यहाँ संयमका अर्थ है — कभी अनावश्यक सुख-प्राप्तिके प्रयत्नोंको मन्द करना, अनुचित सुखका त्याग करना, अथवा अुचित सुखको भी छोड़ देना। सुखके संयमका अर्थ है — अनावश्यक सुख-प्राप्तिका प्रयत्न शिथिल करना, अनुचित सुखका त्याग करना, अथवा सुखका अुपभोग छोड़ देना। अर्थका संयम भी वैसा ही समझना चाहिये। अिसी प्रकार धर्मके संयमका अर्थ है — धर्म-सम्बन्धी अनावश्यक पुरुषार्थको मन्द करना। (उदा० आतिथ्यके नामपर मेज़बानियाँ या पात्रापात्रका खयाल किये बिना दान-दक्षिणा देना), अनुचित रूढ धर्मोंका त्याग करना और अुससे अुत्पन्न असुविधाओंको सहन करना (जैसे, अस्पृश्यता, जात-पाँतके विविध भेद, अित्यादि), और धर्माचरणके फल छोड़ देना (जैसे कि मान, यश, धन, सुख, अित्यादि)।

परन्तु जगत्‌की दृष्टिसे अूपर तीसरी, पाँचवीं और सातवीं धारामें बताये मुताबिक़ अिस पुरुषार्थका फल मिले, अैसा हेतु अुसमें स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे नत्थी होना चाहिअे। अगर अैसा न हो, तो समझना चाहिअे कि अिस पुरुषार्थके प्रयत्नमें ज़रूर कहीं कोअी भूल हो रही है।

अिस तरह तीन पुरुषार्थोंके सिलसिलेमें नहीं, परन्तु अपने स्वतंत्र क्षेत्रमें ज्ञान-पुरुषार्थका विचार करना अिस पुस्तकका प्रयोजन है। ज्ञानके पुरुषार्थीको ज्ञानकी खोजके प्रयत्न और ज्ञानकी प्राप्तिसे जितना समाधान मिल सकता है, वही अुसका अपना सुख है। परन्तु जगत्‌की दृष्टिसे वह पुरुषार्थ अुचित दिशामें चल रहा है या नहीं, अुसे जाँचनेके लिअे यह ज़रूरी है कि वह प्रयत्न धर्मका निश्चय या अनुसरण करनेमें और अुसके द्वारा अर्थ और सुखकी सिद्धिमें सहायक होना चाहिअे। अिस सिद्धान्तको ज्ञानके पुरुषार्थका होकायंत्र माना जाय। अिसका अन्तिम फल है — आत्मतत्त्व अथवा ब्रह्मतत्त्वको शोधकर अपनी निरालम्ब सत्ताको देखना।

अिन मर्यादाओंको ध्यानमें रखते हुअे ज्ञानके स्वतंत्र क्षेत्रमें अितनी बातोंका समावेश होता है: —व्यक्ति और विश्वका सम्बन्ध; चित्तके स्वरूप, शक्ति, बुद्धि, भावना, विचार आदिकी परीक्षा और अुन सबके विकास-क्रमके मेलके नियमोंका शोधन।

चित्तका महत्त्व प्रत्येक क्षेत्रमें होनेसे अुसको प्रधान मानकर मैंने अिस पुस्तकके नीचे लिखे अनुसार विभाग किये हैं —

(१) परमात्मा-शोधनके साथ अदृश्यका तथा अुपासना और भक्ति का विचार।

(२) सांख्य और वेदान्तके साथ दृश्य-विचार।

(३) योग-दर्शन और चित्त-स्वरूप-शोधन।

(४) आध्यात्मिक विचारोंमें होती हुअी भूलें।

ज्ञानके अन्तिम फलको मोक्ष-प्राप्ति कहा है; परन्तु अिससे अुत्पन्न भ्रम और गड़बड़को दूर करनेके लिअे अब आगे मैं अिसे श्रेयः-प्राप्ति कहूँगा, और मुमुक्षुकी जगह श्रेयार्थी, साधक, शोधक या जिज्ञासु शब्दका प्रयोग करूँगा।

३

श्रेयार्थीकी साधन-सम्पत्ति

जो व्यक्ति 'ज्ञान' पुरुषार्थकी साधना करना चाहता है, अुसमें किन-किन गुणोंका कितना अुत्कर्ष चाहिअे, और अुसमें दूसरी क्या-क्या विशेषता होनी चाहिअे, अिसका विचार कर लेना अुचित होगा।

(१) **सत्याग्रह** — अिसमें पहली महत्त्वकी बात है सत्य-विषयक आग्रह। यहाँ अिस शब्दका राजनीतिक अर्थ न लिया जाय, बल्कि यह समझा जाय कि सत्याग्रह यानी अपने आचार और विचारके प्रत्येक विषयमें अुसी बातका स्वीकार करनेकी तैयारी या हिम्मत, जो तात्त्विक रीतिसे और सबके हितकी दृष्टिसे अुचित हो — फिर अिसके लिअे लोग चाहे निन्दा करें या स्तुति, कोअी खुश हो या नाराज़, वह हमारे पूर्व संस्कारोंका पोषक मालूम हो या अुन्हें आघात पहुँचानेवाला, रमणीय प्रतीत हो या कठोर, आनन्दजनक हो या निरानन्द, आसान हो या मुश्किल। अिन सब परिणामोंके प्रति अुसका तटस्थ भाव होना चाहिअे। 'सत्यको पहला स्थान दिया जाय या दूसरा, अिसमें ज़मीन-आसमानका अन्तर है'।

(२) **व्याकुलता** — दूसरी महत्त्वकी आवश्यकता है 'व्याकुलता'की। चाहे अीश्वर-प्राप्ति कहो, चाहे सत्य-शोधन कहो, व्याकुलता ही दोनोंका साधन है। यों तो योगादि मार्ग, पूजा, जप, आदि सब साधनोंका अुपयोग है। परन्तु व्याकुलताके बिना सब निष्फल हैं। और अन्तमें भी साधक जब यह जाँचने लगता है कि किस साधनका मेरे लिअे कितना अुपयोग हुआ, तो वह 'व्याकुलता' के सिवा दूसरे किसी साधनपर निश्चित रूपसे अँगुली नहीं रख सकेगा। भक्ति-मार्गी जिसे 'आतुरता' कहते हैं, योग-मार्गी जिसे 'तीव्र संवेग' कहते हैं, अुसीको यहाँ 'व्याकुलता' कहा है।

अीश्वरके प्रति अत्यन्त अनुरागके कारण अथवा अैसी तीव्र मनो-व्यथाके कारण कि जीवनके विषयमें जो कुछ सत्य हो वही जानूँ, वही

समझूँ, दूसरा कुछ नहीं, संकल्पके प्रति जो अेकाग्रता होती है, वही 'व्याकुलता' है। अीश्वरके प्रति अनुरागका अर्थ है — यह निष्ठा कि अीश्वर ही अन्तिम अिष्ट वस्तु है। अीश्वरके मिल जानेसे अनेक सिद्धियाँ मिलेंगी, शक्तियाँ बढ़ेंगी, लोगोंका भला किया जा सकेगा, आदि हेतु गुप्त हों, तो वह अीश्वर-अनुराग नहीं। यही बात सत्यकी जिज्ञासाके विषयमें भी समझनी चाहिअे।

(३) **प्रेम** — तीसरी महत्त्वकी बात प्रेम है। यहाँ मैं अीश्वर-विषयक प्रेमकी बात नहीं करता; बल्कि आम तौरपर जन और जगत्के प्रति निःस्वार्थ प्रेमल भावनासे मतलब है। जहाँतक अपने निजसे सम्बन्ध है, अपने शत्रुके प्रति भी अनुकम्पायुक्त क्षमा। हृदय कोमल भावोंसे भीगा, शुष्क नहीं।

(४) **शिष्यता** — यह चौथी महत्त्वकी वस्तु है। छोटे जीव-जन्तुसे लेकर बड़े-से-बड़े विद्वान् मनुष्यतकसे जो कुछ जाना जा सकता है, अुसे शिष्यभावसे सीख लेनेकी वृत्ति न होनेसे ही अक्सर हमारे नज़दीक पड़ा हुआ ज्ञान दूर चला जाता है। कितनीं ही बार अैसा होता है कि मनुष्य जिस बातको खोजता है, वह अुसे घरमें, नौकरोंसे, मित्रोंसे या अप्रसिद्ध लोगोंसे मिल सकती है। परन्तु होता यह है कि हम अक्सर 'शूद्र, यह तो कलका छोकरा है', 'यह तो अपना आश्रित है,' 'अिसे — ठीक है — हम जानते हैं', 'यह तो संस्कृतका अेक अक्षर भी नहीं जानता', 'यह पश्चिमी तत्त्व-ज्ञानसे अछूता है,'— आदि प्रकारके गुप्त या प्रकट भावोंके कारण, अिनके स्पष्ट रूपसे समझानेपर भी, अैसे कअी लोगोंकी अवगणना करते हैं, और दूसरोंकी तलाशमें रहते हैं। फिर, मनुष्यकी अपेक्षा पुस्तकका महत्त्व अधिक माना जाता है। यह अशिष्यत्व है।

शिष्यताका अर्थ यह नहीं है कि जिससे हम कुछ पाते हैं, हमेशा अुसकी चरण-सेवा ही करनी पड़े। और यह बात भी नहीं है कि वह तभी ज्ञान दे सकता है, जब स्वयं सब तरहसे पूर्ण हो, अथवा सीखने या जाननेवालेसे अधिक पूर्ण हो। अैसा भी हो सकता है कि और तरहसे गुणवान न होते हुअे भी कोअी अेकाध अैसी विशेषता अुसमें हो, जो मानने और पूजने योग्य हो। शिष्यत्वका अर्थ है, अुस विशिष्टताका

ग्रहण और अुसे देनेवालेके प्रति कृतज्ञता। अब यह दूसरी बात है कि अिस कृतज्ञतामेंसे सेवाका जन्म हो।

(५) **निर्मत्सरता** — किसीकी विशेषताको देखकर अुसके प्रति आदर प्रतीत होनेके बदले औीर्ष्या अुत्पन्न होना और अुसकी त्रुटियाँ खोजनेकी ओर दृष्टि जाना, अथवा दूसरे लोग अुसके प्रति आदर प्रदर्शित करें या अुसकी प्रशंसा करें, तो अुससे जल-भुन जाना। अैसे व्यक्तिमें श्रेयार्थीकी योग्यता आना सम्भव नहीं।

(६) **वैराग्य** — यह छठा महत्त्वपूर्ण गुण है। अिसके विषयमें बहुत-कुछ गलतफ़हमी फैली हुअी है। अिसका सविस्तर स्पष्टीकरण वैराग्य-प्रकरणमें किया गया है। यहाँ वैराग्यमें मैं ब्रह्मचर्य, आवश्यक अुपभोगोंमें सादगी, मितव्यय, मनोनिग्रह और संयमके प्रति स्वाभाविक झुकावका समावेश करता हूँ। किन्तु मैं अुसका अर्थ, अव्यवस्थितता अथवा दक्षताके प्रति दुर्लक्ष्य, जगत् या प्राणियों अथवा पुरुष या स्त्री-जातिके प्रति तिरस्कार, नहीं करता। पर वैराग्यमें मैं दुनियाकी वाह-वाह, विभूतियों, अद्‌भुत शक्तियों और रसिकताके प्रति अुदासीनताका समावेश करता हूँ। किन्तु अपने कर्मोंमें कुशलता प्राप्त करनेके प्रति या कर्त्तव्योंके प्रति अुदासीन रहना मैं वैराग्यका लक्षण नहीं मानता।

(७) **सावधानता** — अथवा जागरूकता, यह सातवाँ महत्त्वका गुण है। अिसका अर्थ है, हम जो कुछ सोचें, विचारें, बोलें और करें, अुसका निश्चित और स्पष्ट भान।

ये महत्त्वके गुण हैं। अिनके पेटमें आवश्यक श्रद्धा, स्वावलम्बन, स्वाभिमान, साहस, निडरता, अुत्साह, नम्रता, धीरज, न्यायशीलता, अन्यायके प्रति अरुचि, परमत-सहिष्णुता, सदाचार और शौचके लिअे आग्रह, दूसरोंका जी दुखाकर भी अुनको अपने मतके अनुसार चलानेके विषयमें निराग्रह, विचार-पूर्वक आचरण, आदि गुणोंका समावेश होता है।

नीरोगिता प्रयत्न-पूर्वक प्राप्त करने-जैसी सम्पत्ति है। शरीरबल हानिकर नहीं है।

श्रेयार्थीके लिअे अितनी साधन-सम्पत्ति अुचित मानी जा सकती है।

४

धर्ममय जीवनके सिद्धान्त

श्रेयार्थीकी साधन-सम्पत्तिके रूपमें कअी गुणोंका वर्णन पिछले परिच्छेदमें किया गया है; परन्तु यह कहनेकी शायद ही ज़रूरत है कि वास्तवमें तो श्रेयार्थीका सारा जीवन ही धर्ममय होना चाहिये। अतअेव यह विचार करना ज़रूरी है कि 'धर्ममय'का अर्थ क्या है। अिसके सम्बन्धमें कुछ सिद्धान्त यहाँ अुपस्थित किये जाते हैं।

जब कोअी विचारधारा हमारे सामने पेश की जाती है, तब हम कैसे जानें कि वह तात्त्विक है या तत्त्वाभासी? अिसकी अेक कसौटी यह बताअी जा सकती है कि अुस मार्गके मूलमें अधिक सत्य पाया जाता है, जिसे चाहे अेक व्यक्ति स्वीकार करे या सब लोग, और चाहे आज करे या भविष्यमें, अुससे व्यक्ति और समाजमेंसे किसीके धारण-पोषण और सत्व-संशुद्धिका विरोध न होगा। अितना ही नहीं, बल्कि ज्यों-ज्यों अुसका स्वीकार अधिकाधिक किया जायगा, त्यों-त्यों व्यक्ति और समाजके धारण-पोषण और सत्व-संशुद्धि अधिक सरल और सन्तोषजनक होंगे। अिसके विपरीत, जिस मार्गपर सभी चल पड़ें, तो समाजकी स्थिति अशक्य हो जाय, यदि थोड़े लोग चलें, तो वे समाजके अन्य भागोंकी क़ुरबानीपर ही अधिक सुख पा सकें, अथवा अुसपर चलनेवाले अपनेको अैसी स्थितिमें पावें कि जिसमें अुन्हें अपने धारण-पोषण वग़ैराके लिअे हमेशा समाजके दूसरे भागपर आधार रखकर ही रहना पड़े, तो समझना चाहिअे कि अुस मार्गका प्रतिपादन करनेवाली विचार-धारामें कहीं-न-कहीं भूल ज़रूर है। यदि हम अिस कसौटीपर हमारे सामने लाये गये किसी जीवन-सिद्धान्तको कसेंगे, तो मैं समझता हूँ कि बहुत करके अुसका सच्चा कस निकल आवेगा।

अिस कसौटीको सामने रखकर, जीवनका सच्चा सिद्धान्त क्या होना चाहिअे, अिस सम्बन्धमें मैं अपने विचार पेश करता हूँ।

व्यक्ति और समाज दोनोंका जीवन अैसे तत्त्वोंपर रचा जाना चाहिअे, जिनसे हमारे जीवनका धारण-पोषण और हमारी सत्त्व-संशुद्धि, तथा हमारा जीवन-काल और मरण-काल सरल और संतोषकारक हो।

धारण-पोषणका अर्थ केवल अितना ही नहीं कि महज़ प्राण शरीरमें टिके रहें। बल्कि, धारणका अर्थ है सुरक्षित और आत्म-रक्षित जीवन, और पोषणका अर्थ है नीरोगी और अपने जीवन-कार्योंको करनेका सामर्थ्य रखनेवाला और दीर्घायु हो सकनेवाला जीवन, और सत्त्व-संशुद्धिका अर्थ है मनुष्यतासे पूर्ण जीवन। अैसे जीवनमें हमारी भावनाओंका और बुद्धिका विकास अिस तरह होना चाहिअे, जिससे हमारा जीवन केवल अपनेमें समाया हुआ — आत्मपर्याप्त — ही न हो, स्व-सुखको ही खोजता न हो; बल्कि अपने कुटुम्ब, गाँव, देश, मानव-समाज, हमारे सम्बन्धमें आनेवाले प्राणी, तथा दूसरे भी जिनके सम्पर्कमें हम जितनी हदतक आयें, अुतनी हदतक हमारा जीवन अुनके लिअे न्याय-मार्गसे, परस्पर सम्बन्धोंकी अुचित मात्रा और परिस्थिति अनुसार पैदा हुअी महत्ताकी रक्षा करते हुअे, अुपयोगी, शान्तिदायी, सन्तोषपूर्ण और प्रेमयुक्त हो; जिसमें किसी व्यक्ति या वर्गके साथ अन्याय न होता हो; जिसमें विपत्तिग्रस्तोंको स्वाश्रयी करनेवाली और अपंग व असहायोंको अुचित मदद मिलती हो; और जिसमें हमारी बुद्धिका विकास अितना हुआ हो कि वह यथासम्भव जीवनका तत्त्व समझ सके, सार ग्रहण कर सके, किसी भी विषयके मूलको, महत्त्वको और मर्यादाको सोच सके, अपने ही निर्मित पूर्वग्रहोंके बन्धनोंसे यथासम्भव मुक्त हो, और जो न मरणको चाहती हो, न अुससे डरती हो।

यहाँ यह बात महत्त्वकी नहीं है कि सारे समाजकी अैसी स्थिति कभी होगी या नहीं; बल्कि यह कि हमारे जीवनमार्गकी योजना अैसी हो जो — यदि सारा समाज अुसे मान ले, तो समाजको, और नहीं तो — ख़ुद हमको अिस स्थितिकी ओर ले जाय।

अिसे मैं जीवनका ध्येय मानता हूँ, मनुष्यका अभ्युदय समझता हूँ; जितनी विद्या, कला, विज्ञान और जीवनके रस और भावनायें हमें अिस ध्येयकी ओर ले जाती हों, अुन्हें आवश्यक मानना चाहिअे। जिन प्रामियोंका अिस ध्येयके साथ आवश्यक सम्बन्ध नहीं है, फिर भी जो अिस ध्येयकी

विरोधक न हों, या जिनका विकास अिस तरह किया जा सकता हो कि वे अुसके लिअे अुपयोगी हो सकें, तो अुनका अुतना विकास अुचित समझा जाय। दूसरी तमाम प्रवृत्तियाँ* अनावश्यक और परिणाममें हानिकर समझनी चाहिअें।

जो प्रवृत्ति अिस ध्येयको नहीं छोड़ती, नहीं भूलती, वही धर्म-मार्ग है। मार्गके मानी हमें ध्येयके प्रति पहुँचाकर खतम हो जानेवाली कोअी सीधी लकीर नहीं। वह मुझे ग्रहोंके परिक्रमण मार्गकी तरह ध्येयकी प्रदक्षिणा करता हुआ धीरे-धीरे अुसतक पहुँचानेवाला प्रतीत होता है। जिस प्रकार यह डर रहता है कि यदि सूर्य प्रतिक्षण अपने आकर्षणका प्रयोग न करे, तो ग्रह प्रतिक्षण सीधी लकीरमें दूर ही दूर भागते जायँगे, अुसी प्रकार हमारी कोअी भी प्रवृत्ति यदि ध्येयको भूल जाय, तो अुसके जीवनके ध्येयसे क्षण-क्षण दूर ही दूर हटते जानेकी आशंका रहेगी।

हमारे कर्म — हमारा जीवन — कितनी ही बातोंमें अिस ध्येय-सूर्यसे बुधके बराबर नज़दीक होंगे, कअी नेपच्यून-जैसे दूर पड़े होंगे, तो कअी धूमकेतुकी तरह अनिश्चित होंगे। अैसी दशामें हमारा प्रयत्न यह होना चाहिअे कि हम अिन सबको व्यवस्थित बना सकें, अिनमें यथासम्भव मेल बैठा सकें। अलबत्ता, यह नहीं कि अैसा सब मेल अेक ही पीढ़ीमें बैठ सकेगा। पर यह असम्भव नहीं कि कोअी व्यक्ति कम-से-कम अपने जीवनके लिअे तो पूरा मेल बैठा ले; पर अैसा भी हो सकता है कि कअी व्यक्ति अपने पूर्वजीवनमें हुअी भूलोंके कारण शेष जीवनके लिअे पूरा मेल न बैठा सकें; परन्तु प्रत्येक व्यक्तिको अिस बातका अचूक अनुभव हो सकता है कि अैसे मेलकी ओर अुसकी निश्चित प्रगति हुअी है। अर्थात्, यह किसी गन्धर्व-नगर (utopia) को पानेका प्रयत्न नहीं है; बल्कि मैं मानता हूँ कि अगर हम चाहें, तो अुसे व्यवहारमें भी ला सकते हैं।

अिस दृष्टिसे देखते हुअे मैं मानता हूँ कि चाहे पुरुष हो या स्त्री, हरअेकको अपना शरीर नीरोग बनाने और रखनेकी, अुसकी गठन

---

* अिस पुस्तकमें 'प्रवृत्ति' शब्दको अुसके गुजराती अर्थमें समझना चाहिअे। यानी, कोअी भी स्थूल या सूक्ष्म कर्माचरण (activity)। हिन्दीमें जिस अर्थमें अिस शब्दका प्रयोग होता है, अुसके लिअे गुजरातीमें वृत्ति या प्रेरणा शब्द बरता जाता है।

मज़बूत करनेकी, और अुसे अिस तरह साधनेकी आवश्यकता है कि जिससे वह परिश्रम सहन कर सके, और अपनी रक्षा भी कर सके। नीरोगी और सुगठित गठन और विकसित स्नायु शरीरको जितना सहज सौन्दर्य दे सकें, अुसे मैं सदोष नहीं, बल्कि स्वागत-योग्य समझता हूँ; और मानता हूँ कि अैसे सौन्दर्यमें जितनी कसर है, अुतनी ही हमारे जीवनमें अपूर्णता है। जो कुछ खान-पान, पहनावा, स्वच्छता और सुघड़ता अिसके अनुकूल हो, वह सब मैं स्वागताई समझता हूँ; पर किसी खास फ़ैशनके खान-पान, वेश-भूषा और नज़ाकती शोभा-शृंगारको मैं आवश्यक नहीं समझता।

अुसी तरह समाजकी अैसी परिस्थिति होनी चाहिअे, जिससे प्रत्येक व्यक्तिको अितना धारण-पोषण मिले कि वह दीर्घायुषी हो सके, अुसका जानो-माल सुरक्षित रह सके, अुसे समाज-हितके अविरोधी ढंगसे और समाजका भी हित जिसमें हो, अुस रीतिसे अपने जीवनको बनानेकी स्वतंत्रता और अनुकूलता मिले, न्यायोचित मात्रामें किये गये परिश्रमके अन्तमें अुसे अितना अन्न-वस्त्र और अैसा घर मिल जाय जिससे अुसकी शक्ति संगठित या संचित रहे, वह अपने घर आये अतिथिका सत्कार कर सके, और परिश्रमशील दिवसके अन्तमें और जीवनकी पिछली अवस्थामें आरामसे रह सके। जिस अंशतक अैसी परिस्थिति नहीं है, अुस अंशतक पोषण अपूर्ण है। अैसे पोषणके अनुकूल समाज-रचना, ग्राम-रचना, शासन-विधान, अुद्योग-धन्धों और यन्त्रोंका विकास, देश-रक्षाके साधन, आदि अुचित और स्वागत-योग्य हैं। परन्तु मैं नहीं मानता कि बड़े-बड़े नगर, शाही वैभव, गाड़ी, घोड़ा, मोटर, विमान, बाग-बँगला, शोभाके साजो-सामान, राज-रजवाड़ा, नाच-तमाशा, मौज-मज़ा, अैश-आराम, या मृत्युके बाद सुन्दर समाधि या क़ब्रें बनानेकी अनुकूलता समाज या व्यक्तिके अभ्युदयके लिअे आवश्यक है।

जिस व्यक्ति, वर्ग या समाजको अिस प्रकारका धारण-पोषण नहीं मिलता, अुसे अपने समाज और राज्यमें अैसे परिवर्तन करानेका अधिकार है, जिससे अुनके मिलने योग्य परिस्थिति पैदा हो। बल्कि अैसा करना समझदार लोगोंका फ़र्ज़ ही है। और अिस फ़र्ज़को अदा करनेका नाम ही 'धर्म'कि

लिअे पुरुषार्थ है। अपनी तथा समाजकी सत्व-संशुद्धिके लिअे यह आवश्यक ही है। अिस प्रकारका धारण-पोषण प्राप्त करने योग्य पुरुषार्थ जो व्यक्ति या वर्ग न कर सके अुसकी सत्व-संशुद्धि अुसी अंशतक अधूरी रहेगी। किन्तु साथ ही, परिश्रम करनेसे अैसे धारण-पोषणके ठीक तौरसे हो जाने योग्य अनुकूलताके अलावा और भी अधिक सुविधाओं, सुखोपभोगों और आरामोंकी लालसा रखना भी सत्व-संशुद्धिमें बाधक है। अैसी अतिरिक्त सुविधाओं, सुखोपभोगों या आरामोंमेंसे जो कला, साहित्य, आदि निर्माण होते हैं, वे अधिकांशमें चरित्र-विनाशक अथवा जीवनसे सम्बन्ध न रखनेवाले विषयोंमें डूबे हुअे होंगे।

अूपर कहा गया है कि धारण-पोषण और सत्व-संशुद्धि व्यक्ति और समाजके अभ्युदयके लिअे आवश्यक है। परन्तु यह याद रखना चाहिअे कि अिसमें धारण-पोषणका महत्त्व सत्व-संशुद्धिकी अपेक्षा विशेष मर्यादित है। अर्थात्, धारण-पोषण सत्व-संशुद्धिका अेक साधन है और अितना ही अुसका अुपयोग है। किन्तु अिसका अर्थ यह नहीं कि सत्व-संशुद्धिके अन्तमें मनुष्य अपने जीवनके धारण और पोषणको छोड़ दे या घटा दे, या वह जान-बूझकर अथवा अकारण अुसके प्रति लापरवाह हो जाय। पर अेक अैसी स्थिति आ सकती है, जिसके बाद वह अिन दोनोंके प्रति अुदासीन हो जाय। 'येन केन प्रकारेण' अिन्हें प्राप्त करनेका आग्रह न रक्खे। यदि ये प्राप्त न हो सकें अथवा समाज या व्यक्तिकी आपत्तिके अवसरपर अिनका त्याग करना पड़े, तो वह राज़ी-.खुशीसे करेगा।

हम चाहे ब्रह्मनिष्ठ हों या न हों, पर अितना अनुभव तो हम सबको है कि अपनी देहकी अपेक्षा चित्तके प्रति हमें अधिक आत्म-भाव लगता है। देह-सम्बन्धी आत्म-भाव भी हमें चित्तके द्वारा ही है। यदि चित्त न हो, तो हमें न देहका ही भान हो, न अभिमान रहे, और न अुसके सुख-दुःखकी चिन्ता रहे। अर्थात् देहकी अपेक्षा अपना चित्त ही हमें अधिक अपना मालूम होता है। यह अनुभव निश्चित रूपसे सबको होता है। अतअेव यदि हमारी विचार-शक्ति थोड़ी भी जाग्रत हो, तो हम

देहकी रक्षा और शुद्धि-वृद्धिकी अपेक्षा अपने चित्तकी रक्षा और शुद्धि-वृद्धिका ज्यादा आग्रह रखेंगे। देहकी रक्षा और शुद्धि-वृद्धि चित्तके लिअे है। चित्तकी रक्षा और शुद्धि-वृद्धिको छोड़नेसे यदि देहकी रक्षा और शुद्धि-वृद्धि हो सकती हो, तो देहको छोड़नेकी वृत्ति प्रबल होनी चाहिअे। अिसी वृत्तिको हम स्वाभिमान, टेक, साख, पानी, तेज, आदि नामोंसे पहचानते हैं। अुचित स्वाभिमानकी रक्षाको ही सत्व-रक्षा कहते हैं। सत्वका अर्थ है, शुद्ध और अभ्युदित चित्त और शुद्ध व अभ्युदित बुद्धि। चित्तका अर्थ यहाँ भावनायें है। जो व्यक्ति या राष्ट्र अपना धारण-पोषण नहीं कर सकता, वह न अपनी सत्व-रक्षा कर सकता है, और न अुसकी शुद्धि-वृद्धि ही। अुसी प्रकार जो व्यक्ति या राष्ट्र देहके धारण और पोषणको अुचितसे अधिक महत्त्व देता है, वह भी सत्व-रक्षा नहीं कर सकता। अतअेव सत्वको केन्द्र मानकर व्यक्ति और समाजकी धारण-पोषण-सम्बन्धी प्रवृत्तियोंकी परिक्रमा होती रहनी चाहिअे।

यह सत्व (चित्त और बुद्धि) क्या पदार्थ है, अिसकी झंझटमें हम यहाँ नहीं पड़ेंगे। हाँ, अिसकी कुछ खासियत हम जरूर जान सकते हैं। जिस तरह दीपककी ज्योति अुसकी बत्तीमें ही समायी हुअी है, फिर भी अुसके प्रकाशका क्षेत्र व्यापक है; जैसे पृथ्वीका गोला आकाशके अेक मर्यादित भागमें ही रहता है, परन्तु अुसका गुरुत्वाकर्षण अधिक व्यापक क्षेत्रमें फैला हुआ है, अुसी प्रकार हमारा सत्व यद्यपि हमारे शरीर जितनी जगहमें ही बसा हुआ दिखाअी देता है, फिर भी अुसकी शक्ति अुसके बाहर भी फैली हुअी है। हमारे अिस सत्वमें और जगत्के सजीव–निर्जीव पदार्थोंमें आकर्षण–अपकर्षण आदि व्यवहार या क्रिया होती रहती है। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिकी रक्षा और अुसकी शुद्धि-वृद्धिपर अुसके प्रकाशके विस्तार और तेजस्विताका आधार है, जिस प्रकार पृथ्वीकी सघनता (specific gravity) की रक्षा और शुद्धि–वृद्धिपर गुरुत्वाकर्षणका बल और व्याप्ति अवलम्बित है, अुसी प्रकार सत्वकी रक्षा और शुद्धि–वृद्धिपर हमारा और जगत्का सम्बन्ध अवलम्बित है; अुसीपर हमारी और जगत्की शान्ति, प्रसन्नता और जीवनके मेल (harmony) का आधार है; अुसीपर सर्व

ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः — सब बन्धनोंसे छुटकारा, परम आत्म-विश्वास, परम आत्म-श्रद्धाका आधार है। अैसा परिणाम ला सकनेवाली सत्वकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धिको मैं सत्व-संशुद्धि कहता हूँ।

यह सत्व-संशुद्धि संयम और चित्तके नियमनके बिना असम्भव है। संयमसे यहाँ मेरा मतलब व्रत, तप आदिसे नहीं है। यहाँ मैं अुनका विचार करना नहीं चाहता। यहाँ तो संयमका अर्थ 'स्व-नियमन' है। संसारके किसी जीव या वस्तुको देखते ही या अुसके बारेमें कुछ सुनते ही हमारे मनमें जो भाव अुत्पन्न होता है या हमारी जो राय बन जाती है, अुसीसे बेक़ाबू होकर वह जिधर ले जाय अुधर चले जाना, असंयम है। अिसके विपरीत अुस भावना और मतके वेगको रोककर अुसकी छान-बीन करना, अुसकी योग्यायोग्यताका विचार करना, अुस प्राणी या वस्तुका अधिक परीक्षण करना, अुसके आसपासके सम्बन्धों और अपनी परिस्थितिका परीक्षण करना, 'संयम' अथवा 'स्व-नियमन' है। यों, अिस सारी क्रियामें देरी करने अथवा दीर्घ-सूत्रतासे काम लेनेका आभास दिखाअी देगा; परन्तु अुस भावना और मतसे बेक़ाबू होकर झट कुछ कर डालना जितना आसान मालूम होता है, अभ्याससे अुस भावना और मतका परीक्षण करनेके बाद आचरण करना भी अुतना ही स्वाभाविक हो सकता है। अगर हम अिस प्रकारका स्व-नियमन न साध सकें, तो फिर सत्व-रक्षा भी कैसे हो सकती है? पल-पलमें जगत्के दूसरे पदार्थ और सत्व बिना पाल और पतवारके जहाज़की तरह हमारी वृत्तियोंको अिधरसे अुधर झकझोर डालें, किसी भी स्थानपर हम स्थिर न रह सकें, आज अेकके विचार सुनकर बहक गये, तो कल दूसरेकी बात सुनकर अुसके पीछे चल पड़े, आज अेक पदार्थ या प्राणीको देखकर अुसकी तरफ़ आकर्षित हो गये और अुसके पीछे चल पड़े, कल दूसरेको देखकर अुसके पीछे पागल हो गये, आज पश्चिमी संस्कृतिकी मोहक भव्यता हमको चकाचौंध कर देती है, तो कल आर्य-संस्कृतिकी प्राचीन भव्यता हमें चकित कर देती है — अिन दोनों बातोंमें सत्व-रक्षा नहीं है। अतअेव बिना स्व-नियमनके, बिना अिस प्रकारके संयमके, सत्व-रक्षा असम्भव है।

और, अिस सत्वकी शुद्धि-वृद्धि गीताके १६वें अध्यायमें वर्णित दैवी सम्पत्तियों * के अुत्कर्षके बिना असम्भव है। फिर विचार करनेसे जान पड़ेगा कि अिन गुणोंके विकासके बिना किसीभी व्यक्ति या राष्ट्र का निर्वाह और सत्व-रक्षा निर्विघ्न और संतोषजनक ढंगसे होना असम्भव है। अिनको जो दैवी सम्पत्ति कहा गया है, सो तो केवल आसुरी सम्पत्तिसे अिनका विरोध बतानेके लिअे ही। सच पूछो तो अिन्हींमें मनुष्यता है, और अिनको मानवी सम्पत्ति ही कहना चाहिअे।

यदि हममें न्याय-वृत्ति, प्रेम, अुदारता, दया, करुणा, परस्पर आदर, क्षमा, तेजस्विता, नम्रता, निर्भयता, परोपकारिता, व्यवस्थितता, लज्जा, धैर्य, बाह्य और अभ्यन्तर पवित्रता, स्वच्छता, आदि गुणोंका विवेकयुक्त मेल न हो, तो कोअी भी समाज क़ायम नहीं रह सकता, फिर अुसके अभ्युदयकी तो बात ही क्या? और, यदि समाज क़ायम नहीं रह सकता, तो लम्बे हिसाबसे, व्यक्ति भी नहीं रह सकता — निर्विघ्न, सन्तोषजनक और निर्भय जीवन नहीं बिता सकता, कोअी अुचित स्वतंत्रता नहीं भोग सकता। अिन गुणोंके अुत्कर्षके बिना स्वतंत्र बुद्धिका — आत्म-विश्वास, आत्म-श्रद्धा पैदा करनेवाली बुद्धिका — अुदय भी अशक्य दिखाअी देता है। क्योंकि जबतक कोअी भी वस्तु हमारे चित्तको बेक़ाबू कर सकती है, अुस सत्वको अरक्षित कर सकती है, तबतक बुद्धिका दो-चार परम्परागत रटोंमें ही चले बिना छुटकारा नहीं।

सत्व-रक्षाके लिअे तो अिन मानव-गुणोंमें से किसी अेकका भी अुत्कर्ष परम आवश्यक है, परन्तु सत्वकी शुद्धि और वृद्धिके लिअे अिनमें से अनेक गुणोंका अुत्कर्ष आवश्यक है। अिन श्लोकोंमें गुणोंके जितने नाम गिनाये गये हैं, अुन्हें पूरा न समझना चाहिअे, और यह भी सम्भव है कि कअी नामोंसे अेक ही गुणका परिचय होता हो, और अिनमें से कोअी गुण दूसरोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्वके हों। किन्तु यह

* "निर्भयत्व, मनःशुद्धि, व्यवस्था ज्ञान-योगमें। यज्ञ, निग्रह, दातृत्व, स्वाध्याय, ऋजुता, तप। अहिंसा, शान्ति, अक्रोध, अनिन्दा, त्याग, सत्यता। प्राणि-दया, अलुब्धत्व, मर्यादा, स्थैर्य, मार्दव। पवित्रता, क्षमा, तेज, धैर्य, अद्रोह, नम्रता— ये अुसके गुण जो आता दैवी सम्पत्ति लेकर॥" गीता अ० १६, श्लोक १ से ३।

निश्चित है कि अैसे अनेक गुणोंके अुत्कर्ष और यथायोग्य मेल (harmony) से ही व्यवहारके अवसरपर विवेकयुक्त आचरण हो सकता है।

अिस प्रकार संयम, मानव-सम्पत्तियोंका अुत्कर्ष और अुनके मेल, अुनके फल-स्वरूप विवेक और तत्त्व-ज्ञानका अुदय और अुसके परिणाम-स्वरूप जीवन या मरणकी लालसा या भयका नाश — अैसी सत्व-संशुद्धिको जीवनका ध्येय, जीवनका सिद्धान्त कह सकते हैं। जहाँतक हमारी विविध प्रकारकी प्रवृत्तियाँ, जीवनके अिस ध्येयसे अिधर-अुधर न खिसकें, अिसे भुला न दें, बल्कि अिसके नज़दीक आती जायँ — वहींतक समझना चाहिअे कि हमारी प्रवृत्तियाँ धर्म-मार्गमें हैं।

यह सहज ही दिखाअी दे सकता है कि अिस सत्व-संशुद्धिमें मानव-सम्पत्तियोंका अुत्कर्ष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अतः अब अुनके अुत्कर्षके साधनोंका विचार करना ज़रूरी है। थोड़ा ही विचार करनेसे मालूम होगा कि सत्य, न्याय, दया, प्रेम, आदि अनेक गुणोंका जन्म-स्थान और लालन-पालन कौटुम्बिक सम्बन्धोंमें होता है। कुटुम्ब अेक छोटे-से-छोटा और स्वाभाविक समाज है; परन्तु यहाँ कुटुम्ब शब्द ज़रा व्यापक अर्थमें लेना चाहिअे। अिसमें माता-पिता, भाअी-बहन, पति-पत्नी, गुरु, मित्र, अतिथि, नज़दीकके सगे-सम्बन्धी, पड़ोसी और साथी, अितनोंका समावेश होता है। साथियोंमें हमारे साझी, भागीदार, सेवक-वर्ग और पालतू जानवर भी आ जाते हैं। हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्तिके अितने सब कुटुम्बीजन न हों। परन्तु मनुष्यको अपने और समाजके अभ्युदयके लिअे जितने गुणोंकी आवश्यकता है, वे सब अिन कौटुम्बिक सम्बन्धोंके मेल-युक्त पालनमें आ जाते हैं। अिसलिअे कौटुम्बिक सम्बन्धोंका निर्वाह और पवित्रता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु अिसका यह अर्थ नहीं कि अपने कौटुम्बिक कर्तव्योंके पालनमें समाज-धर्मकी समाप्ति हो जाती है, बल्कि अिसका अर्थ तो यह है कि प्रेमभरे और पवित्र कौटुम्बिक सम्बन्धोंमें ये गुण पोषित होते हैं, और समाजमें हमें अिन्हीं गुणोंकी व्याप्ति और पराकाष्ठा करनी है।

संयममें ब्रह्मचर्य स्वाभाविक रूपसे आ जाता है।

यह समझानेकी ज़रूरत नहीं है कि सत्व-संशुद्धिकी पूर्णता ब्रह्मचर्यके बिना कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि जो भाव हमारे चित्तको अितना विवश कर सकता है कि अुसका नियमन सबसे अधिक कठिन मालूम होता है, जिसके पीछे सारी सृष्टि दीन बन जाती है, अुसका जय किये बिना यह कैसे कहा जा सकता है कि हमारा सत्व सुरक्षित है? अतअेव जो सत्व-संशुद्धिका आदर्श रखना चाहते हैं, अुन्हें आगे-पीछे ब्रह्मचर्यके रास्ते आना ही चाहिअे। ब्रह्मचर्यका महत्त्व समझानेके लिअे अितना काफ़ी है।

अखण्ड ब्रह्मचर्य निःसंशय मनुष्यकी मूल्यवान् सम्पत्ति है। परन्तु ब्रह्मचर्यके पथपर चलनेवाले कअी स्त्री-पुरुषोंके जीवनका निरीक्षण करनेसे प्रतीत होता है कि अिसमें दो शर्तोंकी ज़रूरत है। अेक — वह मार्ग स्वेच्छासे अङ्गीकृत होना चाहिअे, किसीकी ज़बरदस्तीसे नहीं। और दूसरे — मनुष्य भले ही ब्रह्मचारी हो, परन्तु अुसमें गृहस्थाश्रमके अथवा कुटुम्बोचित गुणोंका अुत्कर्ष होना चाहिअे, या अुनके लिअे अुसकी ओरसे सजग प्रयत्न होना चाहिअे।

यदि ये दो शर्तें न हों, तो ब्रह्मचर्यके बावजूद अुसकी सत्व-संशुद्धि रुक जाती है। जिसमें वात्सल्य, औदार्य, आतिथ्य और दूसरोंके लिअे कष्ट पानेकी वृत्ति हो, और अिसके बावजूद अपनेको अल्प माननेकी निरभिमानता आदि गृहस्थोचित गुणोंका अुत्कर्ष बचपनसे सहज ही हुआ हो, अथवा जो प्रयत्नसे अुनका अुत्कर्ष कर सके, अुसके लिअे अपना कोअी निजका कुटुम्ब बढ़ानेकी ज़रूरत न रहेगी, और अुसे ब्रह्मचर्य पालनेमें अतिशय प्रयास भी न करना पड़ेगा। जो लोग अपने ही बच्चोंके सिवा औरोंमें वात्सल्यका अनुभव न कर सकें, दूसरोंके लिअे कष्ट न अुठा सकें या अन्य गुणोंका विकास न कर सकें, वे ब्रह्मचर्यका पूरा लाभ नहीं अुठा सकते। अिस कारण अपने गुणोंका अुत्कर्ष करनेके लिअे यदि कोअी शुद्ध भावनासे विवाहित जीवनके कर्त्तव्योंका शुद्ध निष्ठाके साथ पालन करे, तो सम्भव है कि अैसे गुणोंसे हीन ब्रह्मचारीकी अपेक्षा वह अधिक अुन्नति कर ले। पर यह तो हुआ तात्त्विक विचार। व्यावहारिक समाज-हितकी दृष्टिसे अिन गुणोंका अुत्कर्ष हुआ हो या न हुआ हो, अेक खास अुम्रतक और खास-खास परिस्थितियोंमें, जैसे बीमारी,

प्रसवके आगे-पीछेका काल, और जबतक बालक दूध पीता हो, तबतक सबको ब्रह्मचर्यसे रहना ही चाहिअे। और, जो स्त्री या पुरुष सशक्त व नीरोगी न हों; और अपना तथा सन्ततिका धारण-पोषण करनेमें समर्थ न हों, अुन्हें तो जीवनभर ब्रह्मचर्य रखे बिना छुटकारा नहीं है। अैसी अवस्थामें भी जो शादी करते और करवाते हैं, वे दोनों, समाजको हानि पहुँचाते हैं।

जीवनके धारण-पोषणकी जो मर्यादायें और सत्व-संशुद्धिका जो आदर्श अूपर बताया है वह यदि मान लिया जाय, तो मैं समझता हूँ कि व्यक्तिके अभ्युदय और कुटुम्ब या समाज-सम्बन्धी अुसके कर्तव्य, तथा कौटुम्बिक कर्त्तव्य और सामाजिक कर्त्तव्य, अिन सबमें विरोध या धर्म-संकटके अवसर कम-से-कम आयेंगे। और, जब कभी वे आयेंगे, तो हमारी विवेक-बुद्धि अितनी जाग्रत हो चुकी होगी कि वह तुरन्त अुसमें से रास्ता बता सकेगी। परन्तु न तो हमने और न हमारे कुटुम्बियोंने और न समाजने अभी अिस ध्येयको स्वीकार किया है। और यही कारण है कि जगत्में आज किसी अेक भी राष्ट्रमें व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज या मनुष्य-जाति सन्तुष्ट और परस्पर मेल-युक्त जीवन बिताती हुआी दिखाअी नहीं देती। अैसी स्थितिमें जो लोग अिस आदर्शको स्वीकार करेंगे, अुन्हें समय-समयपर कुटुम्ब और समाजमें सत्याग्रहका भी अवलम्बन करना पड़ेगा।

श्रेयार्थी अपना निर्वाह तथा समाज-धर्मोंका पालन किस तरह करे, अिस विषयमें भी अेक दो बातें विचारने-जैसी हैं। निर्वाहके सम्बन्धमें गांधीजीने अेक बार अेक सज्जनको अेक बात समझाअी थी, वह यहाँ पेश करने लायक़ है —

यदि हमारे जीवनका आदर्श अैसा हो कि ३० करोड़मेंसे भले ही २५ करोड़ मर जायँ, और ५ करोड़ ख़ूब समृद्ध, बलवान् और प्रजाके नवनीत-जैसे बच रहें, और अिसीमें राष्ट्रका अधिक हित समझा जाय, तो फिर हमें सोच लेना चाहिअे कि ये ५ करोड़ भी टिक सकेंगे या नहीं। यह आदर्श ही अिस प्रकारका है कि जिसमें ज्यों-ज्यों नीचे की अेक-अेक सतह मरती जायगी, त्यों-त्यों अुसके अूपरकी सतहके मरनेकी बारी आती जायगी, और जो ५ करोड़ बाक़ी रहेंगे, वे गिनतीमें भले ही

५ करोड़ हों, परन्तु अिससे अुनको कुचलनेवाला बल कुछ कम हुआ न होगा। फिर, विदेशी राष्ट्रोंका दबाव तो रहेगा ही और बढ़ेगा ही। सोचनेसे हमें पता लगेगा कि बहुत समयसे हमारे जीवनका आदर्श अिस प्रकारका रहता चला आया है। हिन्दुस्तानमें तो अंग्रेज़ोंका भी यही आदर्श है। मैं समझता हूँ कि विजेताओंका आदर्श हमेशा असा ही रहता होगा, और हमारे देशमें तो लम्बे अरसेसे परचक्र ही अेक स्वाभाविक स्थिति हो बैठी है।

अिसको विस्तारसे समझानेकी ज़रूरत नहीं; किन्तु अिससे यह सार निकलता है कि यदि हम सबसे नीचेकी सतहको मटियामेट होने देने या उसके प्रति लापरवाह भी रहने की मनोवृत्ति स्वीकार करें, और अिस तरह निर्वाहका प्रश्न हल करना चाहें, तो अुससे हमारी श्रेय-साधना मलिन हो जायगी। अिसके विपरीत, यदि हम अैसी प्रणाली अख्तियार करें कि जिससे सबसे नीचेकी मानव-सतहका धारण-पोषण हो सके, तो वह मूलको सींचने-जैसा होगा, और अुसका लाभ ठेठ सिरेतक पहुँच जायगा। अिस विधिसे श्रेयार्थीको अपने निर्वाहका प्रश्न हल करना चाहिये।

यह विचार दूसरी तरहसे हमको सादगी, परिश्रम और संयमके जीवनकी तरफ़ ले जाता है। थोड़ी मेहनतसे .खूब कमा लेना और जवानीके थोड़े वर्ष .खूब अैश-आराममें बिता लेना, यह आदर्श सत्त्व-संशुद्धिका विरोधी है। अतअेव पूरी मेहनत करके सादा किन्तु नीरोगी और दीर्घायु बना सकनेवाले जीवनादर्शकी ओर हमें प्रवृत्त होना चाहिये।

अब सामाजिक कर्त्तव्योंके बारेमें अेक-दो बातोंका विचार कर लें। मनुष्य अेक समाज बनाकर क्यों रहता है? अुसके अिस प्रयोजनसे ही समाजके प्रति हमारे धर्मोंकी अुत्पत्ति हुआी है। अुनमें अेक प्रयोजन यह है:— कअी कर्म अैसे होते हैं कि यदि व्यक्ति अेकाकी हो, तो अुनका कोअी महत्त्व न रहे, अेकाकी जीवनमें अुनके बिना कोअी असुविधा न प्रतीत हो, और अुनका महत्त्व भी न हो, परन्तु समाजमें वे कर्म सबकी सुविधा बढ़ाते हैं या असुविधा दूर करते हैं और महत्त्वपूर्ण होते हैं। जैसे, हाट, बाज़ार अथवा पुल। कअी कर्म अैसे होते हैं कि जो व्यक्तिके लिअे भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, परन्तु अितने महान् होते हैं

कि संघ-बलके विना नहीं हो सकते। जैसे, देशकी रक्षा। और कअी कर्म अैसे भी होते हैं, जिनसे व्यक्तिको कोअी आकर्षक लाभ न हो, अेक-अेक व्यक्तिके कार्य या योग-दानका हिसाब अलग-अलग लगाया जाय, तो वह न-कुछ लगेगा, परन्तु अुससे समाजका महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा हो जाता है।

अुदाहरणार्थ हाथ-कताअी और खादीकी अुत्पत्ति अिस प्रकारका कर्म है, जिसमें वैयक्तिक लाभ और श्रम या योग-दान मध्यम वर्गके लोगोंको न-कुछ दिखाअी देगा। व्यक्ति अेकाकी रहता हो, तो कदाचित् अनावश्यक भी लगे, परन्तु अिससे समाजको बहुत बड़ा सामुदायिक लाभ होता है। जीवनके धारण-पोषण-सम्बन्धी अेक महत्त्वके विषयमें समाज स्वाधीन हो जाता है। समाजके आर्थिक क्षयका अेक महत्त्वपूर्ण कारण दूर किया जा सकता है। व्यवस्थित रीतिसे अिस कामको पूरा किया जाय, तो समाजको अैसी तालीम मिलती है, जो अुसके धारण और पोषणकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, और मध्यम वर्ग तथा गरीब जनताके अेक बड़े भागको गुज़ारा मिल जाता है। अिस दृष्टिसे कताअीको अेक सामाजिक कर्त्तव्य कह सकते हैं, और जो संस्था सामाजिक दृष्टिसे अिसका निर्णय करती है, वह यदि अिसके सम्बन्धमें कोअी कर लगावे, तो अुसे देना हमारा कर्त्तव्य समझा जा सकता है।

अैसे प्रत्येक कर्ममें व्यक्ति और समाजके दरमियान कर्त्तव्य अुत्पन्न होते हैं, और अुन कर्त्तव्योंका पालन न करना समाजका द्रोह होता है।

श्रेयार्थीको राजनीतिक कामोंमें पड़ना चाहिअे या नहीं, अिस प्रश्नका भी यहाँ विचार कर लेना अुचित होगा। धारण-पोषण और सत्त्व-संशुद्धि-विषयक जो विचार अूपर अुपस्थित किये गये हैं, अुनसे मालूम होगा कि समाज-हितकारी कोअी भी प्रवृत्ति श्रेयार्थीके लिअे अस्पृश्य नहीं हो सकती। राजनीतिक कामोंमें पड़ना कोअी दोष नहीं है, बल्कि मलिन भावसे पड़ना दोष है। सामर्थ्यवान् श्रेयार्थीका विशेष रूपसे कर्त्तव्य है कि अुसमें शुद्ध भाव निर्माण करके अुसे सुधारे। अत्यन्त अुदार और विशालदृष्टि तथा परम बुद्धिमान होते हुअे भी स्वामी विवेकानन्दने अपनी संस्थाओंको जो राजनीतिक प्रवृत्तियोंसे अछूता रक्खा,

सो अुस समयकी विशेष परिस्थितियोंका परिणाम था, अैसा समझना चाहिअे। अुस निषेधको श्रेयार्थीके लिअे अेक स्थायी नियमकी तरह ग्रहण न करना चाहिअे।

फिर सामाजिक जीवनका अेक दूसरा अङ्ग अिस प्रकार है:— हिसाब या तलपटके केवल लाभ-पक्षपर ही हमारा जीवन नहीं चलता। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने निजी हिसाबके लाभ-पक्षपर ही दृष्टि रखकर अपना जीवन चलावे, तो कुटुम्बका धारण-पोषण और सत्व-रक्षा असम्भव हो जाय। यह सच है कि हिसाबका लाभ-पक्ष धारण-पोषणके लिअे अेक ज़रूरी बात है; परन्तु वह प्रत्येक व्यक्तिका नहीं, बल्कि सारे कुटुम्बके हिसाबके तलपटका लाभ-पक्ष होना चाहिअे। परन्तु जीवनके निर्वाह और अभ्युदयके लिअे व्यक्तिके लाभ-पक्षकी बनिस्बत भी अुसकी घिसाअी, अुसका त्याग — आत्म-बलिदान, अधिक आवश्यक वस्तु है। जब हरअेक व्यक्ति कुटुम्बके दूसरे लोगोंके लिअे कुछ-न-कुछ घिसाअी — क्षति — सहन करता है, तभी अुस कुटुम्बका लाभ-पक्ष बढ़ता है, और अुसका निर्वाह और अभ्युदय विशेष सन्तोषजनक होता है। और, यह घिसाअी अेकाध दिन ही भुगत लेनेसे काम नहीं चलता। जिन्दगीभर रोज़-ब-रोज़ कुछ-न-कुछ घिसाअी सहन करनी ही पड़ती है। व्यक्तिका अपने कुटुम्बके लिअे अिस तरह घिसा जाना ही प्रेम कहलाता है।

जो न्याय व्यक्ति और कुटुम्बके सम्बन्धमें है वही व्यक्ति या कुटुम्ब और समाजपर भी लागू होता है। समाजका निर्वाह, अुसकी रक्षा, अभ्युदय और सत्व-संशुद्धि अिस बातपर अवलम्बित है कि अुसका हर व्यक्ति और हर कुटुम्ब अुसके लिअे किस हद तक घिसाअी या क्षति सहन करता है। यदि हरअेक कुटुम्ब अपने खानगी रोकड़ियासे पूछकर ही जीवन-व्यवहारके नियम बनावे, तो सारा समाज ज़रूर छिन्न-भिन्न हो जाय। अेक या दूसरे विषयमें, जिस प्रकार व्यक्तिको कुटुम्बके लिअे, अुसी प्रकार व्यक्ति और कुटुम्बको समाजके लिअे रोज़-रोज़ थोड़ी-बहुत घिसाअी अवश्य सहन करनी चाहिअे। भले ही अिस घिसाअीको सहन करनेके प्रकार जुदा-जुदा हों। परन्तु अैसी क्षतिको सहन किये बिना कोअी समाज निभ नहीं सकता। समाजके लिअे अिस प्रकार जो घिसाअी सही जाती है, अुसे

अुदारता या परोपकार (philanthropy) कहा जाता है। हाँ, सामान्य परिस्थितिमें यह क्षति अितनी अधिक न होनी चाहिअे कि जिससे व्यक्ति या कुटुम्बका धारण-पोषण अशक्य हो जाय। आपत्तिके अवसर पर अैसा भी हो सकता है। किन्तु सामान्य परिस्थितिमें यदि किसी वर्गको अितनी अधिक हानि सहन करनी पड़ती हो, तो समझना चाहिअे कि वहाँ कहीं-न-कहीं अन्याय हो रहा है। आज संसारमें अैसी अन्याय-पूर्ण हानि हमारे देशको, और निचले वर्गोंको सब कहीं, सहन करनी पड़ती है। अिसीसे हमारा देश दलित और पीड़ित है, तथा हमारा निचला वर्ग तो और भी अधिक दलित है।

जीवनमें घिसाअी या आत्म-बलिदानका जो आवश्यक स्थान है अुसे ध्यानमें रखकर श्रेयार्थीको अपने जीवन-निर्वाहके प्रश्नको हल करना चाहिअे।

जीवन-शोधन

[शोधनका अर्थ है अज्ञातकी खोज करना और ज्ञातका संशोधन करना]

खण्ड २

अदृश्य शोधन

१

आलम्बन

"चौथा पुरुषार्थ" नामक परिच्छेदमें कहा गया है कि धर्म, अर्थ और कामकी अुत्तरोत्तर शुद्धि और शोध करना ज्ञानका ध्येय है, और अपने तथा जगत्के अस्तित्वका मूल जानना और आत्माकी निरालम्ब सत्ताको देखना ज्ञानका अन्तिम फल है।

परन्तु अिसके साथ ही अितना याद रखना चाहिये कि 'आत्माकी निरालम्ब सत्ताको देखना' (अर्थात् अैसा निश्चय हो जाना कि आत्मासे बढ़कर और अुसके अूपर सत्ता चलानेवाली और कोअी दूसरी शक्ति नहीं) अेक बात है, और अैसी निरालम्ब स्थितिमें रहना दूसरी ही बात है।

जिसे आत्मा या ब्रह्म कहते हैं अुसके अलावा दूसरी किसी अदृश्य शक्तिपर आधार रखनेकी ज़रूरत न मालूम होना; अपने किये कर्मोंके फल भोगते हुअे, अथवा दूसरोंके द्वारा या सृष्टि-नियमोंके अनुसार, चाहे जैसे सुख-दुःख आ जायँ, तो भी धीरज और समताको क़ायम रखना; मर जाने के बाद अपना क्या होगा, अथवा होता होगा, अिसके विषयमें किसी भी कल्पना या चिन्ताका न होना; बल्कि जो जीवन प्राप्त हुआ है, अुसमें सदा शुभ कर्म और शुभ विचारमें लगे रहकर अपनी सत्व-संशुद्धिके लिअे प्रयत्नशील रहना, और आगेका कोअी विचार ही न करना, अिस प्रकारकी शुद्ध, निरालम्ब स्थितिमें सदैव स्थिर रहनेवाले विरले ही हो सकते हैं।

यदि कोअी अैसा महात्मा मिल भी जाय, तो भी बहुतांशमें यह दिखाअी देगा कि अुस स्थितिको प्राप्त करनेके पहले बहुत समयतक वह किसी दिव्य या अदृश्य शक्तिका आधार लेकर रहा था। सिर्फ़ आधार ही नहीं, बल्कि वह अुसका अनन्य आश्रय या भक्ति करता था। अुसे वह अपनेसे परे और भिन्न, अदृश्यरूपसे रहनेवाली, कोअी शक्ति अथवा

अुसका अवतार अथवा अुससे किसी विशेष प्रकारसे सम्बन्धित समझता था। फिर, मृत्युके बादकी स्थितिके सम्बन्धमें भी अुसने कोअी दृढ़ कल्पना बना रक्खी थी। यह मालूम होगा कि अपने जीवन-कालमें अपना अुत्कर्ष साधनेके लिअे अुसने जो-जो पुरुषार्थ किये और जिन-जिन कठिनाअियोंको वह पार कर गया, सो सब अैसे आश्रय और भावी-विषयक श्रद्धाके बलपर ही किया, और वह ख़ुद भी अिस बातको मंज़ूर करेगा; और यह भी दीख पड़ेगा कि अैसे किसी आलम्बन अथवा आधारपर तथा अिस मान्यतापर कि जगत्में कर्मफल देनेवाला कोअी अटल किन्तु न्यायी नियम वर्तमान है, अुसकी जीवनके प्रारम्भमें ही अडिग श्रद्धा हो जानेसे, और सामान्य मनुष्योंके जीवन या चित्तपर अैसी श्रद्धाका जितना असर होता है अुसकी अपेक्षा अुसपर अधिक ज़ोरदार असर होनेसे ही अुसका जीवन श्रेय-मार्गकी ओर अधिक झुका। सामान्य अनुभव अैसा ही है कि श्रेयार्थीमें जिन शुभ गुणों और भावोंका अुत्कर्ष होना चाहिअे, यथार्थ मात्रामें — अितनी कि वैसे गुण और भाव स्वभाव-सिद्ध हो जायँ — अुनकी वृद्धि होनेके बाद ही जिसे 'निरालम्ब स्थिति' कह सकते हैं अुस स्थितिके-से विचारोंकी ओर अुसका प्रयाण हुआ है, और धीरे-धीरे अुस स्थितिमें दृढ़ता आयी है।

अिसके विपरीत यह भी दिखाअी देगा कि जिन लोगोंकी अैसे किसी आलम्बन या नियमपर दृढ़ श्रद्धा नहीं हुअी या पूरी अश्रद्धा न होनेपर भी वह श्रद्धा अितनी ज़ोरदार न बनी कि अुनके जीवन या चित्तपर वह गहरा असर कर सके, अैसे व्यक्तियोंके लिअे श्रेय-मार्गकी तरफ़ जाना, बढ़ना और टिके रहना असम्भव हो जाता है। अिन्द्रिय-विलाससे या जगत्की वाहवाहीसे जो सुख मिल सकता है अुसका बलिदान करनेकी प्रेरणा करनेवाला कोअी प्रयोजन ही अगर अुनकी समझमें नहीं आता, तो फिर अुन्हें अुसके प्रति आकर्षण तो हो ही कैसे? जो स्त्री-पुरुष जीवनके तथा मानव-समाजके अन्त और कल्याणके विषयमें शंकाशील, निरुत्साही और आदर्शहीन हैं तथा जो तात्कालिक प्रेम पर ही दृष्टि रख सकते हैं, अुन्हें अिस वृत्तिके कारण असंयम और स्वच्छन्दता के सिवाय जीवनका दूसरा कोअी अुद्देश्य ही दिखाअी नहीं देता।

गीताके १६वें अध्यायमें जिस आसुरी प्रकृतिका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है वह पूर्वोक्त श्रद्धाके अभावका ही परिणाम है।* जगत्‌में कोअी अविनाशी चैतन्य तत्त्व है, या किन्हीं स्थिर सनातन नियमोंसे जगत्‌का सूत्र-संचालन हो रहा है, अैसी श्रद्धा न होनेसे अुन्हें अपने और जगत्‌के अुन्हीं सुख-दुःखोंके सम्बन्धमें विचार करनेकी ज़रूरत मालूम होती है, जिनका सम्बन्ध अुनकी अपनी देहके क़ायम रहने तक ही हो। नीति-नियमोंका विचार भी वे अपनी सुख-सुविधा और आर्थिक लाभकी दृष्टिसे ही करते हैं, पर अुनके पालनका तात्त्विक आग्रह रखनेका कोअी प्रयोजन अुन्हें मालूम नहीं होता।

अिसलिअे जो यह चाहते हैं कि अुनका जीवन केवल अैहिक सुख और अिन्द्रिय तथा बुद्धिके क्षणिक आनन्दकी बनिस्बत अधिक सनातन सत्यकी शोधमें और गहरी मानसिक शान्तिके पथकी ओर बढ़े, अुनका काम आलम्बनके महत्त्वकी अवगणना करनेसे न चलेगा। अिस आलम्बनको वे चाहे परमेश्वर कहें, सत्य कहें, धर्म कहें, सनातन तत्त्व कहें, विश्वका अनादि नियम कहें, कर्म-सिद्धान्त कहें, जिस नामसे चाहें पुकारें, अिन्द्रियोंसे परे, गूढ़, विश्वके सब पदार्थों और जीवोंसे सूक्ष्म और श्रेष्ठ किसी वस्तुका आधार अुन्हें लेना पड़ता है।

परन्तु शुरूमें तो अक्सर सब लोगोंके लिअे अैसा आलम्बन बुद्धि द्वारा अधिक मन्थन किये बिना ही, केवल बड़े-बूढ़ोंके डाले संस्कारोंसे दृढ़ बनी हुअी श्रद्धाका ही विषय होता है। अिस कारण वह शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका हो सकता है। परन्तु सत्य-शोधनके लिअे तथा जिस शोधनके अन्तमें परम श्रेयकी प्राप्ति होती है अुसके लिअे अिस आलम्बनका शुरूसे ही शुद्ध होना अतिशय महत्त्वपूर्ण है।

अुदाहरणार्थ —

१. जैसे-जैसे मनुष्यकी विचार-शक्ति बढ़े, वैसे-वैसे जिस आलम्बनसे अुसका विश्वास अुठता जाय, स्पष्ट ही अुसे शुद्ध आलम्बन नहीं कहा जा

---

* मारी कौरलीने 'दी माअिटी अेटम' नामक अुपन्यासमें अेक अैसे बालककी मनोव्यथा, निराशा और करुणाजनक अन्तका बड़ा हृदय-स्पर्शी चित्र खींचा है, जो किसी परम शक्तिके आलम्बनमें श्रद्धा नहीं रखता था।

सकता। अिसके बरखिलाफ़ वह आलम्बन अधिक शुद्ध माना जायगा, जो पहले चाहे बिना विचार किये ही मान लिया गया हो, परन्तु बादमें जैसे-जैसे विचार-शक्ति बढ़े वैसे-वैसे जो अपनी सत्यताके सम्बन्धमें श्रद्धाको अधिक दृढ़ करानेवाला हो।

२. फिर, अुस आलम्बनको भी शुद्ध कहनेमें संकोच होगा, जिसपर श्रद्धाको दृढ़ रखनेके लिअे यह रोक लगायी गयी हो कि बुद्धिकी सूक्ष्मता या विचार-शक्तिको अेक हदसे आगे जाने न देना चाहिअे। अिसके विपरीत, वह आलम्बन अधिक शुद्ध कहा जायगा जो बुद्धिकी सूक्ष्मताकी वृद्धि चाहता हो, जो विचार-शक्तिको प्रेरणा देता हो, और विचार-शक्तिके घर्षणसे अधिक स्पष्ट और शुद्ध स्वरूपमें प्रकट होता हो, और अिस तरह अधिक श्रद्धेय बनता हो।

३. फिर, वह आलम्बन भी शुद्ध नहीं कहा जा सकता जिस परसे कभी-न-कभी श्रद्धाके डिग जानेसे ही बुद्धिकी सूक्ष्मता और चित्त-संशुद्धिकी वृद्धि तथा निरालम्ब स्थितिकी ओर प्रगति हो सकती हो। अिसके विपरीत, वह आलम्बन शुद्ध कहा जायगा, जो ख़ुद ही धीरे-धीरे प्रगति करवा कर अपने सम्बन्धकी जो भी भ्रान्तियाँ हों, अुन्हें दूर कराके निरालम्ब स्थितितक पहुँचा देता हो।

४. फिर, अेक और ढंगसे भी हम आलम्बनकी शुद्धाशुद्धताका विचार कर सकते हैं। जो आलम्बन किसी खास जाति, कुल, देश, सम्प्रदाय या अनुगम द्वारा स्वीकृत संकेत या रूढ़िपर और अुनसे प्राप्त संस्कारोंपर ही आधार रखता हो, किन्तु अुस संकेतके प्रवर्त्तकपर तथा अुससे सम्बन्धित शास्त्रों पर विश्वास रखनेके सिवा और कोअी स्वयं-सिद्ध या विचार-जन्य कारण अुसके लिअे न दिखाया जा सकता हो अुसे कम शुद्ध कहना चाहिअे। जैसे विष्णु, शिव, गणपति, दुर्गा अित्यादि देवताओंके स्वरूप-सम्बन्धी श्रद्धा, अथवा अीसा, मुहम्मद, समर्थ रामदास, सहजानन्द स्वामी आदिके प्रति पैग़म्बर, अवतार आदिके रूपमें विश्वास और स्वर्ग तथा नरक-विषयक भिन्न-भिन्न मत आदि।

अिसके विपरीत, जो आलम्बन जाति, कुल, देश, सम्प्रदाय या अनुगम द्वारा डाले संस्कारोंपर टिका न हो, बल्कि यथासम्भव अिन

अुपाधियोंसे मुक्त हो तथा स्वयं-सिद्ध होनेके कारण अथवा निदान स्थूल दृष्टिके विचारसे भी श्रद्धेय बनता हो, और अिसलिअे जिसे मनुष्यमात्रके सामने अुपस्थित करना शक्य हो, अुसे अधिक शुद्ध कहना होगा। यह हो सकता है कि अधिक सूक्ष्म विचार करनेसे अिस आलम्बन-सम्बन्धी हमारी धारणामें आगे चलकर बहुत-कुछ फ़र्क़ पड़ जाय, परन्तु सामान्य बुद्धिमें भी जितनी विचार-शक्ति और अनुभव होता है, अुनके द्वारा यह आलम्बन श्रद्धेय बनता हो, तो पहलेकी अपेक्षा अिसे अधिक शुद्ध कहा जा सकता है। जैसे, किसी आदमीका सिर दर्द करता हो, और वह यह मानकर कि विकार मस्तकमें ही है वहीं अुसका अुपचार करे, तो यह नहीं कह सकते कि वह बिलकुल ग़लत ही करता है; क्योंकि सिर-दर्द स्वानुभव-सिद्ध है। परन्तु जब वह यह देखे कि अिससे सिर-दर्द मिटा नहीं, और अुसपरसे अधिक गहरा विचार करके अिस नतीजे पर पहुँचे कि अिसका असली कारण तो पेटमें है, और फिर पेटका अिलाज करे तो अुसके रोग-सम्बन्धी ज्ञानमें बहुत-कुछ फ़र्क़ पड़ जानेपर भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि अुसकी पहली धारणा बिलकुल ग़लत थी। क्योंकि वह अनुभव-सिद्ध थी, और विचार करने पर .खुद ही सत्य कारणकी तरफ़ ले गयी थी।

अब हमें अिस बातपर विचार करना है कि सामान्य बुद्धिका मनुष्य होते हुअे भी जो श्रेयार्थी है अुसके लिअे अंगीकार करने योग्य शुद्ध आलम्बनका प्रकार कैसा होना चाहिअे।

२

शुद्ध आलम्बन

पिछले प्रकरणमें व्यक्त किये गये विचारोंके अनुसार शुद्ध आलम्बनमें नीचे लिखे लक्षण होने चाहिअें —

१. हमारी विचार-शक्तिकी वृद्धिके साथ अुसके प्रति हमारी श्रद्धा वलवती हो; किसी प्रकार घटे नहीं;

२. वह हमारी बुद्धिकी सूक्ष्मताके बढ़नेकी अपेक्षा रक्खे, न कि अैसी मर्यादा रख दे कि वस, अिससे ज़्यादा गहराअीसे सोचना ही न चाहिअे;

३. ज्यों-ज्यों अुसके सम्बन्धमें गहरा विचार किया जाय, त्यों-त्यों अुसके स्वरूपके सम्बन्धमें जो भी गलत धारणायें मनमें रह गयी हों, वे कम होती जायँ और अुसका ठीक स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाय; अुसके सम्पूर्ण त्यागकी कभी ज़रूरत ही न पड़े।

४. वह आलम्बन जाति, कुल, देश, सम्प्रदाय, अनुगम आदिकी अुपाधियोंसे यथासम्भव परे और सर्वमान्य होने योग्य हो; और

५. श्रेयार्थी मनुष्यको वह आलम्बन अितना अुदात्त और प्रिय लगे कि अुसके सम्बन्धकी श्रद्धा अुसे —

जीवनमें मिलनेवाले **सुखमें** नम्र और कृतज्ञ वनाये तथा जीवनकी धन्यताका अनुभव कराये;

दुःखमें धीरज तथा समता धारण करनेकी और शान्तिपूर्वक विश्व-नियमोंके अधीन रहनेकी शक्ति दे;

अपनी **मर्यादाओंका** भान कराके अुसे निर्मान और निर्दम्भ रक्खे;

शुभ कर्मों और **सत्व-संशुद्धिके प्रयत्नोंके** लिअे अुत्साहित करे, तथा अुसमें खड़े होनेवाले खतरों और क्लेशोंका सामना करनेका साहस दे। और, हृदयके **भक्ति** आदि कोमल भावोंको विकासका अवसर दे।

शुद्ध आलम्बनका विचार करनेमें सबसे पहले, यह तो स्पष्ट ही है कि आलम्बन-विषयक श्रद्धाका अर्थ किसी दृश्य पदार्थ या शक्तिके प्रति श्रद्धा नहीं, वल्कि किसी अदृश्य शक्ति या नियमके प्रति श्रद्धा है।

अदृश्य-विषयक श्रद्धाके होनेसे यह आलम्बन प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् आलम्बन-विषयक श्रद्धा एक प्रमाणातीत विषयके प्रतिकी श्रद्धा* है।

अब अदृश्य शक्ति या नियम दो तरहसे प्रमाणातीत हो सकते हैं।

(१) स्वयंसिद्ध होनेसे; अर्थात् अिन्द्रियाँ और मन जिस-जिस वस्तुको अनुभवसे जान-चीन्ह सकते हैं, अुन सबको जुदा करते-करते, हटाते-हटाते, जो सत्ता अनिवार्य रूपसे शेष रहती हुआी दीख पड़ती हो वह; और (२) कार्य-कारण-भावके विचारसे जिसका अस्तित्व अतिशय सम्भवनीय मालूम होता हो, किन्तु अदृश्य होनेसे जिसको सिद्ध कर दिखाना असम्भव प्रतीत होता हो, और अिसलिअे जिसके स्वरूपके विषयमें केवल अुपमाओं द्वारा ही तर्क किया जा सकता हो, वह; जैसे, विज्ञानमें तेज, ध्वनि, विद्युत्, आदिके स्वरूप-विषयक मत अथवा अध्यात्म-विचारमें माया, संकल्प, कर्म, मरणोत्तर स्थिति, आदि विषयक मत। तेज आदिके स्वरूप-विषयक तर्क जलकी तरङ्गोंकी अुपमाके द्वारा समझाये जाते हैं; मायाका अिन्द्रजाल, गन्धर्वनगर, स्वप्न, मृगजल, आदि अुपमाओं द्वारा निर्देश किया जाता है; यही बात दूसरी शक्तियोंके विषयमें भी है। किन्तु तेजका स्वरूप तरङ्ग जैसा ही है, यह बात प्रयोगसे सिद्ध नहीं की जा सकती; बल्कि अितना ही कहा जा सकता है कि अैसा होनेकी सम्भावना है। अुसी प्रकार यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि मायाका स्वरूप स्वप्नके सदृश ही है। परन्तु अितना ही कहा जा सकता है कि वह स्वप्न-सा दीख पड़ता है।

श्रेयार्थी मनुष्य अिन दोनों प्रकारकी अदृश्य शक्तियों या नियमोंका कुछ-न-कुछ आलम्बन लेता है। जैसे, परमात्मामें निष्ठा तथा पुनर्जन्म या क़यामतमें विश्वास। परन्तु यह स्पष्ट है कि अिसमें पहले प्रकारकी अदृश्य शक्तिका आलम्बन दूसरेसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि पहला

* “Believing where we cannot prove”—श्रद्धा अुसे कहते हैं, जिसे साबित तो नहीं कर सकते, फिर भी जिसे मानते हैं। —टेनिसन।

स्वतःसिद्ध होनेके कारण, निरपेक्ष भावसे श्रद्धेय हो सकता है, और दूसरा केवल सम्भवनीय तर्क होनेकी वजहसे अुसके विषयमें अमुक अेक प्रकारका ही आग्रह पकड़ रखनेकी वृत्ति गौण होती जाती है, और अनुभव, विचार तथा विज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ अुसमें बहुत फ़र्क़ पड़ता जाता है।

अिस प्रकरणमें हमें पहले प्रकारके आलम्बनका विचार करना है।

अिस सम्बन्धमें जो लोग विचार-क्षेत्रमें बहुत निश्चित हो चुके हैं, अुनकी राय है कि ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर* आदि नामोंसे दरसाये जानेवाले अेक चैतन्यरूप परमतत्त्वकी सत्ता प्रमाणातीत होते हुअे भी वह सिर्फ़ अेक 'सम्भवनीय' तर्क नहीं, बल्कि स्वयं-सिद्ध वस्तु है। और अुसके केवल स्वयं-सिद्ध होनेकी वजहसे ही वह प्रमाणातीत है। परन्तु स्वयं-सिद्ध है, अिसका अर्थ यह नहीं कि अुसकी प्रतीति फ़ौरन हो जाती है। पर अैसा कहनेमें अुनका दावा यह है कि अिस चैतन्य-शक्तिके अस्तित्वको केवल शास्त्रके, विश्वसनीय ऋषियोंके या पुरखोंके मतके रूपमें मान लेनेकी ज़रूरत नहीं; लेकिन, जो लोग चाहें, वे अपने जीवनमें ही, अपने अनुभव और विचार द्वारा ही, अुसका निश्चय कर ले सकते हैं।

परन्तु जिन लोगोंके पास वह गहरा विचार कर सकनेकी शक्ति या अवकाश न हो, जिससे परमात्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें अुन्हें स्वयं निःशंक प्रतीति हो जाय, वे यदि अनुभवी लोगोंके वचनोंको मानकर अुसके अस्तित्वपर श्रद्धा रक्खें, तो अुसमें असत्याचरण या असत्य श्रद्धाका दोष नहीं होता, क्योंकि अुनकी श्रद्धाका स्थान स्वतः सत्य और निश्चल है। ठीक अुसी तरह जिस तरह कि कोअी अपने बड़ोंके कहनेसे संखियाको ज़हर मान लेनेमें असत्याचरण नहीं करता। जिसे अिस प्रकार केवल विश्वास कर लेनेमें सन्तोष न हो, अुसके लिअे अनुभव द्वारा निश्चय कर लेनेका मार्ग खुला ही है। अिसलिअे, जो पुरुष चैतन्य-स्वरूप परमात्माके अस्तित्वपर

---

* आत्मा तथा परमात्मा अेक है या अलग-अलग, अिसका विचार करना यहाँ आवश्यक नहीं है। अिसका अधिक स्पष्टीकरण चौथे प्रकरणमें किया जायगा।

श्रद्धा रखकर, अिस आलम्बनको मानकर, श्रेय-प्राप्तिका प्रयत्न करता है, वह किसी अशुद्ध आलम्बनको स्वीकार नहीं करता।*

अिस आलम्बनमेंसे निरालम्ब दशाकी प्राप्ति बस, अेक आगेका क़दम ही है, और वह परमात्मा तथा अहंभाव (अपने अन्दर प्रतीत होनेवाले 'मैं'-पनका भान) के पारस्परिक सम्बन्धकी शोधमेंसे पैदा होता है। पर यह बात यहाँ मौज़ूँ नहीं है। यहाँ अिसका अुल्लेख करनेका कारण अितना ही है कि जिन्हें निरालम्ब स्थितिमें पहुँचा हुआ माना जाता है, अुन्हें भी परमात्म-तत्त्वका यह अस्तित्व ग्राह्य है, यही नहीं, बल्कि अुसकी दृढ़ प्रतीतिमेंसे ही अुनकी निरालम्ब स्थिति पैदा होती है।

परन्तु यह कह देनेसे ही काम नहीं चलता कि अिस संसारमें चैतन्य-स्वरूप परमात्माका अस्तित्व है। जगत्के साथ अुसका क्या सम्बन्ध है, अुसका और मनुष्यका क्या सम्बन्ध है, वह सगुण है या निर्गुण, साकार है या निराकार, किस तरह अुसका आश्रय लिया जाय, जिससे वह मनुष्यके लिअे श्रेयःसाधक हो, किस प्रकार अुसका स्वयं निश्चय किया जा सकता है, आदि अनेक प्रश्न अुसे मानते ही अुठ खड़े होते हैं। जगत्के सभी आस्तिक और नास्तिक, दर्शनशास्त्री, तत्त्वज्ञानी, आचार्य, भाष्यकार, योगी, भक्त, सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक अिन प्रश्नोंका ही अूहापोह करते हैं, अेक-दूसरेके साथ वाद-विवाद करते हैं, और अुनके विषयमें अैसी-अैसी अेक-दूसरेसे अुलटी मान्यतायें अुपस्थित करते हैं कि जिज्ञासु बेचारा चक्करमें पड़ जाता है।

सच्चे श्रेयार्थीका कुछ समय तक तत्त्वज्ञानकी अैसी शुष्क चर्चाओंमें ज़रा भी मन नहीं लगता। और, वह अुनसे अलग रहकर अिसी बातमें समझदारी और सुरक्षितता समझता है कि अपनी सामान्य बुद्धिसे वह आलम्बन जितना समझमें आ सकता है, अुतना समझकर अुसमें अनन्य

---

* अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य अुपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ (गीता १३ – २६)

कुछ लोग तो अिस तरह (परमात्माको) स्वयं न जानते हुअे भी (अुसके बारेमें) दूसरोंसे (जिन्होंने तत्त्वको पहचान लिया है) सुनकर अुसकी अुपासना करते हैं। वे श्रुति-परायण लोग भी मृत्युको तर जाते हैं।

निष्ठा रक्खे। अिस समयमें अुसे ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिका ही महत्त्व अधिक लगता है, और अुसके भक्तिभावके और दूसरी सद्भावनाओंके अुत्कर्षके लिअे अिस प्रकारके तत्त्वज्ञानकी चर्चामें मनका न लगना अुसके लिअे हितकारक ही है। परन्तु तत्त्व-जिज्ञासाके प्रति यह अरुचि भी क़ायम नहीं रहती, बल्कि भक्तिभावकी अुचित सीमा आ जानेके बाद फिर तात्त्विक प्रश्नोंसे दूर रहना अुसके लिअे असम्भव हो जाता है। जब अुसमें अिस प्रकार तत्त्व-जिज्ञासा जाग्रत होती है, तब अुसके लिअे यह प्रश्न महत्त्वका हो जाता है कि आलम्बन-सम्बन्धी अुसकी कल्पना सच है या ग़लत। यदि श्रेय-प्राप्तिकी अुसकी अिच्छा सच्ची और तीव्र हो, तो यह जिज्ञासा अुसे, परमात्माके आलम्बनको अुसने जितना ग़लत तौरपर स्वीकार किया होगा, अुतना ही ज़्यादा आघात पहुँचायेगी, और अुसकी बुद्धि और श्रद्धाके संस्कारोंमें संघर्ष पैदा करेगी और कुछ समय तक अुसके हृदयमें रही हुअी भक्तिकी भावनाको गहरा धक्का पहुँचायेगी और डर यह मालूम होता है कि कहीं वह जड़मूलसे अुखड़ न जाय। फिर यदि अुस साधकके दिलमें कहीं भी सूक्ष्म रूपमें भय या लालसा छिपी पड़ी हो, तो यह भी हो सकता है कि वह तत्त्वज्ञानके छोरतक पहुँच ही न सके। जिस प्रकार राज्यकर्ता जनताकी स्वातन्त्र्य-भावनाको कुचलनेका प्रयत्न करते हैं, अुसी प्रकार वह अिस स्थितिमें ख़ुद अपनी ही बुद्धिका शत्रु बनकर अुसे दबा देनेका प्रयत्न करता है, और अैसा मानने लगता है कि तात्त्विक विषयोंके अज्ञानमें ही सुख है। परन्तु अिस प्रकार बुद्धिको दबाकर परमेश्वरमें रखी जानेवाली श्रद्धामें और वहमोंके प्रति की श्रद्धामें कोअी फ़र्क़ नहीं। भले ही वह अपने आलम्बनको परमात्मा कहे; किन्तु अुसकी श्रद्धा वास्तविक परमात्मामें नहीं, बल्कि अुसकी किसी मर्यादित और नाशवान विभूतिमें है।

अिस प्रकार बुद्धिको कुण्ठित करके पोसी गयी श्रद्धाका अधिक मूल्य नहीं है। जिस प्रकार कोअी बालक रातको डर मालूम होनेपर अपने सिरपर चादर खींच ले और बिना हिले-डुले पड़ा रहे, तो अुससे वह निर्भय नहीं हो सकता, अुसी प्रकार अिस भयसे कि परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें यदि हम ठीक-ठीक विचार करने लगेंगे, तो हमारी चिरपोषित

श्रद्धा और भक्ति डावाँडोल हो जायगी, विचारनेका साहस ही न करना, जान-बूझकर असत्यमें रहनेका प्रयास है। चूँकि दिलका आखिरी समाधान तो सत्य-ज्ञानके द्वारा ही हो सकता है, अिसलिअे न तो अुसे कभी सच्चा समाधान ही प्राप्त होगा, और न वह निरालम्ब और निर्भय स्थितिको ही प्राप्त हो सकेगा। अिसलिअे श्रेयार्थीको चाहिअे कि वह अिस संघर्षकी ओर भक्तिभावके डाँवाडोल होनेकी जोखम अुठा करके भी सत्यको जानने और अुसपर दृढ़ रहनेका साहस करे। यदि अुसमें सच्ची भक्ति अुदय हुअी होगी, तथा दूसरी कोमल भावनायें भी पोषित हुअी होंगी, तो अुसकी भक्ति-भावना अधिक समयतक डाँवाडोल न रहेगी, बल्कि फिरसे सत्य-स्वरूपके प्रति प्रकट होगी, और सो भी अधिक शुद्ध रूपमें।

परन्तु विचार करनेसे मालूम होगा कि बुद्धि और श्रद्धामें यह जो संघर्ष होता है, और दोमेंसे अेकके कुचले जानेका जो भय अुत्पन्न होता है, अुसका कारण परमात्माके विषयमें शुरूसे ही बनी और दृढ़ हुअी हमारी गलत कल्पनायें हैं। अिसलिअे पहलेसे ही यह विचार कर लेना बहुत आवश्यक है कि परमात्माके आलम्बनका सत्यकी ओर अधिकाधिक झुकता हुआ स्वरूप कैसा होना चाहिअे। अिस कारण, अब मैं तत्त्व-ज्ञानकी सूक्ष्म चर्चाओंमें अधिक पड़े बिना ही अुसके कुछ अंशोंका विचार अिस तरह करना चाहता हूँ कि जिससे सामान्य बुद्धि द्वारा भी वह ग्रहण किया जा सके।

३

जगत्का कारण

परमात्माके स्वरूपका विचार करनेपर पहला प्रश्न यह अुठता है कि अिस तत्त्वके साथ जगत्का क्या सम्बन्ध है? जो परमात्मामें विश्वास रखते हैं, अुनके बहुत बड़े भागकी, और कअी अनुगमों और सम्प्रदायोंकी भी, अिस विषयमें अैसी कल्पना है कि जैसे कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है और अिसलिअे जिस तरह कुम्हार घड़ेका निमित्त कारण और मिट्टी (सामग्री या मसाला-रूपमें) अुपादान कारण है, अुसी तरह परमात्मा जगत्का, कुम्हारके सदृश, निमित्त कारण है।

किन्तु परमात्माके स्वरूपकी यह कल्पना गलत है, और कभी-न-कभी बुद्धिकी अुलझनें पैदा करती है। अिसलिअे अिस कल्पनाको छोड़नेकी और परमात्माको जगत्का निमित्त कारण नहीं, बल्कि अुपादान कारण समझनेकी आदत डालनेकी सबसे पहले आवश्यकता है। यह नहीं कि विश्वसे दूर बैठे परमात्मा नामक किसी प्रतापी सत्वके द्वारा किसी तरह अिस जगत्का निर्माण हुआ है, बल्कि यह समझना चाहिअे कि यह जगत् परमात्मामेंसे और परमात्माका ही बना हुआ है, अुसमें ही स्थित या बसा हुआ है, और अुसमें ही लीन हो जाता है।

जब हम यह मानना बन्द कर देते हैं कि परमात्मा जगत्का निमित्त कारण है, तो अुसके साथ ही अुसके सम्बन्धकी कितनी ही कल्पनायें अपने आप खतम हो जाती हैं; जैसे, परमात्मा आसमानके परे किसी दिव्य धाममें रहता है, अुसका अेक खास आकार या रूप है, अुस धामकी रचना और शोभा अमुक प्रकारकी है, वह खास प्रकारके दिव्य गुणोंसे पूर्ण है, आदि आदि।

विचार करनेसे मालूम होगा कि परमात्माके आकार, धाम आदिके सम्बन्धमें कोअी भी धारणा केवल कल्पना ही हो सकती है, और अिसलिअे कल्पना करनेवालेकी रुचिके अनुसार विविध प्रकारकी हो सकती है। अैसी कोअी कल्पना श्रद्धाके संस्कारपर अवलम्बित रहती है, और जिस तरह

वह प्रमाणका विषय नहीं हो सकती, अुसी तरह स्वयं-सिद्ध प्रतीतिका भी नहीं । किन्तु हमने तो अूपर बताया है कि परमात्मा स्वयं-सिद्ध सत्ताके रूपमें प्रतीतिका विषय हो सकता है ।

परमात्मा जगत्का अुपादान-कारण है,—जगत् अेक परमतत्त्वमेंसे पैदा हुआ है, अुसीमें स्थित है और अुसीमें लीन हो जाता है—अिस विचारसे यह भी सूचित हो जाता है कि परमात्मा सर्वव्यापक और विभु है । संसारमें छोटी-बड़ी जितनी वस्तुयें हैं, वे सब 'अीशावास्य' हैं—परमात्मासे बसी हुअी हैं—यह बात तभी अच्छी तरह फलित होती है, जब हम अुसे जगतका अुपादान-कारण समझें ।

परन्तु अुपादान-कारणके रूपमें परमतत्त्वका विचार करते हुअे यह शंका भी हो सकती है कि यह तत्त्व जड़ है । और, कअी विज्ञान-शास्त्रियों और दार्शनिकोंका अैसा मत है भी कि अनेक अथवा अेक क्रियावान जड़ तत्त्वसे अिस जगत्का निर्माण हुआ है । परन्तु थोड़ा ही विचार करनेसे अिस शंकाका समाधान हो जाता है । हम नित्य ही देखते हैं कि कार्यमें जो-जो शक्तियाँ दिखाअी पड़ती हैं, वे सब बीज-रूपमें अुसके अुपादान-कारणमें अवश्य होनी चाहिअें । बीजमें वृक्ष दिखाअी नहीं देता, फिर भी अुस वृक्षका निर्माण होनेके लिअे जिस प्रकारकी शक्ति आवश्यक है वह बीजमें अवश्य होनी चाहिअे । अिसी प्रकार चेतना-युक्त प्राणियोंका अस्तित्व यह दिखलाता है कि अुनके अुपादान-कारण-रूप मूल तत्त्वमें चैतन्य-शक्ति अवश्य होनी चाहिअे । अब चूँकि वह बीज-रूप है, अिसलिअे स्पष्ट न दिखाअी दे, तो अिसमें आश्चर्यकी बात नहीं । परन्तु अिससे तो अुल्टा यह फलित होता है कि जिन्हें हम जड़ पदार्थ समझते हैं वे भी केवल जड़ या अचित् नहीं हो सकते । और, अिस विचारमें कोअी दोष नहीं है । अिस सम्बन्धमें अधिक विचार हम सांख्य खण्डके १२वें प्रकरणमें करनेवाले हैं, अिसलिअे यहाँ अधिक गहराअीमें जानेकी ज़रूरत नहीं ।

तो अब अिस प्रकरणके अन्तमें हम अितना कह सकते हैं कि श्रेयार्थीका आलम्बन-रूप परमात्मा जड़ नहीं, बल्कि चेतन, सर्वव्यापक, विभु और जगत्का अुपादान-कारण है । जगत् साकार दिखाअी देता है, अिसलिअे यदि यह कहें कि अुसके कारण-रूप परमात्माका कोअी आकार

होना चाहिअे, तो अुसकी व्याख्या भूमितिके बिन्दुकी तरह बतानी पड़ेगी। भले ही अैसी कोअी व्याख्या की जाय, पर वह निरुपयोगी होगी। और, अुसके सिवा किसी दूसरे आकारका आरोपण बिलकुल कल्पना ही होगा। फिर, आकार वस्तुतः क्या है, अिसका जो विचार सांख्य खण्डके छठे प्रकरणमें किया गया है अुससे भी परमात्मामें किसी प्रकारके आकारकी कल्पना करना अनुचित मालूम होगा। यह कल्पना भ्रमकारक होती है, अिसलिअे अिस भूलको हमें छोड़ ही देना अुचित है।*

४

चित्त और चैतन्य

पिछले प्रकरणमें हम यह मानकर चले हैं कि परमात्मा चिद्रूप — चैतन्य-स्वरूप — है। 'चेतन' शब्दके साथ हमें ज्ञान और क्रियाका खयाल आता है। अिससे अुल्टा शब्द 'जड़' है। जिस वस्तुमें हमें ज्ञान-शक्ति और अपने-आप क्रिया करनेकी शक्ति मालूम नहीं होती, अुसे हम 'जड़' कहते हैं। हम सबकी यह धारणा है कि ये दोनों शक्तियाँ चेतनके धर्म (लक्षण) हैं, और चूँकि ये दोनों धर्म हमारे अन्दर मौजूद हैं, अिसीसे हम निःशंक रूपसे मानते हैं कि हम 'जड़' नहीं, बल्कि 'चेतनायुक्त' हैं।

जब मनुष्य मर जाता है, तो अुसके अवशिष्ट शवमें हमें यह ज्ञान और क्रिया-शक्ति नहीं दिखाअी देती, अिसीसे हम अुस शरीरको निश्चेतन बना हुआ बताते हैं। और अुसके बाद अुसे हम अेक जड़ पदार्थ ही मानते हैं।

जीवित शरीरमें दीखनेवाली अिस ज्ञानवान और क्रियावान शक्तिको हम चैतन्य या जीव कहते हैं। ख़ुद अपने या अपने प्रियजनोंके शरीरके प्रति कितना ही मोह या अभिमान हमें क्यों न हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि अुस स्थूल शरीरकी अपेक्षा अुसमें स्थित अदृश्य चेतना-शक्तिके प्रति हमारे

---

* परमात्माको 'निराकार' विशेषण लगाना भी मुझे अुचित नहीं मालूम होता। यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि वह आकार-मात्रका आश्रय है।

मनमें अधिक ममता रहती है। हमारे शरीरके जिस भागसे यह चेतना-शक्ति निकल जाती है, हम अुसकी सार-सँभाल करना नहीं चाहते। अपने अत्यन्त प्रियजनोंके शरीरको भी (आग, क़ब्र, नदी आदिमें या वैसे ही) छोड़नेमें हमें हिचकिचाहट नहीं होती। अिसका यह अर्थ हुआ कि शरीरके प्रति हमारे मनमें जो 'मैं'-पन या ममता है वह स्वतंत्र रूपसे नहीं है, बल्कि अुसमें स्फुरित चेतना-शक्तिके कारण है; और जबतक वह दिखाअी देती है तभीतक है। शरीरके प्रति जो आत्मत्व — अपनापन — हमें मालूम होता है अुसकी अपेक्षा अधिक आत्मत्व हमें अिस चेतनाके साथ लगता है, और अिसीलिअे हम कहते हैं कि जो चैतन्य है वही 'मैं' — अर्थात् आत्मा — हूँ। शरीर 'मैं' — आत्मा — नहीं।

अिस प्रकार चैतन्यका अस्तित्व हमारे सामने दो तरहसे दिखाअी देता है; अेक सजीव प्राणियोंके शरीरमें प्रतीत होनेवाला, और दूसरा स्थावर-जंगम तथा जड़-चेतन सारी सृष्टिमें व्याप्त। हमारे शास्त्रोंमें पहलेके लिअे जीव अथवा प्रत्यगात्मा और दूसरेके लिअे परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म आदि शब्दोंका व्यवहार होता है।

अिनमें पहले हम जीव अथवा प्रत्यगात्माका विचार करेंगे। प्रत्यगात्मा अथवा शरीरमें स्फुरित चैतन्य मनुष्य-शरीरके साथ जुड़ा हुआ है। अिसलिअे अेक तरफ़से अुसकी ज्ञान और क्रिया-शक्ति कुछ विशेष प्रकारसे प्रकट होती हुअी दिखाअी देती है, और दूसरी तरफ़ अुसी कारणसे वह मर्यादित भी जान पड़ती है।

अिसकी विशेषतायें अिस प्रकार हैं—

१. यह चैतन्य किसी-न-किसी प्रकारके विषयको ही लक्ष्य करके ज्ञानवान या क्रियावान होता हुआ दिखाअी देता है। अेकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा अिस प्रकार अिन विषयोंकी परम्पराका प्रवाह अेक-सा चलता ही रहता-सा प्रतीत होता है। विषय शुद्ध हो या अशुद्ध, शरीर-सम्बन्धी हो या जगत्-सम्बन्धी, स्थूल — अिन्द्रिय-गम्य — हो या सूक्ष्म — मनोगम्य* — हो, अिस चैतन्यको हम विषय-सम्बन्धसे रहित अवस्थामें

* अुदाहरणार्थ — हर्ष, शोक आदि भावनायें; स्वप्न, भ्रम आदि अनुभव; अनुमान, निश्चय, संशय आदि तर्क; गणित, कवित्व आदि मानसिक शक्तियाँ, आदि।

कभी नहीं देखते।* अिस कारण प्रत्यगात्मा विषय-रहित केवल ज्ञान-शक्ति या क्रिया-शक्तिके रूपमें नहीं दिखाअी देता; बल्कि ज्ञाता और कर्त्ता-रूपमें प्रतीत होता है। अिसलिअे जब हम यह कहते हैं कि 'मैं आत्मा हूँ'; तब हमारा मतलब यह होता है कि 'मैं ज्ञाता और कर्त्ता हूँ — कुछ जाननेवाला और कुछ करनेवाला हूँ'।

२. फिर, विषय-सम्बन्धके कारण तथा ज्ञान और क्रिया-शक्तिके फल-स्वरूप हमें अपने अन्दर दूसरे दो धर्म और भी मालूम पड़ते हैं: अेक अिच्छाधर्मित्वका और दूसरा भोक्तृत्वका। यानी हमें केवल यही नहीं प्रतीत होता कि 'मैं ज्ञाता और कर्त्ता हूँ', बल्कि यह भी अनुभव होता है कि 'मै अिच्छा-धर्मी हूँ यानी काम — संकल्प — वासनावान हूँ, और विषयोंका भोक्ता हूँ'।

३. अिच्छाधर्मित्व और भोक्तापन या अिन दोनोंके परिणाम-स्वरूप अिन अिच्छाओंकी शुद्धाशुद्धताके विचारसे और सुखदुःखादि भावोंसे हमारा सम्बन्ध अनिवार्य हो जाता है। अर्थात् हम अपनेको 'मैं अच्छा हूँ, मैं पापी हूँ', 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ', आदि द्वन्द्वोंके रंगोंसे रँगा हुआ ही देखते हैं।

परन्तु अिस सम्बन्धमें थोड़ा अधिक विचार करनेकी ज़रूरत है।

'मैं ज्ञाता हूँ, मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, अिच्छावान हूँ' — अिस भान या ज्ञानमें चैतन्य और विषयका सम्बन्ध तो है, परन्तु विषयके प्रकारका विचार शामिल नहीं है; किन्तु 'मैं पुण्यवान हूँ, पापी हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ' आदि ज्ञानमें केवल विषयके सम्बन्धका ही भान नहीं है, बल्कि विषयके भेदका अथवा विवेकयुक्त आत्मत्वका भी भान है। अिस प्रकार जब भेद अथवा विवेकका खयाल शामिल हो जाता है तब अुसे हम चित्त कहते हैं, और चैतन्यसे अलग समझनेका प्रयत्न करते हैं।

---

* 'योगाभ्यासके बिना' ये शब्द मुझे यहाँ जोड़ने चाहियें; परन्तु यहाँ हम योगाभ्यासियोंका विचार नहीं कर रहे हैं। स्थूल दृष्टिसे जितना समझ सकते हैं अुतनेका ही विचार कर रहे हैं।

आत्मज्ञानके अुपदेशक प्रायः हमें बताते हैं कि अिच्छाओंकी शुद्धाशुद्धता तथा भावोंकी विविधताके साथ आत्मत्व — अपनापन — न मानना चाहिअे। वे कहते हैं कि ये तो चित्तके धर्म हैं, चैतन्यके नहीं। लेकिन जबतक वासनाओं और भावनाओंकी शुद्धि होकर अुचित रीतिसे अुनका अन्त नहीं आता, तबतक चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय तो भी यह अुपदेश दिलमें टिक ही नहीं पाता। कभी-न-कभी जाग्रतिमें या स्वप्नमें, बार-बार नहीं तो अेकाध बार ही, हमें महसूस होता ही है कि ये वासनायें और भाव हमसे अलग नहीं हैं। सारांश, हमको सिर्फ़ 'ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, अिच्छावान' आदि भानयुक्त चैतन्यमें ही आत्मत्वका अनुभव नहीं होता, बल्कि 'पुण्यशील, पापी, सुखी, दुःखी' अित्यादि भानयुक्त चित्तके साथ भी अुसकी प्रतीति होती है। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहें तो हम यह कहें कि 'मैं चित्त हूँ', या यह कि 'मैं आत्मा हूँ'; पर जबतक यह चित्त संशुद्ध नहीं हो गया है, तबतक अिन दोनों वाक्योंका तात्पर्य अेक ही होता है।* वेदान्तके अुपदेशक चाहे कितना ही समझावें, फिर भी लाखों मनुष्योंके लिअे तो 'प्रत्यक्ष आत्मा' चित्त-रूप ही रहता है, और अिसीलिअे वे आत्म-शुद्धि, आत्म-विकास, आत्मोद्धार आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं।

अिस प्रकार चैतन्यकी ज्ञान और क्रिया-शक्ति सजीव शरीरके सम्बन्धमें ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, अिच्छावान, वासनावान तथा भाववान, संक्षेपमें चित्त-रूप प्रतीत होती है।

अब शरीरके सम्बन्धके कारण अुसमें दिखाअी देनेवाली मर्यादाओंका विचार करें।

१. शास्त्रोंमें जो सिद्धियाँ और विभूतियाँ बतायी गयी हैं अुन सभीको कोअी मनुष्य प्राप्त कर ले, तो भी वे ज्ञान और क्रिया-शक्तिका किंचित् अंश ही होती हैं। मनुष्य जितना जानता है या जितना कर सकता है, अुसकी अपेक्षा जो वह नहीं जानता और नहीं कर सकता है, वह

---

* अिसीसे कभी जगह मन या चित्तके लिअे भी शास्त्रोंमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग होता है।

बहुत अपार है ।* अिसी प्रकार अुसका भोक्तापन, अुसकी वासनायें और अुसके भाव भी मर्यादित हैं । अिसमें दो प्रकारकी मर्यादायें पायी जाती हैं, अेक विविधताकी दृष्टिसे और दूसरी अंशत्वकी दृष्टिसे । अिस कारण प्रत्यगात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, विश्वका अुपादान-कारण-रूप और विभु नहीं मालूम होता, बल्कि अल्प और अणु मालूम होता है ।

२. फिर, यह भी याद रक्खा जाय कि यह मर्यादा स्थिर नहीं, बल्कि नित्य बदलती रहती है । प्रत्यगात्मामें ज्ञान, क्रिया आदि सब शक्तियाँ बढ़ती-घटती रहती हैं, अिससे चित्त निरन्तर, अेकरूप नहीं दिखाअी देता, बल्कि नित्य नयी स्थितिमें प्रवेश करता हुआ प्रतीत होता है ।

३. अिसका कर्त्ता-भोक्तापन तथा अिच्छा-बल चाहे कितना ही महान् और बार-बार यशस्वी हुआ दिखाअी देता हो, फिर भी अुसमें स्वाधीनता नहीं मालूम होती । यह सिद्धि अुन संयोगों और शक्तियों पर भी अवलम्बित है, जो प्रत्यगात्मासे बाहर हैं । अिन सब बाह्य शक्तियों और संयोगोंको अेकत्र-रूपसे दैव कहिये, परमात्मा कहिये, या व्यापक चैतन्य कहिये, प्रतीत यह होता है कि प्रत्यगात्मा अिस परम चैतन्यके अधीन है ।

---

* जैसे, अिस बातको जाननेवाला कोअी मिल जायगा कि दूसरेके मनमें अिस समय क्या चल रहा है; परन्तु खुद अपने मनमें दस मिनट बाद कौन-सा विचार स्फुरित होगा, सो वह न कह सकेगा । जीवनका अनुभव बताता है कि मनुष्य चाहे कितनी ही विद्वत्ता, बुद्धि, वैज्ञानिक शोधमें प्रवीणता या योग-सिद्धि प्राप्त कर ले, फिर भी अेक मनुष्य दूसरेको परिपूर्ण माननेमें समर्थ नहीं होता । अैसा हो सकता है कि पचास-साठ सालतक अेक साथ रहे हों, फिर भी अेक-दूसरेको अच्छी तरह न पहचान पाये हों । यह तो ज्ञानकी साधारण मर्यादा हुअी । कर्तृत्वके विषयमें यदि कोअी दौड़नेकी अत्यन्त शक्ति प्राप्त कर ले, तो अुसकी अुड़नेकी शक्ति मर्यादित हो जाती है । यदि साधनोंमें शक्ति डालते हैं, तो खुदकी शक्ति कम हो जाती है । फिर, सृष्टिकी अुत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्ति मर्यादित है, और ज्ञानकी गहराअीमें ज्यों-ज्यों अुतरते हैं, त्यों-त्यों अुसका क्षेत्र विस्तृत ही विस्तृत होता दिखाअी देता है ।

अिस प्रकार जो व्यक्ति श्रेयके अन्ततक नहीं पहुँचा है, बल्कि अभी श्रेय-मार्गका पथिक ही है अुसे अपने चित्तमें ही यह तत्त्व प्रतीत होता है। अिस आत्मत्वमें चैतन्यका निश्चय तो है, परन्तु यह चैतन्य अुसे अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, अणु, अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, आदि भेदोंके ज्ञानसे युक्त और पराधीन मालूम होता है। फिर, यह प्रत्यगात्मा जितने क्षेत्रपर व्याप्त दिखाअी देता है अुससे अनन्त गुणा अधिक क्षेत्र अैसा बाक़ी रह जाता है, जिसपर चैतन्यकी व्याप्ति तो दिखाअी देती है, परन्तु प्रत्यगात्माकी नहीं। अिस शेष, भासमान, अनन्त, चैतन्यमें भले ही असंख्य प्रत्यगात्मायें हों, परन्तु अुस अनन्तको अपने प्रत्यगात्मासे पृथक् समझकर अुसे परमात्मा, परमचैतन्य, परमतत्त्व, परमेश्वर आदि नामोंसे वह सम्बोधित करता है।

प्रत्यगात्मा जिन-जिन विषयोंके तथा विश्वकी शक्तियोंके सम्बन्धमें आता है वे अुसे अपनेसे भिन्न मालूम होती हैं, और अुनका भला-बुरा असर अुसपर होता है। कोअी श्रेयार्थी हो या न हो, किन्तु वह अिनमेंसे कुछ विषयों और शक्तियोंका सम्बन्ध या सम्पर्क चाहता है, और कुछका नहीं। अिन सब विषयों और विश्वकी शक्तियोंका अुपादान-कारण यह परमचैतन्य — ज्ञान-क्रियामयी शक्ति — ही है; और अिसलिअे यह परमचैतन्य, परमात्मा अुसे अपनी भिन्न-भिन्न वासनानुसार भिन्न-भिन्न रीतिसे चाहने योग्य (अिष्ट), पहुँचने योग्य (अुपास्य), पसन्द करने और प्रेम करने योग्य (वरेण्य) तथा अधीन होनें योग्य (शरण्य) प्रतीत होता है। अिस तरह चित्त-चैतन्यके लिअे यह परमचैतन्य आलम्बन-रूप हो जाता है। अिस परमात्माको, जैसा कि यहाँ कहा है, चैतन्य-स्वरूप माने या जड़-स्वरूप (प्रकृति); वह अुसकी जिस शक्तिको चाहता है और जिसकी अुपासना करता है, अुसे अेक भिन्न, स्वतन्त्र, देवता माने, या अेक ही परमात्माकी विभूति माने, वह अुसीका आलम्बन लेता है। ज्यों-ज्यों वह विचारकी गहराअीमें पहुँचता जाता है, त्यों-त्यों अुसकी मान्यतामें रहे दोष कम होते जाते हैं।

अिस प्रकार हमने अिस प्रकरणमें प्रत्यगात्मा और परमात्माके लिअे जो विशेषण निश्चित किये वे अिस प्रकार हैं —

प्रत्यगात्मा	परमात्मा
१. विषय-सम्बन्ध होनेसे ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।	१. विषय और प्रत्यगात्मा दोनोंका अुपादान-कारण-रूप, ज्ञान-क्रिया-शक्ति है। ज्ञातापन, कर्त्तापन, और भोक्तापनके भानका कारण अथवा आश्रय है।
२. कामना तथा संकल्प-मुक्त है।	२. कामना अथवा संकल्प (अथवा व्यापक अर्थमें कर्म)की फल-प्राप्तिका कारण है। और अिस अर्थमें कर्म-फल-प्रदाता है।
३. पाप-पुण्यादि और सुख-दुःखके विवेकसे युक्त और अिसलिअे लिप्त है।	३. अलिप्त है।
४. ज्ञान-क्रियादि शक्तियोंमें अल्प अथवा मर्यादित है।	४. अनन्त और अपार है।
५. पूर्ण स्वाधीन नहीं है।	५. तंत्री या सूत्रधार है।
६. अिसकी मर्यादायें नित्य परिवर्तनशील होनेसे स्वरूप-दृष्टिसे नहीं, किन्तु विकास अथवा सापेक्ष दृष्टिसे परिणामी है।	६. अपरिणामी है, और परिणामोंका अुत्पादक कारण है।
७. 'मैं'-रूपमें प्रतीत होता है।	७. 'वह'-रूपमें प्रतीत होता है, और अिसलिअे 'तू'-रूपसे सम्बोधित किया जाता है।
८. अुपासक है।	८. अुपास्य, अेष्य, वरेण्य और शरण्य है।

सगुण ब्रह्म — अुपासनाके लिअे

पिछले प्रकरणमें हमने देखा है कि चित्त अथवा प्रत्यगात्मा, संकल्प अथवा कामनायुक्त, पाप-पुण्यादि और सुख-दुःखादिके विवेकसे युक्त और अिसलिअे लिप्त है, और परमात्मा संकल्पकी सिद्धि या कर्म-फल-प्राप्तिका कारण-रूप और अलिप्त है। अिसके अलावा, परमात्मा प्रत्यगात्मा अथवा चित्तका आदर्श — अुपास्य — प्राप्तव्य है।

आत्माके स्वरूपका विचार करते हुअे अुपनिषद्में कहा है कि आत्मा केवल संकल्पवान और कामनायुक्त ही नहीं, बल्कि वह सत्य-काम और सत्य-संकल्प है, अर्थात्, अपनी अिच्छाको सत्य करनेकी अुसमें शक्ति है, अथवा वह जो अिच्छा करता है सो सिद्ध होती है। अिस वचनकी सत्यता पर किसीको सन्देह हो सकता है, परन्तु विचार करनेसे जान पड़ेगा कि मनुष्यके सब प्रकारके पुरुषार्थोंके मूलमें तीन प्रकारके विश्वास रहते हैं। (१) मैं सत्य-काम, सत्य-संकल्प हूँ, अर्थात् यह विश्वास कि अन्यन्य-रूपसे मैं जिसकी अिच्छा करूँगा वह अवश्य प्राप्त कर लूँगा, (२) यह विश्वास कि मेरी कामनाकी पूर्त्तिके लिअे विश्वमें अखूट सामग्री मौजूद है, और (३) यह विश्वास कि मुझमें अच्छा-बुरा समझनेकी विवेक-बुद्धि है।

अब अिनमेंसे प्रत्येकका हम सविस्तर विचार करेंगे।

चाहे मनुष्य जानता हो या न जानता हो कि मैं सत्य-काम, सत्य-संकल्प हूँ, फिर भी वह अिस विश्वासके आधारपर ही जीवनमें प्रयत्नशील रहता है। प्रयत्नके कअी बार निष्फल होनेपर भले ही वह अपनेको दैववादी कह दे, लेकिन जहाँ कोअी अुपाय अुसे सूझा कि वह तुरन्त अुसे आजमानेके लिअे तैयार हो जाता है। यह सूचित करता है कि आखिरकार आत्माकी संकल्प-शक्तिपर अुसका दृढ़ विश्वास है।

जो वस्तु अपने पास नहीं है, अुसे प्राप्त करनेकी अिच्छाको सफल करनेके लिअे वह जिस अखूट शक्तिपर आधार रखता है, अुसे वह चाहे

आधिभौतिक जड़ प्रकृतिका समुदाय मानता हो या परम-चैतन्य-शक्ति समझता हो, अुसके अन्तस्तलमें यह गहरा विश्वास बैठा हुआ है कि शुभाशुभ वांच्छित मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कोअी-न-कोअी अनन्त वस्तु अवश्य है।

अपनी विवेक-बुद्धि स्थूल हो या सूक्ष्म, दूसरे लोगोंकी दृष्टिसे वह भले ही अुसे सुखमें दुःख और दुःखमें सुख, श्रेयमें हानि और हानिमें श्रेय बतानेवाली मालूम होती हो; फिर भी अन्तको हर आदमी अपनी विवेक-बुद्धिसे ही यह अच्छा है, यह खराब है; यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है; यह पाप है, यह पुण्य है; अिसी तरह, यह सुख है, यह दुःख है; यह हर्षदायी है, यह शोकदायी है; यह शान्ति है, यह अुद्वेग है; अित्यादि निश्चय करता है। अपनी सिद्धि-असिद्धि तथा पुरुषार्थमें यही अुसे माप-दण्डका काम देती है। अिस बुद्धिके अनुसार ही वह सुखकी अिच्छा करता है और सुखका मूल्य ठहराता है। सुख-सम्बन्धी अपने मूल्योंके अनुसार वह धन, अधिकार, शक्ति, गुण, संस्कार, अित्यादि विभूतियोंकी अिच्छा करता है; अिन अिच्छाओंके परिणामोंके अनुभवसे अुसकी बुद्धिमें फ़र्क़ पड़ता है, जिसके फल-स्वरूप अुसके सुख-विषयक मूल्य बदलते हैं, वासनाओंका स्वरूप भी बदलता है, और पुरुषार्थमें भी फ़र्क़ पड़ जाता है। परन्तु यों बार-बार बदलते रहनेपर भी वह अपनी विवेक-बुद्धिका ही विश्वास करता है। जहाँ दूसरोंकी बुद्धिका अनुसरण करता है, वहाँ वह अुस व्यक्तिकी विश्वासपात्रता अपनी बुद्धिसे ही ठहराता है। अिस तरह खुद अपनी बुद्धिके सिवा दूसरा कोअी माप-दण्ड अुसके पास है ही नहीं।

अिस प्रकार अपने सत्य-संकल्पत्वमें विश्वास, संकल्प-सिद्ध करनेवाले अक्षय्यतत्त्वमें श्रद्धा, और अपनी विवेक-बुद्धिको सूक्ष्म और सत्यदर्शी बनानेकी अिच्छा मनुष्य-मात्रमें पायी जाती है।

अब जो श्रेयार्थी है, अुसमें स्वानुभवसे, सद्ग्रन्थोंके पठनसे और महापुरुषोंकी संगतिसे तथा दूसरोंके जीवन-चरित पढ़ने और सुननेसे अपनी अिच्छाओं और प्रतीतियोंका स्वरूप कुछ नीचे लिखे अनुसार बना होता है—

१. परमात्माके सदृश ही अपनी शुद्धि और अलिप्तता सिद्ध हो, और वह परमात्माको पूर्ण रूपमें पहचान ले, और अुस तक पहुँचता जाय।*

२. अिसके लिअे अपनी विवेक-बुद्धिका अुत्तरोत्तर विकास और शुद्धि हो।

३. चित्त-शुद्धिका अपना प्रयत्न दृढ़ और सफल होता जाय।

४. सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, क्षमा, दया, तेजस्विता, वैराग्य आदि व्रतों और गुणोंका विवेकयुक्त अुत्कर्ष होकर अुनकी परिपूर्णता हो; ये शुद्धिके लक्षण हैं।

५. सेवा, दान, परोपकार, न्याय, निर्बलकी रक्षा, आदि सत्कर्मोंमें अुत्साह; यह संशुद्धिकी साधना है। और,

६. परमात्माकी अक्षय शक्तिमेंसे अपने लिअे पोषक सामग्री प्राप्त करनेके वास्ते अुसकी अुस दृष्टिसे योग्य विभूतिका अेकनिष्ठासे चिन्तन; यह परमात्माकी भावना है।

अिस प्रकार देखनेसे मालूम होगा कि यद्यपि जगत्में जो कुछ सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, शुद्ध-अशुद्ध, पाप-पुण्य, गुण-कर्म या वस्तु है, अुस सबका आधार परमात्मा ही है; दैवी शक्ति-जैसा प्रतीत होता हो, या आसुरी शक्ति-जैसा — दोनोंके लिअे परमात्मा ही अक्षय शक्तिका भण्डार है; फिर भी श्रेयार्थीके लिअे परमात्माकी वे सब विभूतियाँ या शक्तियाँ चिन्तन करने या प्राप्त करने योग्य नहीं, बल्कि अुनमेंसे केवल शुद्ध और शुद्धिकारक विभूतियाँ और शक्तियाँ ही चिन्तन और प्राप्त करने योग्य हैं।

'भगवान तो ब्रह्मचारी भी है और व्यभिचारी भी है, सत्यवान भी है और धूर्त भी है, अुदार भी है और कंजूस भी है, क्रोधी भी है, और क्षमावान भी है,' आदि बातें कही जाती हैं। कहनेवाले अितने ही पर खत्म नहीं करते, बल्कि यह भी कहते हैं कि 'अिसलिअे शुभाशुभ, पवित्रापवित्र, यह सब कल्पना है, माया है'; या यह कहते हैं कि 'यह सब भगवानमें है और भगवान्-मूलक है, अिसलिअे सब-कुछ पवित्र ही है'। और अिन बातोंको हृदयमें अच्छी तरह जमा देनेके लिअे श्रीकृष्णको

* देखिये — "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।" (योगसूत्र ३ : ५५) सत्त्व (चित्त) और पुरुष (परमतत्त्व)की समान शुद्धि ही कैवल्य (मुक्ति) है।

व्यभिचारी, धूर्त, भीरु, अित्यादि बताकर अुनके अैसे कर्मोंको पवित्र माना गया और अुनके श्रवण-कीर्त्तनपर जोर दिया गया है ।

परन्तु यह परमात्माके चिन्तनका विपर्यास है । जगत्‌में अुन्नतिका जो क्रम पाया जाता है अुसकी अिसमें अवगणना की गयी है । परमात्मा शुभाशुभ सब गुणों, विभूतियों,* शक्तियोंका भण्डार या बीज है, यह सच है; परन्तु फिर भी, श्रेयार्थीको अुनमेंसे अुन्हीं गुणों, विभूतियों या शक्तियोंका चिन्तन योग्य समझना चाहिअे जो अुसकी सत्त्व-संशुद्धिमें अुपयोगी हों । जो गुणादि अपनी विवेक-बुद्धिको दुःख-रूप, अशुद्ध या अनिष्ट दिखाअी देते हैं, और अिसलिअे जो अपने अन्दर होनेपर भी त्याज्य मालूम होते हैं, अुनके चिन्तनकी ज़रूरत नहीं, बल्कि जिनका विकास करना अभीष्ट है अुन्हींका चिन्तन करना आवश्यक है ।

शुभ और अशुभसे युक्त यह सारा विश्व 'अीशावास्य' है, यह ज्ञान और चिन्तन, अहिंसा, समता, दया, पूज्यता, सहिष्णुता वगैरा भावनाओंके लिअे अुपयोगी है । परन्तु जिसका निरन्तर अनुसन्धान और चिन्तन करना है, जिसके लिअे पुरुषार्थ, प्रार्थना, ध्यान, अभ्यास आदि करना है, वह तो अशुद्ध विभूतियों और शक्तियोंका त्याग है, शुद्धकी प्राप्ति और विशेष शुद्धि तथा अुसका परहितार्थ अुपयोग है ।

अिस प्रकार, अुदाहरणके लिअे, 'नक्षत्रोंका अगुआ चन्द्र मैं हूँ'— परमतत्त्वकी अिस विभूतिका ज्ञान भले ही हो, परन्तु अिसकी स्मृतिका विशेष अुपयोग नहीं; 'जलजीवोंका आदर्श स्वरूप मगर मैं हूँ'— अिसका ज्ञान और स्मृति अिस बातकी याद दिलानेके लिअे अुपयोगी है कि विश्वमें अुत्क्रान्ति जैसा कोअी अेक नियम है; शायद अहिंसा-धर्मका भान करानेमें

* विभूतिका अर्थ है, विशेष रूपसे अुत्पत्ति । जगत्‌में जो कुछ प्रकट रूपसे दिखाअी देता है अुसमें जहाँ कहीं कोअी विशेषता है, वह अुस शक्तिकी विभूति है । परमात्माकी शक्तियाँ जहाँ-जहाँ अिस प्रकार विशेष रूपसे प्रकट हुअी दिखाअी पड़ती हैं कि अुनकी तरफ़ तुरन्त हमारा ध्यान चला जाता है, अुन्हें हम विभूति कहते हैं । जैसे, (भौगोलिक स्थानोंमें) हिमालय, गंगा; (आकाशमें) सूर्य, चन्द्र; (प्राणियोंमें) सिंह, मगर; (मनुष्योंमें) राम, कृष्ण, अर्जुन, बुद्ध, शिवाजी, शंकराचार्य आदि भिन्न-भिन्न दृष्टिसे ।

भी यह अुपयोगी हो सकता है, परन्तु चित्तके विकासके लिअे अिस विभूतिका कोअी अुपयोग नहीं। 'प्राणियोंका सृजनहार काम मैं ही हूँ', और 'ठग विद्याओंका राजा जुआ मैं ही हूँ', यह बात सच है; फिर भी श्रेयार्थीके लिअे ये दोनों त्याज्य हैं। किन्तु 'सेनानियोंका आदर्श स्कन्द मैं हूँ', 'महर्षियोंका आदर्श भृगु मैं हूँ', 'कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा मैं ही हूँ', 'मुनियोंका मुखिया व्यास मैं हूँ', 'प्रतिभावानोंमें श्रेष्ठ पुरुष शुक्र मैं हूँ', अथवा 'कारुणिकोंका आदर्श बुद्ध मैं हूँ', 'अहिंसकोंका आदर्श महावीर मैं हूँ', 'सत्यवादियोंका आदर्श हरिश्चन्द्र मैं हूँ', 'धर्माचारियोंका आदर्श राम मैं हूँ', 'धीर सेवकोंका आदर्श हनुमान मैं हूँ', 'कर्मयोगियोंका आदर्श कृष्ण मैं हूँ', आदि विभूतियोंका चिन्तन और अुन विभूतियोंके मूलमें स्थित शक्तियोंके विकासका प्रयत्न अुचित रूप और स्थानमें आवश्यक हो सकता है।

अिस तरह ब्योरेवार कहें तो सत्व-संशुद्धिके लिअे और अपने जीवनको बनानेके लिअे परमात्माका नीचे लिखे अनुसार चिन्तन और अनुकरण अुचित होगा।

परमात्मा पूर्ण है, अत्यन्त शुद्ध है, किसी प्रकारकी मलिनता अुसे स्पर्श नहीं करती।

वह पूर्णकाम है और निष्काम है। अुसके लिअे कुछ करने योग्य या प्राप्त करने जैसा बाकी नहीं रहा।

फिर भी, लोक-कल्याणके लिअे, संसारमें अव्यवस्था न फैले और समाजका नाश न हो, अिसलिअे वह जगत्के चक्रको नियमित रूपसे और अेक क्षणका भी आलस्य किये बिना चलाता रहता है, और अिस तरह लोगोंको अनासक्तिपूर्वक तथा यज्ञ-निमित्त कर्मयोगके आचरणका अुपदेश करता है।

फिर, यह परमात्मा निरन्तर धर्म-पालक है। विश्वके अचल नियमोंका वह रजके बराबर भी भंग नहीं करता। वह नियमसे सृजन करता है, नियमसे पालन करता है, और नियमके अनुसार ही संहार करता है। क्योंकि, धर्म-पालन अुसका स्वभाव ही है, अिसलिअे वह धर्मकी जय और अधर्मके क्षयका कारण बनता है। मूढ़ मनुष्य जीवनके शाश्वत नियमोंका भंग करके अधर्मके मार्गसे चलनेका बारबार प्रयत्न करते हैं, परन्तु अुनके

प्रयास विफल होते हैं, क्योंकि परमात्माका धर्म-चक्र अकल्पित रूपसे अुनपर फिर जाता है। सच पूछो तो, अधर्मयुक्त आचरण संसार-धर्मको अुत्पन्न करनेवाला अेक नियम ही है।

अिस प्रकार परमात्माके धर्म-रक्षक और अधर्म-नाशक होते हुअे भी अुसमें धर्मीके लिअे पक्षपात या अधर्मीके प्रति द्वेषभाव नहीं। ब्राह्मण और चाण्डाल, पुण्यशील और पापी, गाय और कुत्ता, हाथी और गधा, बाघ और बकरी, सिंह और सियार, सोना और राँगा सबमें वह सम-रूप है; न किसीमें अधिक व्यापक है, और न किसीमें कम। जितनी चिन्तासे सूर्यमें रहकर वह सूर्य-मण्डलकी रक्षा करता है, अुतनी ही चिन्तासे वह छोटी-सी अिल्लीमें भी रहकर अुसकी जातिकी रक्षा करता है; जिस प्रकार वह अेक बड़े सम्राट्के मनोरथोंका फल-प्रदाता है, अुसी प्रकार छोटी-सी दीमकके मनोरथोंका भी है। प्रत्येकके हृदयमें ही रहकर वह अुसे जानता है, और अुसकी मुराद बर लाता है। समबुद्धि तो मानो परमात्माका ही दूसरा नाम है।

अिसी कारण परमात्मा देवोंका देव होते हुअे भी दासानुदास कहलाता है; धर्मका रक्षक और अग्निसे भी अधिक पवित्र होते हुअे भी पतित-पावन है; कठोर नियामक और शासक होते हुअे भी क्षमा, दया और करुणाका भण्डार है। अुसका दिया दण्ड भी हितकारी ही होता है। अिससे परमात्माको प्रेम-स्वरूप भी कहते हैं।

फिर, कर्तापन या ज्ञातापनके अभिमानका और 'मैं'-पनके भानका अुसे स्पर्श नहीं। मैं परमेश्वर हूँ अथवा ब्रह्म हूँ, अैसी कल्पनाकी छाया अुठने जितना भी ज्ञातापनका स्फुरण वह अपनेमें नहीं होने देता; आदि।

अिस तरह परमात्मामें गुणोंका आरोपण करता हुआ श्रेयार्थी अपने अन्दर अिसी प्रकारके गुणोंको बढ़ाने और चरित्रको विकसानेका प्रयत्न करे।

अिसीके साथ, गीतामें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर 'स्थित-प्रज्ञ'के (अध्याय २), 'जीवन-मुक्त'के (अध्याय ५), 'भक्त'के (अध्याय १२), 'ज्ञानी'के (अध्याय १३), 'गुणातीत'के (अध्याय १४), और 'दैवी प्रकृति'के (अध्याय १६) जो लक्षण बताये गये हैं, अुन्हें वह अपनेमें लानेका प्रयत्न करे।

६

सगुण ब्रह्म — भक्तिके लिअे

श्रेयार्थीकी सत्व-संशुद्धिकी दृष्टिसे पिछले प्रकरणमें परमात्माकी चिन्तन करने योग्य विभूतियोंका विचार किया गया। परन्तु चित्तकी भक्तिकी भूख बुझानेके लिअे अितना विचार काफ़ी नहीं होता है। मनुष्य किसीका सहारा खोजता है, सो केवल अनुकरण और अुदाहरणके लिअे नहीं; बहुधा यह हेतु गौण अथवा अदृश्य ही रहता है। अक्सर अपनेको सुख, यश आदिके प्राप्त होनेकी अवस्थामें जिसे नम्रतासे धन्यवाद दे सके, जिसको अुद्देश्य बनाकर वह सत्कर्म करनेकी प्रेरणा पा सके और समर्पण कर सके, अपने चित्तको शान्त करनेके लिअे अथवा जब प्रसन्नता मालूम होती हो तब जिसकी महिमा और कृपाको याद करने और दुःख अथवा आन्तरिक कलहमें धीरज देनेवाला कोअी आधार प्राप्त करनेके हेतुसे, वह आलम्बनको खोजता है, वह अपनी पूज्यता, कृतज्ञता और समर्पणकी भावनाओंका अनुभव कर सके, और सुख, शान्ति तथा धैर्य प्राप्त कर सके, अिसलिअे अुसे आलम्बनकी आवश्यकता रहती है।

अिस दृष्टिसे परमात्मामें किन विशेषणोंका आरोपण किया जा सकता है, अिसका यहाँ विचार करेंगे।

पूज्यता, कृतज्ञता और प्रेमकी भावनायें व्यक्त करनेके लिअे — गीताके सातवें अध्यायके ४से १२ तकके श्लोक यहाँ प्रस्तुत हो सकते हैं। यहाँ अुनका भावार्थ देना अनुचित न होगा —

“पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-रूपी पंच महाभूतोंका तथा मन, बुद्धि और अहंकार-रूपी तीन ज्ञानात्मक शक्तियोंका — अिस तरह भिन्न-भिन्न आठ प्रकारकी प्रकृतिका तथा अिन आठसे भी अूँचे प्रकारकी सब प्राणियोंमें जीव-रूपसे रहकर जगत्को धारण करनेवाली प्रकृतिका कारण यह परमात्मा ही है।

"सब भूत अिस परमचैतन्यसे ही अुत्पन्न हुअे हैं, यही सारे जगत्की अुत्पत्ति और प्रलयका कारण है। अिससे परे, अिसका भी कारण-रूप, और कोअी नहीं है।

"जैसे धागेमें मनके पिरोये हुअे होते हैं, वैसे ही सारा जगत् अिस तत्त्वमें पिरोया हुआ है।

"प्रत्येक महाभूतमें अुसकी तत्त्व-रूप मात्राके रूपमें यही परमतत्त्व है — पृथ्वीमें गन्ध-रूपसे, अग्निमें तेज-रूपसे, वायुमें स्पर्श-रूपसे और आकाशमें शब्द-रूपसे।

"सूर्य-चन्द्रमें किरण-रूपसे, वाणीमें प्रणव-रूपसे, मनुष्यमें पुरुषत्व-रूपसे और सब प्राणियोंमें जीवन-रूपसे वही है।

"तपस्वियोंका तप वही है, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंकी तेजस्विता, बलवानोंका काम और राग-रहित बल और प्राणियोंमें धर्मके अप्रतिकूल काम — यह सब अुस परमात्माके कारण ही है।

"सर्व भूतोंका सनातन-बीज वही है। संसारमें जो कुछ सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं, वे सब अुसीके द्वारा हैं।"

सुख, शान्ति और धैर्यके लिअे — वह परमात्मा अत्यन्त ऋत* है। अपने अविचल नियमोंके अनुसार ही सदैव क्रियावान है; ऋत होनेके कारण विश्वके नियमोंके अधीन रहकर ही वह काम करता है। वह कभी अनृत (नियमोंको भंग करनेवाला) होता ही नहीं।

वह परिपूर्ण न्यायी है। सबमें समान रूपसे रहा है। अुसके लिअे न कोअी अपना है, न कोअी पराया; न अेक प्रिय है, न दूसरा अप्रिय। अुसके न्यायमें अपराधीके प्रति क्रोध व तिरस्कार नहीं, बल्कि दया, करुणा और कल्याणकी भावना है। जिसको वह दण्ड देता है अुसका भी आखिर तो हित ही होता है। अिसलिअे अक्सर वह अपने भक्तके लिअे,

---

* झूठके अर्थमें अनृत शब्द हमारे लिअे परिचित है। ऋत शब्द साधारण साहित्यमें नहीं आता। ऋतके अर्थमें केवल सत्य ही गर्भित नहीं बल्कि, अटल नियम (Law, Order)के अनुसार चलनेवाला और फलतः सत्य, यह भी सूचित है। अनृतका अर्थ है, नियमका अुल्लंघन करनेवाला और अिसलिअे झूठ। ऋतु शब्द भी अिसी धातुसे बना है। (ऋत = कठोरतासे शासन करना, जाना)।

अुसके हितकी दृष्टिसे संकट-रूप दिखाअी देनेवाली परिस्थिति पैदा करता है। अनेक भक्तोंने यह गाया है कि अैसे संकट परिणाममें अुनके लिअे आशीर्वाद ही हो गये हैं। और वे प्रायः अैसे संकटोंकी याचना भी करते हैं।

जो अेक निष्ठासे अिसीकी वाञ्छना करते हैं, अिसीकी तलाश करते हैं, अुन्हें अैसी बुद्धि प्राप्त होती है, जिससे वे अिसे प्राप्त कर सकें। अुनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश होता है, और अज्ञान मिट जाता है, क्योंकि वह सत्य संकल्पका दाता है।

वह साक्षी-रूपसे हृदयमें भासता है; वह अितना निकट है कि जो चाहें अुन्हें अपने हृदयमें ही अुसकी प्रतीति हो सकती है।

वह परमचैतन्य है; प्रत्यगात्मा भी स्वरूपतः चैतन्य ही है। अतअेव जगत्में जो कुछ स्वकीय, आत्मीय, अपना मालूम होता है, अुस सबसे अधिक स्वकीय और प्रीतिका पात्र और हितकारी वही है।

अिस कारण वही श्रेष्ठ और परमालम्बन है।

समर्पणके लिअे — समर्पणमें दो प्रकारके विचार मिलते हैं — अेक तो यह कि अपनेमें जो कुछ कर्तृत्व है वह परमात्माके कारण है, अिस विचारसे अुसका गर्व न करना, बल्कि अुसका सारा श्रेय अुस परमात्माको ही देना; और दूसरा यह कि अपना अंकुश या अधिकार जिन-जिन पर हो अुन सबको — शरीर, मन, बुद्धि, अिन्द्रियाँ और बाह्य पदार्थ तथा अपने, आप्तजनको भी — परमात्मा-प्रीत्यर्थ दूसरोंकी सेवामें लगाना।

जिस प्रकार जगत्की तमाम शुभ-अशुभ विभूतियोंका आश्रय परमात्मा ही है, फिर भी श्रेयार्थीके लिअे केवल शुभ विभूतियाँ ही चिन्तन करने योग्य हैं, अुसी प्रकार जो कुछ सत्कर्म और दुष्कर्म हों अथवा हृदयमें सद्वृत्ति या दुर्वृत्ति पैदा हो, वह सब अिस तत्त्वके कारण ही है, तथापि यह मानना भ्रमकारक हो जाता है कि श्रेयार्थीको अिन सबका समर्पण करना है। सच पूछो तो जबतक चित्तकी संशुद्धि अधूरी है, कुछ अशुद्धि बाकी है, तबतक समर्पणका तो केवल प्रयत्न ही होता है, वह पूर्णतया सिद्ध नहीं होता। अिस कारण यदि कोअी अैसी भावना करने लगे कि कुकर्म भी परमात्माके ही कारण होते हैं, तो या तो वह दम्भी बन जाता

है, अर्थात् कुकर्मोंके समर्पणकी तो बात करता है और सत्कर्मोंका अभिमान रखता है; अथवा, यदि वह सच्चा श्रेयार्थी है तो कुकर्म समर्पित हो गये हैं अिस भावनापर वह दृढ़ रह ही नहीं सकता, और केवल सत्कर्मोंका ही श्रेय परमात्माको देकर अुनके विषयमें निरहंकार होनेमें सफल होता है। श्रेयार्थीके लिअे यही हितकारी भी है। अशुद्धि धो ही डालनी है, अतअेव अशुद्ध कर्मोंका कर्तृत्व अपनी तरफ़ लेकर ही वह पुरुषार्थके पथमें क़ायम रह सकेगा, और समर्पणकी भावनासे शुद्ध कर्मोंके विषयमें निरहंकारी बन सकेगा।

अपना सब कुछ परमात्माके प्रीत्यर्थ जगत्की सेवामें लगा देना संशुद्धिका अेक खास साधन और परमात्माके प्रति प्रीतिका विशिष्ट लक्षण है। सीधी-सादी भाषामें अिसका स्वरूप अिस प्रकार है: वह किसी सत्कार्यके लिअे अपना जीवन अर्पण कर दे और अुस सत्कर्मके फल-स्वरूप अुसकी अपनी सत्व-संशुद्धि हो तथा वह सत्य समझ जाय, अिसके सिवा दूसरे किसी स्वार्थ या लाभकी अुसे स्पृहा नहीं होती। अत्यन्त निस्पृह भावसे परहितके लिअे त्याग ही परमात्मा-प्रीत्यर्थ समर्पण है।

परमात्माका अैसा आलम्बन बुद्धिकी सूक्ष्मताके अनुकूल है। विचार और वृत्तियोंकी शुद्धि तथा भावोंका विकास होते-होते अुसकी बुद्धि परमतत्त्वकी प्रतीति करने योग्य बनती है। अपना सत्व अुसे परमात्माके जैसा ही शुद्ध और अलिप्त होता हुआ मालूम पड़ता है। अपने और परमतत्त्वके बीच पहले जो अपार अन्तर जैसा मालूम होता था वह धीरे-धीरे कम होता जाता है और अुसे अनुभव होने लगता है कि ख़ुद अुसके और परमात्माके बीच भेदकी अपेक्षा अभेद ही अधिक है। जो कुछ भेद रहा दिखाअी देता है वह तात्विक नहीं, बल्कि परिमाणका ही है — जैसे, सिन्धु और बिन्दुका। फिर, अिसके बाद वह अैसी स्थितिको प्राप्त करता है जहाँ न तो वह अपनेको परमात्मासे अलग ही समझ सकता है और न सोच ही सकता है, धीरे-धीरे अुसीमें वह निष्ठ या स्थित हो जाता है; और यही निरालम्ब स्थिति या आत्म-निवेदन-भक्ति है।

जिस प्रकार पाकशास्त्र पढ़ लेनेसे पेट नहीं भरता, बल्कि अन्नको पकाकर खानेसे ही पेट भरता है, अुसी प्रकार वेदान्तके पढ़नेसे या 'अहंब्रह्मास्मि' आदि वाक्योंका अर्थ केवल बुद्धि द्वारा समझ लेनेसे

आत्मामें 'निष्ठा' (अचल स्थिति) नहीं हो सकती। जबतक चित्तमें संघर्ष है तबतक कोअी चाहे अद्वैतवादी हो या विशिष्टाद्वैतवादी या द्वैतवादी, और कोअी चाहे ऋषि, अवतार, गुरु या पैगम्बर ही क्यों न माने जाते हों, सब प्रयत्नशील जीव ही हैं। अतः सबका निस्तार — किसी-न-किसी आलम्बनको अपनानेमें ही है। यह आलम्बन विचारके द्वारा गलित नहीं हो सकता; जब वह निष्प्रयोजन हो जायगा तो अपने आप ही गल पड़ेगा।

७

परमात्माकी साधना

ज्ञान, भक्ति और कर्म

श्रेयार्थी पुरुषके लिअे परमात्माके आलम्बनकी आवश्यकताके विषयमें, अुस आलम्बनके शुद्ध प्रकारके विषयमें, तथा अुसकी महिमा और फलके विषयमें अितना विवेचन हुआ। अब अुसकी साधनाका कुछ विचार कर लें।

अिस सम्बन्धमें ज्ञान, भक्ति और कर्मकी बहुत चर्चा आजतक हुअी है, और वह सब बहुत-कुछ मोक्षके सिलसिलेमें हुअी है।

अेक पक्ष कहता है — 'मोक्ष जीवनका ध्येय है, और **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं; यही अन्तिम साधन है। भक्ति और कर्म, ये परम्परासे चित्त-शुद्धिके साधन हो सकते हैं, परन्तु अन्तिम साधन नहीं।'

दूसरा पक्ष कहता है — 'भक्ति जीवनका साधन और साध्य दोनों है। ज्ञान और कर्म दोनों भक्तिके विकासके लिअे आवश्यक हैं। लेकिन, प्रेम-स्वरूप बन जाना और विश्व-प्रेमका अनुभव करना ही सर्वात्म-भाव और मोक्ष है।'

तीसरा पक्ष कहता है — 'कर्मयोग ही संसिद्धिका श्रेष्ठ साधन है। निष्काम-भावसे जीवनके कर्त्तव्य करनेसे चित्त-शुद्धि और ज्ञान दोनों प्राप्त हो सकते हैं। अकेला ज्ञान निष्फल है, और अकेली भक्ति अुन्माद है।

ज्ञान और भक्तिका संचार तमाम सांसारिक कर्त्तव्योंमें और समग्र जीवनमें होना चाहिअे।'

ये तीनों पक्ष अेकको महत्त्व देकर दूसरे दोको कुछ गौण स्थान प्रदान करते हैं, फिर भी कम-ज़्यादा तीनोंको मानते हैं।

चौथा पक्ष कहता है—'ज्ञान, भक्ति और कर्म, ये तीन स्वतंत्र साधन हैं। अिनमेंसे जो जिसकी रुचिके अनुकूल हो वह अुसी मार्गको ले।'

फिर पाँचवाँ पक्ष ज्ञान और भक्तिका समुच्चय चाहता है। वह कहता है कि 'चित्तकी दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—बुद्धि और भावना। बुद्धिकी सूक्ष्मता और भावनाओंकी शुद्धि हो, तो अुसके श्रेयके लिअे वह काफ़ी है। अुसका मोक्ष निश्चित है।'

छठा पक्ष ज्ञान और कर्मके समुच्चयको मानता है। वह कहता है कि 'चैतन्यकी दो शक्तियाँ है—ज्ञानात्मक और क्रियात्मक। ज्ञान कर्मकी प्रेरणाके लिअे है और कर्म ज्ञानकी वृद्धिके लिअे है। अिन दोनोंके बीचमें भावना रहती है। लेकिन वह आनुषंगिक है और अपने आप निर्माण होती है। यदि सत्य-ज्ञान और शुद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति ये दो बातें सध सकें, तो सात्त्विक भावना अिन दोनोंके संयोगसे अपने आप अुपस्थित हो जायगी।'

फिर सातवाँ पक्ष ज्ञानकी अवगणना करके भक्ति और कर्मका समुच्चय बताता है। वह कहता है कि—'मनुष्यमें बुद्धि न हो तो चल सकता है, यदि वह प्रेम-भीना और कर्मयोगी हो, तो आवश्यक ज्ञान अुसे अपने आप मिल जायगा, और न मिले तो भी क्या, अपने भक्तियुक्त कर्ममें ही अुसे अपना मोक्ष दिखाअी देगा।'

कह नहीं सकते कि अिन वादोंका कभी कोअी निर्णयकारी अन्त भी आ सकेगा या नहीं। लेकिन यदि हम चित्तके धर्मका और हमारे जीवनपर किस नियमके द्वारा अुसका कैसा असर होता है, अिसका थोड़ा विचार करें, तो वह व्यर्थ न होगा। और सम्भव है कि अुससे हमें यह जाननेका कुछ साधन प्राप्त हो कि अपने लिअे किस समय क्या अुचित है, और दूसरे लोग किसी ख़ास बातपर क्यों ज़ोर देते हैं।

हमारे अन्दर ज्ञान मौजूद है, भावनायें अुठती हैं, और कर्म करनेकी शक्ति भी है। अपने अन्दर अिन तीनोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिअे हमें किसी शास्त्रको पढ़नेकी ज़रूरत नहीं।

फिर विचार करने से मालूम होगा कि हमारी ज्ञान-शक्ति तीन प्रकारका काम करती है — ज्ञान* प्राप्त करनेका, कर्ममें प्रेरणा करनेका और कर्मको रोकनेका।

जानमें या अनजानमें हम कुछ-न-कुछ अनुभव प्राप्त करते हैं, और अुस अनुभवके फल-स्वरूप, जैसा अुचित हो, कोअी काम करने लगते हैं, या कोअी काम करते हुअे रुक जाते हैं।

परन्तु ज्ञानका किसी भी प्रकारका संस्कार जगने और कर्माकर्मकी प्रेरणा होनेके दरमियान अेक विचला अनुभव होता है, और वह है भावनाका।

किसी भी पदार्थके साथ जब हमारा स्थूल या मानसिक सम्बन्ध होता है तब वह हमारे चित्तके तारको किसी तरह हिला देता है। अिस हलचलसे हमारे अूपर अेक निश्चित अनुभवके भानका संस्कार पड़ता है, और अेक भावनाका संस्कार अुठता है। यह भावनात्मक संस्कार भी चित्तपर दो प्रकारका असर करता है — (१) चित्तमें किसी प्रकारका गुण-निर्माण करनेका और (२) सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अवस्था पैदा करनेका। जब अेक खास क़िस्मकी भावनाके संस्कार बार-बार अुठते रहते हैं, तो वह भावना हमारा स्वभाव बन जाती है। अिन भावनाओंमें सूक्ष्म भेद बहुतेरे हैं; जैसे, दया, कृपा, अनुकम्पा, करुणा, क्षमा, अुदारता, आदि; अथवा क्रूरता, कठोरता, तिरस्कार, क्रोध, वैर, लोभ वग़ैरा। परन्तु अिन सब भेदोंके मूलमें दो ही भावनायें हैं; प्रेम या आत्म-भाव अथवा समभावकी, अथवा द्वेष या पर-भावकी। जिस वस्तुके कारण हमें अनुभवका संस्कार होता है अुसके प्रति हमको या तो प्रेम — राग — या समभाव प्रतीत होता है, अथवा द्वेष या पर-भाव।

---

* अिस प्रकरणमें 'ज्ञान' शब्दमें तीन बातोंका समावेश है — नवीन जानकारी प्राप्त करना, नवीन अनुभव प्राप्त करना, पुराने अनुभव अथवा पुरानी जानकारीके विषयमें नवीन दृष्टि प्राप्त करना। अिन तीन बातोंमें से अेक भी बात प्राप्त कर ली जाय, तो कह सकते हैं कि हमने नया ज्ञान प्राप्त किया।

जब अैसी भावनाका संस्कार बहुत बलवान होता है, तो किसी कामको करने या रोकनेकी प्रेरणा होती है।

अिस तरह ज्ञान और कर्माकर्म प्रेरणा, अिन दोनोंके दरमियान भावनाका अनुभव रहता है।

ज्यों-ज्यों ज्ञानका संस्कार बार-बार होता है, त्यों-त्यों भावना दृढ़ होती जाती है। ज्यों-ज्यों भावना दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेरणा अथवा अिच्छा-शक्ति बल प्राप्त करती जाती है। जब प्रेरणा-शक्ति बहुत प्रबल हो जाती है तब वह या तो कर्म करनेमें अथवा कर्मसे रुकनेमें परिणत हो जाती है।

जब अैसा कर्म या अकर्म होता है, तो अुसके बाद फिर ज्ञानका, भावनाका और प्रेरणाका संस्कार अुठता है। अेक बार अथवा बारम्बार जब अैसा कर्माकर्म होता है, तब अुसके फल-स्वरूप कर्म या अकर्म-विषयक हमारे विचार और भावनामें फ़र्क़ पड़ता है, और अुसकी वजहसे प्रेरणामें भी फ़र्क़ पड़ जाता है। कअी कर्म जो हमें पहले-पहल सुख-रूप अथवा अच्छे लगते हैं, वे पीछे दुःख-रूप या खराब लगने लगते हैं; कअी जो पहले जी अुबानेवाले अथवा दुःख-रूप लगते थे, वे पीछेसे प्रिय या सुख-रूप मालूम होते हैं। और दोनोंकी बदौलत हमारी कर्माकर्म-प्रेरणामें फ़र्क़ पड़ जाता है। अिस तरह ज्ञान, भावना और कर्मका चक्र चला करता है।

अिसपर से यह ध्यानमें लेना ज़रूरी है कि भावनाओंके दो प्रकार हैं। जैसा कि अूपर कहा गया है, जिस किसी भावनाका हमें भान होता है अुसके दो भाग होते हैं — पहला अुस विषयके प्रति प्रेम या समभावका अथवा द्वेष या पर-भावका; और दूसरा, अुससे हमें होनेवाले सुख अथवा दुःखका। प्रेम और द्वेषकी भावना गुणात्मक है और सुख-दुःखकी भावना अवस्थात्मक। अब यह कोअी नियम नहीं है कि प्रेमात्मक भावनाओंके साथ सुखका ही अनुभव हो। कभी-कभी तो प्रेमके कारण ही दुःख होता है, और द्वेषयुक्त कर्म करनेसे सुख हो सकता है।

अब मनुष्य अपनी भावनाओंके अनुशीलनमें गुणात्मक भावनाओंको महत्त्व दे या अवस्थात्मकको, अिस सम्बन्धमें दो पक्ष हैं। अेक कहता

है — 'दुःख चाहे आयें, परवाह नहीं, परन्तु प्रेम आदि भावनाओंकी ही प्रयत्न-पूर्वक संवृद्धि की जानी चाहिये। सुख-दुःख तो क्षणिक अवस्थायें हैं, और गुण चित्तकी स्थायी सम्पत्ति है। यह नहीं कह सकते कि पचास वर्षतक सुखका अनुभव करनेसे फिर दुःखका अनुभव होगा ही नहीं, अथवा सुखी रहनेकी आदत पड़ जायगी। अिसके विपरीत, प्रेमादि गुणोंका अनुशीलन करनेसे दुःखको भी शिरोधार्य कर सकेंगे, और प्रेमल स्वभाव-रूपी स्थायी-सम्पत्ति प्राप्त होगी। हम द्वेष-हीन होनेकी आशा तो रख सकते हैं, किन्तु दुःख-हीन होनेकी नहीं। अितना ही नहीं, बल्कि सुखी अवस्थाका बार-बार अनुभव करनेकी विशेष सम्भावना प्रेमादि गुणोंकी वृद्धि द्वारा ही है। द्वेषसे होनेवाला सुख क्षणिक है, और अुसकी स्मृति दुःखकर ही है। अिसके विपरीत, प्रेमसे कभी दुःख भी हो तो वह भी स्वागत-योग्य हो जाता है, और अुस दुःखकी स्मृति सुखकर हो सकती है। अिससे कुल मिलाकर अधिक सुख भी प्रेम तथा समभावकी गुणात्मक भावनाओंके पोषणमें ही है। यही भक्ति-मार्गकी बुनियाद है।'

दूसरा पक्ष गुणात्मक भावनाको महत्त्व नहीं देता, किन्तु अवस्थात्मक भावनाको अपना लक्ष्य बनाता है। वह कहता है — 'सुखी होना मनुष्यका ध्येय है। प्रेमी होना स्वतंत्र-रूपसे ध्येय नहीं, परन्तु अनुभवसे द्वेषकी बनिस्बत प्रेमसे अधिक सुखकी संभावना मालूम होती है, अिसलिअे सुखी होनेके वास्ते प्रेमादि गुणोंका पोषण अेक हदतक चाहे किया जाय। लेकिन क्योंकि प्रेमसे दुःख भी हो सकता है, अिसलिअे लम्बे हिसाबसे प्रेमादि गुण भी त्याज्य हैं, और अिसलिअे न प्रेम, न द्वेष, अैसी निर्गुण स्थिति प्राप्त करना अुचित है।' फिर, वे कहते हैं कि 'जब गुणात्मक भावना पैदा होती है तब वह किसी-न-किसी विषयका स्मरण करके ही पैदा होती है अर्थात् यह भावना विषयावलम्बित है। किन्तु अवस्थात्मक भावनामें दुःख तो विषयावलम्बी है पर सुख स्वभाव-सिद्ध है। जब विषयका भान नहीं होता, तब मनुष्य सुखी ही है; सुख अुसे कहीं लेने नहीं जाना पड़ता। वह तो मौजूद ही है। विषयके भानसे वह खोजा जा सकता है। प्रेमादि गुणोंसे सुखकी भावना पैदा होनेका जो अनुभव होता है, वह अेक भ्रम ही है। जिस प्रकार शराब और भाँग आदिके व्यसनसे

कअी लोग अपनेको सुखी अनुभव करते हैं, परन्तु दरअसल तो अिसमें
अुन्हें धोखा ही होता है, अुसी प्रकार प्रेमादि गुण जो सुख-रूप मालूम
होते हैं, अुसका कारण यह है कि वे गुण सात्विक हैं, अिसलिअे अधिक-
तर अनुकूल वेदनायें अुत्पन्न करते हैं। परन्तु लम्बे हिसाबसे तो वह
अवस्था अस्थिर होनेके कारण दुःख-रूप ही है। अिस तरह विचारशील
मनुष्यके लिअे जो विषयजन्य या गुणजन्य सुख है वह भी दुःख ही है,
और अिसलिअे अुसे विषयकी स्मृतिको छोड़नेका और निर्गुण होनेका प्रयत्न
करना चाहिअे। विषय और गुण परस्पर अेक-दूसरेसे मिले हुअे हैं।
अिसलिअे गुणों द्वारा दुःख रहित स्थिति कभी नहीं प्राप्त हो सकती।'
यह ज्ञान-मार्गकी असली बुनियाद है।

अिन दोमेंसे किस पक्षको स्वीकार किया जाय, अिसका निश्चय
करना श्रेयार्थीके लिअे कठिन नहीं। यह असम्भव है कि देहके रहते हुअे
विषयकी स्मृति अुत्पन्न न हो। पुराणोंमें हम अुन लोगोंकी कथायें सुनते
हैं, जो हज़ारों सालोंतक समाधि लगाते थे। किन्तु अेक दिन हो या
हज़ारों वर्ष हों, यदि वे जीवित रहे, तो किसी-न-किसी दिन अुन्हें समाधिमेंसे
अुठना ही पड़ता है, और अुठे नहीं कि देह और जगत्‌का भान अर्थात्
स्मृति हुअी नहीं। स्मृतिके साथ ही गुणात्मक भावनाओंको भी जाग्रत
होना ही है। ये भावनायें यदि सात्विक न हों, तो राजस या
तामस होंगी। अर्थात् यदि साधकने प्रेमादि गुणोंका पोषण न किया हो
और द्वेषादि गुणोंका भी ज़ोर वह न दिखाता हो, तो बहुत सम्भव है
कि निर्गुणताके नामसे अुसने मूढ़ता या जड़ताका ही पोषण किया हो।
फिर यदि बहुतांशमें द्वेषादि गुणोंका ज़ोर हो तो विषय-विस्मृति अधिक समय
तक टिक भी नहीं सकती। अब, जबतक वह समाधिमें रहता है, तब-
तक निद्रित मनुष्य-सा है। जब वह समाधिसे जाग्रत होता है तब अुसकी
क़ीमत अिस बातमें नहीं है कि वह सुखात्मक या दुःखात्मक अवस्थामें
रमता है, बल्कि अिस बातमें है कि वह किन गुणोंको प्रदर्शित करता है।

अिसपरसे दो बातें साफ़ होती हैं — भक्ति अर्थात् प्रेमादि सात्विक
गुणोंका अनुशीलन जीवनका साध्य भी है या नहीं, अिस बातका निश्चय
भले ही न हो सके, तो भी यह बात पक्की है कि वह साधना अवश्य

है। क्योंकि भावनाका अनुभव चित्तका अनिवार्य अंग है, अिसलिअे अुचित भावनाओंका अुचित रीतिसे पोषण या अनुशीलन मनुष्यके विकास-क्रमकी अेक अनिवार्य सीढ़ी है।

अब हम फिरसे ज्ञान, भावना और कर्मके सम्बन्धका विचार करें। अूपर कहा जा चुका है कि ज्ञान भावनाका पोषण करता है, भावनाकी दृढ़ता कर्माकर्मकी प्रेरणा करती है, और कर्म या अकर्मके अन्तमें फिरसे ज्ञान पैदा होता है। अिस तरह यह चक्र चलता रहता है। फिर, अूपर हमने यह भी देखा है कि प्रेम, भक्ति आदि भावनाओंके पोषणसे श्रेय-प्राप्ति होती है, और द्वेषादि भावनायें श्रेयमें विघ्न डालती हैं।

परन्तु ज्ञान, भावना और कर्मके अिस चक्रके सम्बन्धमें कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं —

१. यह कहना ठीक नहीं कि ज्ञानके परिणाम-स्वरूप तुरन्त ही भावना अुत्पन्न होती है, और भावनाके फल-स्वरूप तुरन्त ही कर्म होता है या होता हुआ रुक जाता है। अेक ही प्रकारका अनुभव बार-बार होते-होते बहुत समय बाद भावना दृढ़ होती है। भावनाके दृढ़ होनेके बाद भी कितने ही समय तक अैसा मालूम होता है मानो वह भावना वन्ध्या ही है। क्योंकि भावनाके रहते हुअे भी अुसके फल-स्वरूप कोअी कर्म होना ही चाहिअे, अैसी प्रेरणा अभी नहीं होती। अिस तरह कितना ही समय निकल जानेके बाद मनमें विचार आता है कि अिस भावनाके अनुरूप कोअी कर्म होना चाहिअे। परन्तु वह कर्म क्या हो, और कैसे किया जाय, अिसके विचारमें बहुत समय चला जाता है। अिसके बाद ही धीरे-धीरे भावनाके अनुरूप कर्मके प्रयोग होते हैं। अन्तमें जाकर अैसा मालूम होता है कि अब वह कर्म-मार्ग हाथ लग गया है, जिससे वह भावना सफल हो सके। अिस कर्म-मार्गका बार-बार अभ्यास करनेसे अुसमें कुशलता प्राप्त होती है। जब किसी अेक भावनाको सिद्ध करनेके लिअे क्या करना चाहिअे और कैसे करना चाहिअे, अिसका ज्ञान और अुसको सफल बनानेकी शक्ति सिद्ध हो जाती है, तो कह सकते हैं कि अुस भावनासे सम्बन्ध रखनेवाला कर्मयोग सिद्ध हुआ। कर्मयोगकी सिद्धिके बाद भी जब अैसी स्थिति हो जाय कि अनुभव, भावना और कर्म तीनों अेक ही साथ होने लगें, तीनोंके बीचमें

थोड़ा भी समय न बीतने जितनी शीघ्रता प्राप्त हो जाय, तब वह कर्मयोग पूर्ण हुआ-सा लगेगा।

जबतक किसी अनुभवके स्वरूपका निश्चय नहीं होता, तबतक कुछ समय अश्रद्धामें, कुछ तटस्थतामें, और कुछ निश्चयको दृढ़ करनेमें चला जाता है। जबतक ज्ञानकी दृढ़ता नहीं होती, तबतक अुससे भावना जाग्रत तो होती है, परन्तु अुसकी तरफ़ ध्यान नहीं जाता। अिससे मनुष्य अिस प्रकारकी ज्ञान-प्राप्तिको ही ध्येय मान लेता है।

ज्ञानके पच जानेके बाद ज्ञानद्वारा जाग्रत भावनापर दृष्टि जाती है, और अुस भावनाका पोषण अुसका ध्येय बनता है। केवल ज्ञान अुसे शुष्क मालूम होता है। लेकिन अुसे यह प्रतीति नहीं होती कि भावनाके साथ कर्मकी भी ज़रूरत है। अिसलिअे भावनाका अनुशीलन ही अुसका ध्येय बन जाता है।

भावनाके दृढ़ हो जानेपर निरी भावना अुसे वन्ध्या मालूम होती है। अुस भावनाको कर्म-परिणामी देखनेके लिअे चित्त अुत्सुक होता है। सबसे पहले यह परिणाम केवल वाणीमें आकर स्थित होता है; धीरे-धीरे दूसरी अिन्द्रियोंमें भी संचार करता है, फिर यह कर्म अुसका स्वाभाविक कर्म बन जाता है।

अिस तरह अेक प्रकारके कर्मको कुशलतापूर्वक, सहज रीतिसे करने तकका ज्ञान, भावना और कर्मका चक्र अेक ही जीवनमें सिद्ध हो जाता हो, सो हमेशा नहीं होता। अिस चक्रकी गति प्रायः अितनी धीमी होती है कि कभी-कभी सारा जीवन ही ज्ञानको दृढ़ करनेमें, अथवा भावनाका पोषण करनेमें, या वाचा-कर्ममें ही, पूरा हो जाता है। अिस-तरह कअी लोग केवल ज्ञानकी महिमा, कअी भक्ति अथवा प्रेमकी महिमा और कअी कर्माचरण किये बिना अुसकी महिमा गानेमें ही जीवन पूरा कर देते हैं। फिर कर्माचरणकी पूर्णताके सिद्ध होनेमें भी बहुत सा समय चला जाता है।

समाजमें भी हम यह देखते हैं कि किसी प्रकारका ज्ञान, तदनु-सारिणी भावना और तदनुसार कर्ममें प्रवृत्ति होनेमें अक्सर कितनी ही

पीढ़ियाँ चली जाती हैं। यह बताता है कि अेक जन्ममें ज्ञानसे ही शुरू करके कर्माचरणकी पूर्णतातक नहीं पहुँचा जाता।

२. अेक प्रकारके कर्माचरणकी सिद्धि होनेसे, अर्थात् अेक प्रकारके कर्मको कुशलतासे पूरा करनेका सामर्थ्य आ जानेसे ही यह न समझना चाहिअे कि चित्तका विकास पूरा हुआ।

अुसकी सिद्धि हो जाने के बाद बहुत समयतक अुस कर्म-कौशलका नशा रहता है, और अुसका फल भोगनेमें मनुष्य मशगूल रहता है। परन्तु धीरे-धीरे अिस कर्म-कौशल और अिसे जन्म देनेवाले ज्ञान और भावना के प्रति अुसका मोह अुतर जाता है। यही नहीं, बल्कि अिनके प्रति मनमें अरुचि भी पैदा होती जाती है। ये ज्ञान, भावना और कर्म तीनों अिसे दुष्ट, मिथ्या अथवा निर्जीव मालूम होते हैं, और आगे क्या, अथवा आगे कुछ तो होना चाहिअे, अैसा भास अुसे होने लगता है, और फिर नवीन जानकारी, नवीन अनुभव या पुरानी जानकारी या अनुभव के विषयमें नवीन दृष्टिकी तलाशमें वह लगता है। अतअेव अब फिर अुसके लिअे ज्ञान-युगका श्रीगणेश होता है। अिस प्रारम्भके सिलसिले में वह अपनी कर्म-प्रवृत्तिका निग्रह भी करता हुआ दिखाअी देता है। अपार श्रम के फल-स्वरूप दृढ़ हुआ कर्म-मार्ग अुसे कष्ट-दायक भी लगने लगता है, और वह अैसे कर्म-मार्गकी निन्दा करता हुआ दिखाअी देता है। *

---

* अिस कारण अक्सर अैसा होता है कि जिस बातमें मनुष्य पूर्ण हुआ होता है, अुसके लिअे अुसकी ख्याति होनेके बदले जिसकी वह साधना करता है अुसमें अुसकी ख्याति होती है, और अुसका जीवन-कर्म अुसके प्रसिद्ध मतोंके विरुद्ध मालूम पड़ता है। दो अुदाहरणोंसे यह बात स्पष्ट हो जायगी — शंकराचार्यकी ख्याति निवृत्ति मार्गके पुरस्कर्ता और ज्ञानको ही महत्त्व देनेवालेके रूपमें है। फिर भी अुनका जीवन हिन्दू-धर्मकी पुनःस्थापना करनेकी योजना बनाकर अुसके लिअे प्रचण्ड प्रवृत्ति करनेमें बीता। और, अैसा मालुम होता है कि अिसमें अुन्होंने कर्म-कौशलका भी भली-भाँति परिचय दिया है। फिर भी अुन्होंने कर्म-प्रवृत्तिकी निन्दा ही की है। अिसका कारण यही मालूम होता है कि अैसे प्रकारके कर्ममें कुशलता अुन्हें जन्मसे ही सिद्ध थी, और आत्म-ज्ञानकी साधना अुन्हें करनी पड़ी। अिससे अुल्टा अुदाहरण

परन्तु, यह क्रिया अुतनी सफल नहीं, जितनी मैं लिखता हूँ। बीते हुअे जीवनके अनेक अनुभव, भावनायें और कर्मोंके परिणाम अेक-दूसरेसे लिपटते हुअे चलते हैं, और अिसलिअे यह क्रिया हमेशा अितनी आसान नहीं होती कि अिसका पृथक्करण हो सके। अेक प्रकारके कर्माचरणके चलते, अुसके दरमियान ही दूसरे ज्ञान और भावना के अनुशीलन भी कुछ अंशमें शुरू हो गये होते हैं। अितना ही कह सकते हैं कि अेक निश्चित विषयमें क्रमका स्वरूप अिस प्रकारका होता है।

अिस तरह, जिस प्रकार समाजमें अुसी प्रकार व्यक्तिमें भी किसी-न-किसी प्रकारकी ज्ञान-प्राप्ति, अुसके बाद अुसकी दृढ़ता, बादमें भावनाका विकास और फिर वाणीके और कर्माचरणके युगोंका चक्र चलता रहता है।

अिस प्रकार मूढ़ ज्ञान, तामसी भावना और तामस कर्मोंमेंसे राजस ज्ञान, राजस भावना और राजस कर्ममें अेवं राजसमेंसे सात्विक ज्ञान, सात्विक भावना और सात्विक कर्ममें चित्तका विकास-मार्ग दिखाअी देता है।

(३) अिस तरह विचार करनेसे मालूम होता है कि आत्म-स्वरूपका निश्चय यदि ज्ञानका अन्त हो, तो यह प्रतीति दृढ़ होनेके बाद सर्वात्म-भावी भावनाओंकी जाग्रति होनी चाहिअे। और अिस भावनाके दृढ़ होनेके बाद तदनुरूप कर्माचरण भी होना चाहिअे।

यों अेक ओरसे जिज्ञासाका अन्त होने और दूसरी ओरसे सर्वात्म-भावी भावनाओंके परिणामरूप कर्माचरणके सहज बनने तक श्रेयार्थीका कर्त्तव्य-मार्ग यह होगा —

लोकमान्य तिलकका है। अुन्होंने प्रवृत्ति-धर्मकी श्रेष्ठता स्थापन करनेके लिअे बड़ा परिश्रम किया, परन्तु जीवनमें अुन्होंने ज्ञान-योगका ही अतिशय आचरण किया; विद्वत्तापूर्ण विविध ग्रंथोंका लेखन और अपने मतके प्रचारके लिअे अुपदेश, राजनीतिमें भी नवीन आचारकी अपेक्षा नव-विचारकी स्थापना, अुन्होंने बहुत अच्छी तरह की। स्वराज्यका विचार अुन्होंने किया, किन्तु स्वराज्य-प्राप्तिकी कोअी निश्चित योजना या अुसपर अमल करानेकी कुशलता अुनमें न थी। अतअेव कर्मयोगके अनुशीलनके लिअे अुन्होंने श्रम किया और कर्मयोगके आचार्यके रूपमें ख्याति प्राप्त की। परन्तु स्वभाव-सिद्ध तो अुन्हें ज्ञानयोग ही था, और अुसीका आचरण अुन्होंने किया।

१. सात्विक ज्ञान, अर्थात् जिसमें अपना तथा सबका अुत्कर्ष सिद्ध हो, वैसा ज्ञान प्राप्त करना और आध्यात्मिक विषयमें परमतत्त्व-विषयक जानकारी या प्रतीति अथवा तत्सम्बन्धी दृष्टि प्राप्त करना।

२. सात्विक प्रेमादि भावनाओंका और परमात्माके प्रति भक्ति-भावका पोषण करना। और

३. सात्विक अर्थात् जिनमें सबका हित हो और जो प्रेमकी दृढ़ताके फल-स्वरूप सूझें अैसे कर्मोंमें कुशलता प्राप्त करना।

हो सकता है कि अिस कर्त्तव्य-मार्गमें कअी लोग पहली भूमिकामें जाते हों, तो कअी दूसरीमें और कअी तीसरीमें। जो मनुष्य जिस भूमिकाके लिअे प्रयत्न करता है, अुसे अुसके बाद आनेवाली भूमिकाका ज्ञान नहीं होता, और पीछे छोड़ी हुअी भूमिकाका महत्त्व मालूम नहीं होता, बल्कि यह प्रतीत होता है कि अबतक तो मैं भ्रममें पड़ा हुआ था, और अब मुझे सच्चा मार्ग हाथ लगा है और यह भूमिका ही आखिरी साध्य है। अतअेव वह ज्ञान, भक्ति या कर्मकी ही महिमा गाता है।

मेरी दृष्टिमें अिस तरह श्रेय-प्राप्तिके लिअे ज्ञान, भक्ति या कर्ममेंसे कोअी अेक ही मार्ग नहीं है, अथवा तीन स्वतंत्र मार्ग भी नहीं हैं, अथवा यह कहना भी कठिन है कि दो-दोका या तीनोंका समुच्चय करना चाहिअे। बल्कि (१) ज्ञान-प्राप्ति, अुसके बाद भावनाका अनुशीलन और अुसके बाद कर्मयोगकी पूर्णता, अैसा विकासका क्रम दिखाअी पड़ता है। किन्तु (२) जो मनुष्य जिस भूमिकामें पहुँचता है अुसके लिअे वह भूमिका तात्कालिक ध्येय बनती है। स्थूल दृष्टिसे समाजमें भी भूमिकाके अैसे युग होते हैं, और (३) जिस विषयका कर्मयोग पूर्ण होता है, अुसके पूर्व-गामी ज्ञान और भावना स्वभाव-सिद्ध होने ही चाहिअें। अतअेव, अेक तरहसे कर्मयोगकी पूर्णतामें ज्ञान और भावनाका समास हो जाता है, हालाँ कि हो सकता है कि अिसका भान अुसे न हो।

यह तो सामान्य नियमके अनुसार हुआ, परन्तु सुयोग्य मार्ग-दर्शक, अुचित साधन, और अनुकूल अवसरके अभावमें तथा शारीरिक और दूसरी शक्ति और परिस्थितिके भेदोंके कारण जुदा-जुदा श्रेयार्थीको प्रत्येक भूमिकामें कितने समय तक ठहरना पड़ेगा, अुसका कितना समय नष्ट होगा,

और अुसे कितना परिश्रम करना पड़ेगा, सो कहा नहीं जा सकता। बहुतोंका सारा-का-सारा जीवन किसी अेक ही भूमिकामें बीत सकता है; और दूसरे कअियोंकी प्रगति बड़ी तेज़ीसे भी हो सकती है।

८

परमात्माकी साधना—२

स्थूल प्रकार

परमात्माकी साधनाके बारेमें ज्ञान, भक्ति और कर्म सम्बन्धी अितना तात्त्विक विवेचन हुआ। अब अिसके कुछ स्थूल प्रकारोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे।

सब मनुष्योंकी रचना अेक-सी नहीं है। यही कारण है कि सबके लिअे अेक ही प्रकारकी विधिका होना ज़रूरी नहीं। परमेश्वरके साथ अपनी लौ लगानेके लिअे किसीको स्तवन-भक्तिकी ज़रूरत महसूस होती है, तो किसीको नहीं होती; किसीको जप अनुकूल होता है, तो किसीको वह मिथ्याचार मालूम होता है; कोअी अेकान्तमें ही अुसका चिन्तन कर सकताहै, तो कोअी समुदायमें; किसीको सुन्दर चित्र, धूप-दीप-गन्ध आदिकी शोभाके बिना और किसीके चित्तको बाजे, संगीत आदिकी मददके बिना आलम्बनकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती, तो किसीको समुद्र-तट, गिरि-शिखर आदि प्राकृतिक सौंदर्यके स्थान और मौनकी ज़रूरत मालूम होती है; कअी लोगोंको अुसके लिअे तपकी आवश्यकता महसूस होती है, और कअीको नहीं। फिर भी अिसके सम्बन्धमें कुछ सामान्य बातें अैसी हैं, जिनका विचार किया जा सकता है।

१. अनुसन्धान या लौ लगानेके लिअे कुछ अंशतक अेकाकी चिन्तनकी अपेक्षा है ही। अेकाकीका अर्थ मनुष्य-समाजसे बिलकुल ही दूर रहना नहीं है, बल्कि अुसका अर्थ है, किसी शान्ति-युक्त स्थानमें, जहाँ दूसरे खलल न डाल सकें, चिन्तन करना।

परमात्माकी साधना–२

२. अनुसन्धानके लिअे कुछ हदतक सत्संगकी भी ज़रूरत होती है। सत्संगका अर्थ है, अपनेसे विशेष पवित्र जनोंका सहवास तथा समान प्रकृतिके श्रेयार्थीके साथ अुपासनामें सहयोग।

३. सत्व-संशुद्धि-सम्बन्धी कुछ अनुशीलन खानगी या वैयक्तिक रूपमें हो सकता है, और कुछ सामाजिक जीवन बिताकर तथा सामाजिक कर्त्तव्योंका पालन करके ही हो सकता है कुछ प्रकारके तप, स्वाध्याय, ध्यानाभ्यास, पश्चात्ताप, अनुताप आदि खानगोमें किये जाते हैं, और दया, दान, कर्मयोग, दुर्बल-रक्षा, अन्याय-प्रतिकार आदि प्रकट अनुशीलनके प्रकार हैं।

४. चित्त और चैतन्यकी समान संशुद्धि जीवनका ध्येय होनेके कारण, और चित्तके समग्र जीवनके साथ जुड़े हुअे होनेके कारण, परमात्माका आलम्बन भी जीवनकी सब छोटी-बड़ी बातोंके साथ संकलित है। अिस आलम्बनका स्थान कोअी मन्दिर, तीर्थ या क्षेत्र ही नहीं है, और न अुसके अनुसन्धानका समय, सन्ध्या या सप्ताह अथवा वर्षका कोअी निश्चित दिन ही है। जीवनकी प्रत्येक क्रियाके साथ अुसका अनुसन्धान करना चाहिअे।

५. अिस अनुसन्धानको सफल बनानेके लिअे अेक तत्त्वमें श्रद्धा रखना महत्त्वपूर्ण है।

अिस 'अेक तत्त्वमें श्रद्धा'का अर्थ क्या है, सो ज़रा स्पष्ट रूपसे समझ लेनेकी ज़रूरत है।

'अेक तत्त्वमें श्रद्धा'के लिअे अलग-अलग सम्प्रदायोंमें अलग-अलग शब्द प्रचलित हैं—जैसे 'अेक परमेश्वरमें निष्ठा', 'अनन्य आश्रय', 'अनन्य भक्ति', 'अेकान्तिक भक्ति', 'अेक टेक', 'पतिव्रता-जैसी भक्ति', 'अव्यभिचारी भक्ति', आदि।

अिस श्रद्धाके लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. अिस जगत्का सारा तंत्र अेक ही देवके अधीन है, अनेक देवोंके अधीन नहीं, और अपना अिष्टदेव ही वह परमेश्वर है।

२. अिस अिष्टदेवकी अनेक प्रकारकी शक्तियाँ भले ही हों, और वह प्रत्येक शक्ति खास-खास प्रयोजनके लिअे भी हो, पर अिन भिन्न-भिन्न शक्तियोंका ध्यान, भक्ति, अुपासना, आश्रय आदि करनेकी ज़रूरत

नहीं । 'ज़रूरत नहीं' यही नहीं, बल्कि अुनके जंजालमें पड़ना दोष-रूप है, और अुससे मन अस्थिर होता है।

३. अिसलिअे जो कुछ सकाम या निष्काम भक्ति करनी वाजिब हो वह सिर्फ़ अेक अिष्टदेवकी और अुसीके नामसे करनी चाहिये।

४. अिस अिष्टदेवसे कम या अधिक या समान कोटिके किसी दूसरे देव-देवी या शक्तिकी कल्पना करके अुसका आश्रय लेना अुचित नहीं, अतः वह अैसे देवी-देवताओंकी अुपासना, ध्यान, भक्ति आदिकी झंझटमें नहीं पड़ेगा, जिनकी कल्पना अपने अिष्टदेवकी अपेक्षा भिन्न प्रकारसे होती है।

५. अिस प्रकार, यह जानते हुअे भी कि परमेश्वर, अल्लाह, यहोवा, अहुरमज़्द, गॉड आदि अेक ही देवके दर्शक नाम हैं, वह अपने अवलम्बनके लिअे कोअी अेक ही नाम पसन्द करेगा, जो अुसे रुचिकर और स्वाभाविक लगता हो।

९

श्रद्धायुक्त नास्तिकता

परमात्माकी साधनाके स्थूल प्रकारोंके अुपयोगमें बहुत विवेककी ज़रूरत है। योग्य विवेकके अभावमें बाज़ दफ़ा केवल रूढ़ि-पूजा, मिथ्याचार, दम्भ, भ्रम, अन्ध-श्रद्धा, वहम और श्रद्धाके रूपमें निरी नास्तिकताका पोषण होता है। श्रेयार्थीको चाहिअे कि अैसे प्रकारोंको निषिद्ध समझे, और महज़ बाह्य और अूपरी सात्विकताके भुलावेमें न पड़कर ज़्यादा गहराईमें जाय व सच्ची सात्विकता पैदा करे। अैसी कुछ त्याज्य बातोंका अुल्लेख यहाँ करता हूँ।

१. काल्पनिक देवताओंका अनुष्ठान भ्रमोत्पादक होता है, तिसपर अुसके मूलमें क्षुद्र कामना या भीति रहती है।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणपति, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी, अित्यादि अनेक देवी-देवताओंकी अुपासना हमारे देशमें होती है। अिन देवी-देवताओंके

निश्चित आकार, चिह्न, आदिकी कल्पनायें की गयी हैं। और यह भी माना गया है कि ब्रह्मलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, कैलाश, आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके रचनावाले धामोंमें अिनका निवास है।

अिन सब बावतोंके बारेमें विद्वान् लोग समझते हैं कि ये सब देवी-देवता काव्यात्मक रूपक हैं, और अिनके द्वारा परमात्माकी अलग-अलग विभूतियाँ और शक्तियाँ सूचित होती हैं। जैसे, युधिष्ठिरको धर्मराज कहते हैं, अिसका अर्थ यह हुआ कि जो अत्यन्त धर्म-परायण राजा हो अुसे युधिष्ठिर-जैसा होना चाहिअे। अथवा जैसा कि हम कहते हैं कि अमुक बहन दयाकी साक्षात् देवी है, अुसी प्रकार, लेकिन कुछ भिन्न रीतिसे, कवियोंने परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न शक्तियों और विभूतियोंके लिअे जुदा-जुदा आकार, गुण, चिह्न आदिकी कल्पना की है। अिससे यह न समझना चाहिअे कि अैसे आकारके कोअी देवी-देवता या धाम कहीं सचमुच हैं। पर अुदा-हरणके लिअे यह माना जा सकता है कि परमेश्वरकी विद्या-शक्ति अेक देवी है, जिसके स्वच्छ, सफ़ेद वस्त्र हैं, और जिसने वीणा, पुस्तक, हंस, आदि शुभ सामग्रियाँ धारण की हुअी हैं। विद्या-शक्ति-सम्बन्धी कुछ तर्क करते रहनेकी अपेक्षा अैसी कल्पना करना रम्य मालूम होता है। अिस-लिअे सरस्वतीका अैसा वर्णन करके विद्याकी पवित्रताका संस्कार कराया जाता है।

विशेष प्रकारके विद्वान् ही अिस सम्बन्धमें अैसा स्पष्टीकरण करते हैं। परन्तु सभी विद्वान् अैसा ही समझते हों, अथवा समझकर केवल काव्यका ही आनन्द प्राप्त करते हों, अैसी कोअी बात नहीं। और जन-साधारण तो अिन सब वर्णनोंको अक्षर-अक्षर सत्य ही मानते हैं। अर्थात् वे समझते हैं कि अिन देवी-देवताओंके और अिनके धामोंके जैसे वर्णन किये जाते हैं, सचमुच वैसे ही आकार, चिह्न, गुण और धाम रखनेवाले ये जुदा-जुदा सत्व वास्तवमें हैं, और फिर अलग-अलग वाञ्छनाओंके लिअे तथा भिन्न-भिन्न प्रसंगपर वे अुनकी पूजा करते हैं। फिर श्रेयार्थी निष्काम भक्तके लिअे तो अिनके अक्षरशः सत्य होनेकी दृढ़ श्रद्धा ही तीव्र भक्तिका और अिनसे मिलनेकी छटपटाहटका कारण होती है। जब अुसको पहले-पहल यह मालूम होता है कि यह तो केवल कल्पना ही है तब अुसकी

स्थिति अुस कानें मनुष्यकी तरह हो जाती है, जिसकी रही-सही अेक आँख भी फूट जाय; या समुद्रमें डूबते हुअे अुस मनुष्यकी तरह हो जाती है, जिसके हाथसे वह तख्ता भी छूट जाय, जिसे पकड़कर वह अबतक साँस ले रहा था।

यह भ्रम अितना व्यापक हो गया है कि हिन्दुओंमें देवताओंकी संख्या जो तैंतीस कोटि कही गयी है, अुसमें 'कोटि' शब्दका वास्तविक अर्थ 'करोड़' नहीं, बल्कि 'वर्ग' होता है, और यह बात आचार्य श्री आनन्दशंकर ध्रुव-जैसे दो-चार विद्वान् ही जानते हैं; बाकी तो साधारण लोग ही नहीं, बल्कि बहुतसे विद्वान् भी कोटिका अर्थ 'करोड़' ही करते हैं, और मानते हैं कि हिन्दुओंमें तैंतीस करोड़ देवी-देवताओंकी पूजा होती है।

अद्वैतवादी सनातनी अैसे अनेक देवी-देवताओंकी अुपासनाका और 'अेक ब्रह्म' के सिद्धान्तका मेल अिस तरह बैठानेका प्रयत्न करते हैं, जिससे अिन दोनोंमें कोअी विरोध न दिखाअी दे, और यों वे अनेक देवी-देवताओंकी पूजाका भी समर्थन करते हैं। परन्तु यह सफ़ाअी केवल पाण्डित्य ही रह जाती है। जन-साधारणकी समझमें अिससे कोअी स्पष्टता नहीं आती। अुन्हें विद्वानोंका यह पाण्डित्य देवी-देवताओंका परोक्ष खण्डन ही मालूम होता है, और अिस सफ़ाअीसे अुन्हें सन्तोष नहीं होता। अैसे स्पष्टीकरणोंको ही ध्यानमें रखकर शायद श्री सहजानन्द स्वामीने शिक्षापत्रीमें अिस प्रकार लिखा है—

> कृष्णकृष्णावताराणां खण्डनं यत्र युक्तिभिः।
> कृतं स्यात्तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन ॥*

अैसी अुपासनासे न श्रेयार्थीका कोअी कल्याण होता है, न लोगोंका ही। बल्कि, अनेक प्रकारके झगड़े ही पैदा होते हैं। अिसमें कोअी शक नहीं कि हज़रत मुहम्मदने अेक अीश्वरकी अुपासनापर ज़ोर देकर और अनेक देवी-देवताओंको लगभग जड़-मूलसे अुखाड़कर सत्यकी अमूल्य सेवा की है। हिन्दू-धर्मके भी कुछ सम्प्रदायोंमें अनन्याश्रयके

* जिन शास्त्रोंमें कृष्ण या कृष्णके अवतारोंका युक्तिसे खण्डन किया गया हो, अैसे शास्त्रोंको कभी न मानना चाहिये।

नामसे अैसे कुछ प्रयत्न हुअे हैं, परन्तु वे कुछ दिशामें बहुत कमज़ोर और सिद्धान्तमें शिथिल, तो कुछमें अतिशय संकुचित हैं। फिर अुनमें अपने अिष्ट देवकी पसन्दगीमें आखिर किसी काल्पनिक देवताको स्थान है ही।

(२) चित्तको प्रसन्न और अेकाग्र करनेके लिअे पूज्य जनोंकी मूर्तिका अुपयोग करनेमें हानि नहीं है। परन्तु मूर्तिको प्राणवान समझकर अुनकी प्रत्यक्ष अथवा मानस पूजा, अर्चा, नैवेद्य, जुलूस आदि विधियाँ भ्रमपूर्ण हैं। यह भ्रम ही अधिकतर धर्मको जीवनसे अलग कर देनेवाला अथवा जीवनको कृत्रिम मार्गमें ले जानेवाला होता है।

(३) अिसी हेतुसे तथा सत्संगकी सुविधाके लिअे मन्दिर, मसजिद-जैसे निश्चित स्थान रखनेमें कोअी हर्ज़ नहीं। अिन स्थानोंके लिअे पवित्रताकी भावना निर्माण होना स्वाभाविक है। परन्तु अिनके विषयमें अिससे भी अधिक दिव्यता या महिमाकी कल्पना भ्रम और वहमकी पोषक हो जाती है। अिससे जो साधन है वही साध्य बन जाता है। और, यह भ्रम ही अनेकांशमें जुदा-जुदा अनुगमों और सम्प्रदायोंके लोगोंमें होनेवाले कलहका कारण है।

(४) अैसे स्थानोंमें परमात्मामें लौ लगानेका हेतु तो अुचित है; परन्तु यदि अिनका आग्रह अैसा स्वरूप धारण कर ले कि जिससे असहिष्णुता, वहम, जान या अनजानमें अुत्पन्न होनेवाले विघ्नोंसे चित्तको विक्षेप ही हो, विघ्न डालनेवालोंके प्रति क्रोध या तिरस्कार पैदा हो, अथवा कर्त्तव्य-भ्रष्ट होकर ही वह आग्रह रक्खा जा सकता हो, तो अैसे आग्रहको श्रद्धायुक्त नास्तिकता ही कहना होगा। जीवनके अन्ततक किये गये अिस प्रकारके अनुसन्धानकी अपेक्षा यदि निस्पृहतासे अेक छोटे-से भी जीवको सुखी करनेकी चिन्ताका अनुसन्धान किया जाय, तो वह परमात्माका अधिक अुदात्त आलम्बन होगा।

(५) ज्ञानेश्वरने 'अज्ञान' का निरूपण करते हुअे अैसी श्रद्धायुक्त नास्तिकताका नीचे लिखे अनुसार वर्णन किया है—

"जिस तरह किसान अपनी खेती बढ़ाता है अुसी तरह वह अेकके बाद दूसरे, अिस तरह, अनेक देवोंकी सेवा करता है, और पहले देवकी तरह ही अिस दूसरे देवकी पूजाका आडम्बर भी बढ़ाता है। . . .

वह प्राणियोंके प्रति तो कठोर शब्द बोलकर अुनका तिरस्कार करता है, और पाषाणकी मूर्त्तिसे विशेष प्रेम रखता है। अेक निष्ठाके साथ भक्ति करके वह सन्तुष्ट नहीं रह सकता। वह मेरी मूर्त्तिको तो घरके अेक कोनेमें बैठाता है, और ख़ुद दूसरे देवताओंके स्थानोंकी यात्रा करता फिरता है। वह रोज़ तो मेरी पूजा करता है, परन्तु किसी कार्य-सिद्धिके लिअे कुल-देवताको पूजता है, और किसी पर्व-त्योहारके दिन किसी तीसरे ही देवताका पूजन करता है। घरमें मेरी स्थापना करके भी वह दूसरे देवी-देवताओंकी प्रार्थना करता है, और श्राद्ध-पक्षमें पितरोंकी पूजा करता है। जिस तरह अेकादशीके दिन विष्णुकी भक्ति करता है अुसी तरह नाग-पंचमीके दिन नागकी पूजा करता है, चतुर्थीके दिन गणेशकी भक्ति करता है, और चतुर्दशीके दिन देवीकी पूजा करके प्रार्थना करता है— 'हे जगदम्बे, मैं तेरी ही शरण हूँ।' आवश्यक नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको छोड़कर नवरात्रिमें नवचण्डीका पाठ वग़ैरा करता है, भैरव और 'मेलड़ी' माताके नामका खिचड़ा लोगोंको बाँटता है, और सोमवारके दिन बिल्वपत्र लेकर शंकरपर चढ़ाता है। अिस तरह वह अनेक देवताओंकी सेवा करता है, . . . और प्रत्येकसे सदा विषयोंकी ही याचना करता रहता है।"

किन्तु जो लोग अेक ही देवको मानते हैं, अुनमें भी अैसी श्रद्धायुक्त नास्तिकताके लक्षण दिखाअी पड़ते हैं। जैसे, वे अपने देवकी अेक ही मूर्त्ति स्थापित करके सन्तोष नहीं मानते, बल्कि दो-चार अेक-सी या जुदा-जुदा प्रकारकी प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं; और अुनमेंसे किसीको अधिक पूज्य — बड़े ठाकुरजी — और किसीको कम पूज्य समझते हैं। फिर यदि भक्त अपने पूजनेकी प्रतिमाको घर छोड़कर दूसरे गाँव गया हो, और वहाँ अुसी देवकी अुसी प्रकारकी दूसरी प्रतिमाकी पूजा की हो, तो भी मनमें असन्तोष मानता है कि आज ठाकुरजीकी पूजा नहीं कर पाया। वैसे ही, जब कभी दूसरे भक्तकी अैसी ही प्रतिमाको अपनी प्रतिमाके साथ पूजनेका मौक़ा आता है, तब जिस प्रकार क्षुद्र स्वभावकी माता अपने और दूसरेके बच्चोंमें भेद-दृष्टि रखती है अुसी प्रकार प्रतिमामें भेद-दृष्टि रखकर वह अपनी प्रतिमाको अग्रस्थान, अग्रपूजा, अित्यादि दिलानेका आग्रह रखता है। पूजा, अर्चा आदि विधियाँ अुचित हों, तो भी

अुनका तत्त्व पूजन-सामग्री या विधियोंमें नहीं, बल्कि पूजनकी श्रद्धामें है, अिस बातको वह भूल जाता है, और केवल रूढ़िके वश होकर कहता है — "मेरे ठाकुरजीकी पूजा तो अमुक ही प्रकारकी विधिसे होनी चाहिअे।" परन्तु यदि अुसी देवताकी वैसी ही दूसरी प्रतिमा हो, तो "अिन ठाकुरजीके लिअे अैसे 'नेक' * का नियम नहीं है," अिस प्रकारके विचार रखता है। श्रद्धायुक्त नास्तिक अेक मूर्त्तिके या अेक मन्दिरमें देवके दर्शन करके कृतार्थ नहीं हो सकता, बल्कि गाँवमें जितने भी मन्दिर होंगे, सबके दर्शन करने दौड़ता है।

अिसके अलावा, श्रद्धावान नास्तिक जड़ देव या स्थानकी पूजाके आग्रहकी खातिर चेतनकी हिंसा करने लगता है, दूसरे लोगोंके साथ लड़ाई-झगड़ा करता है, और अुसमें भी अनीतिका आचरण करनेमें नहीं हिचकिचाता। अपने अिष्टदेव या स्थानकी महिमा बढ़ानेके लिअे वह झूठी कथायें रचता है, प्राचीन पुस्तकोंमें क्षेपक घुसेड़ता है, और मानव-अदालतमें अिष्टदेवका अेक फ़रीक़ बनाकर अुसके लिअे न्याय प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। कहता तो यह है कि वह देव ही मेरा स्रष्टा और पालनकर्त्ता है, परन्तु अिस बातकी चिन्ता करता रहता है कि मेरे बाद ठाकुरजीकी पूजा-अर्चाका क्या प्रबंध होगा?

जिस देवको वह सर्वव्यापी या घट-घट-व्यापी कहता है, अुसीका दर्शन करनेकी वह कभी लोगोंको अिजाज़त नहीं देता।

अैसी श्रद्धायुक्त नास्तिकता केवल मूर्त्तिपूजकोंमें ही नहीं होती, बल्कि मूर्त्ति-पूजक, मूर्त्ति-भञ्जक, गुरु-भक्त, हिन्दू, जैन, बौद्ध, अीसाअी, मुसलमान, सब अनुगमोंमें वह विविध रूपोंमें पाअी जाती है। अिस श्रद्धाके मूलमें सत्त्व-संशुद्धि नहीं होती, बल्कि कुछ स्वार्थ, भय या लालसा रहती है, और जहाँ भय और लालसा रही हो, वहाँ विद्वत्ता कितनी भी क्यों न हो, विचारमें विसंगतिसे बचना कठिन है।

---

* 'नेक' वैष्णव सम्प्रदायका शब्द है। ठाकुरजीके लिअे जिस दिन जो करनेका रिवाज हो अुसे 'नेक' कहते हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता — १८ : २० से २२)

जिस ज्ञानके द्वारा सब भूतोंमें स्थित अेक अविनाशी भाव — अेकता — देखा जा सकता है, सभी भिन्न-भिन्न (तत्त्वों) में अेक भेद-हीन (तत्त्व) देखा जा सकता है, वह ज्ञान सात्विक है।

जो भेदोंका ज्ञान है, जो सब भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको जानता है, वह राजस ज्ञान है।

परन्तु जो अेकके अन्दर ही सबको समाया हुआ-सा देखता है, जो क्रियामें आसक्ति रखता है, और जो विचारकी कसौटीपर टिक नहीं सकता, जो तत्त्वार्थ-हीन और अल्प है, वह तामस ज्ञान है।

अैसा तामस ज्ञान अिस श्रद्धायुक्त नास्तिकताके मूलमें है।

१०

अुपासना

अीश्वरके किसी प्रकारके आलम्बनकी और अिसलिअे किसी तरहकी अुपासनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें पिछले प्रकरणोंमें काफ़ी कहा जा चुका है। परन्तु अनेक लोगोंके मनमें अैसे कुछ प्रश्न अुठते हैं जैसे, अुपासनाका स्वरूप क्या होना चाहिये, वह सामुदायिक हो या व्यक्तिगत, और लाज़िमी हो या अैच्छिक? आदि। अतअेव अिस प्रकरणमें अिन्हीं प्रश्नोंपर कुछ साफ़ विचार किया गया है।

स्तवन-अुपासना और सहज-अुपासना — सामुदायिक तथा व्यक्तिगत अुपासनाका प्रचलित स्वरूप कुछ अिस प्रकारका होता है —

कोअी निश्चित स्तोत्र-पाठ, कोअी भजन, धुन (मन्दिर वगैरामें), आरती, होम, हवन, किसी सद्ग्रन्थका पाठ या अध्ययन, प्रवचन अित्यादि। व्यक्तिगत अुपासनामें अिसके अलावा सन्ध्या, जप (माला), वन्दन, दण्डवत्-प्रणाम, प्रदक्षिणा या नैवेद्य आदि होते हैं। अैसी अुपासनाको मैं यहाँ सुविधाके लिअे 'स्तवन-अुपासना' कहूँगा।

जो लोग अीश्वरका आलम्बन मानते हैं, अुनमें भी आजकल स्तवन-अुपासनाकी अुपयोगिताके सम्बन्धमें अश्रद्धा और शंका अुत्पन्न हो गयी है। ब्रह्मार्पणकी भावनासे जीवनके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करना (Work is worship) ही अीश्वरकी अुपासना है, अिसके सिवा किसी दूसरे स्तवन आदिकी जरूरत नहीं — यह सूत्र स्तवन-अुपासनाका विरोध करनेके लिअे पेश किया जाता है, और भक्त-साहित्यमें अुसके लिअे अनेक अनुकूल प्रमाण भी मिल जाते हैं। जैसे, कबीरने अेक जगह कहा है —

"ना मैं जानूँ सेवा बन्दगी, ना मैं घंट बजाअी;
"ना मैं मूरत धरी सिंहासन, ना मैं पुष्प चढ़ाअी।"

फिर अेक और भजनमें कहा है —

"कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमिरन, जो करूँ सो पूजा;
"गिरह अुद्यान अेक सम देखूँ, भाव मिटाअूँ दूजा;
"जहँ-जहँ जाअूँ सोअी परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा;
"जब सोअूँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा —
"साधो, सहज समाध भली॥"

सुविधाके लिअे, अिस दूसरी विचार-सरणीको हम 'सहज-अुपासना' अथवा 'कर्मयोगी-अुपासना' कहेंगे।

अिस प्रकार दो पक्ष होनेसे अिन दोनों प्रकारकी अुपासनाओंकी वास्तविक मर्यादा और अुपयोगिता कितनी है तथा जीवनमें अिनका वास्तविक मूल्य क्या है, अिसकी जाँच-पड़ताल करना अुचित होगा।

परन्तु अिस विषयकी सविस्तर चर्चा करनेसे पहले पाठकोंको मैं अेक बातकी चेतावनी देना चाहता हूँ। वह है, बुद्धि और जीवनका भेद ध्यानमें रखनेकी।

बुद्धिके द्वारा हम जितना समझ सकते हैं अुतना सब तुरन्त ही जीवनमें धारण नहीं कर सकते। अच्छे-से-अच्छा सत्याग्रही भी जीवनको बुद्धिके निर्णयके पीछे ले जानेका सिर्फ़ प्रयत्न ही करता है, सब तरह बुद्धिके अनुकूल चलनेवाला जीवन वह अेकाअेक बना नहीं सकता। अिसमें बुद्धिका दोष नहीं, बल्कि जिस परिस्थिति और जिन संस्कारोंमें पूर्व-जीवन बीता है, वह मनुष्यके पुरुषार्थकी शक्तिको मर्यादित कर देता है, अिससे जीवनका व्यवहार बुद्धिकी ग्रहण-शक्तिकी अपेक्षा पीछे रह जाता है। कर्तृत्व-शक्तिकी अपेक्षा बुद्धि अधिक व्यापक क्षेत्रमें विहार कर सकती है। परन्तु बुद्धिके अनुरूप पुरुषार्थ करनेमें शरीर, अिन्द्रियाँ, संस्कार, आदतें, समाज, वातावरण, आदि अनेक कठिनाअियोंके साथ झगड़ना पड़ता है, और झट-झट अुनपर हावी हुआ नहीं जा सकता। अिस कारण 'धर्म क्या है, सो जानता हूँ, परन्तु अुसके अनुसार चल नहीं सकता, और अधर्म क्या है, सो भी जानता हूँ, पर अुसमेंसे छूट नहीं सकता,' यह स्थिति अेक दुर्योधन-जैसेकी ही नहीं, बल्कि हममें हज़ारमें नौ सौ निन्यानवेकी होती है।

अिस कारण बुद्धि-द्वारा किसी अेक विचार-सरणी या सिद्धान्तको समझ चुकनेपर भी अुसके बाद अेक बात विचार करने-जैसी रहती है, और वह है, अपने वास्तविक जीवन और बुद्धिके बीचका अन्तर। जो अिस बातको ध्यानमें नहीं रखेगा, अुसकी स्थिति नीचे लिखे मज़दूरकी-सी हो जायगी

अेक मज़दूरने लॉटरीका टिकट खरीदा। बोझ अुठानेके लिअे वह अेक कड़ीदार बाँस रखता था। अुसकी पोलमें अुसने वह टिकट रख छोड़ा था। लॉटरीमें अुसका नम्बर पहला आ गया। यह समाचार सुनते ही वह हर्षमें अपने-आपको भूल गया, और यह कहकर कि अब अिस बाँसकी क्या ज़रूरत है, अुसे नदीमें फेंक दिया। बाँसके बह जानेपर अुसे खयाल आया कि अरे, टिकट तो बाँसकी पोलमें ही रक्खा था; अब तो अिनाम भी गया। और फिर वह दहाड़ मारकर रोने लगा।*

* यह बात चीनके प्रजासत्ताक राज्यके संस्थापक डॉ० सुन-यात्-सेनके अेक भाषणसे ली गयी है। अुनका कहना था कि यह सच है।

मज़दूरने यह मान लेनेकी भूल की कि लॉटरीका परिणाम प्रकाशित होते ही अिनाम भी हाथमें आ गया। स्तवनोपासना और कर्म-योगी-अुपासनाके बादमें अैसी भूल होनेकी संभावना है। हमें याद रखना चाहिअे कि बुद्धिके पलटने ही अेकाअेक जीवन नहीं पलट पाता।

अिससे अुल्टे प्रकारकी भूल भी हो सकती है। अिस बारेमें अुचित स्थानपर ध्यान दिलाया जायगा।

सहज-अुपासनाका सिद्धान्त— अितनी चेतावनी देनेके बाद अब मैं मूल विषयपर आता हूँ।

"कर चरण द्वारा जो कायसे कर्मसे वा।
श्रवण-नयनसे वा बुद्धिसे भावसे वा॥
शुभ-अशुभ हुआ जो ज्ञान-अज्ञान प्रेरे।
अरपण सब पूजा-भावसे है नाथ तेरे॥"

अिस पद्यका अुच्चारण नहीं, बल्कि अिसमें वर्णित भावका हमारे लिअे जीवन-स्वभाव बन जाना सहज अथवा कर्मयोगी अुपासना कही जा सकती है। यह अतिशय अुन्नत अवस्था है, और जो अिस दशामें सचमुच ही स्थिर हो गया है, अुसके लिअे स्तवन-अुपासनाके कम-से-कम कुछ अंग निकम्मे हो सकते हैं, अिसमें शंका नहीं। परन्तु अिसीके साथ यह भी समझ रखना चाहिअे कि जबतक अैसे पद्यके अुच्चारणकी अथवा अुसके भावका स्मरण करनेकी ज़रूरत अुस मनुष्यको महसूस होती है, तब-तक सहज-अुपासना केवल बुद्धि-द्वारा ग्रहीत वस्तु, और शायद कर्म-योगका प्रयत्न ही है, किन्तु स्वभाव-रूप बना हुआ जीवन नहीं।

अेक बात और। कर्म-योग ही अीश्वरोपासना है, अिस सिद्धान्तपर डटे रहकर मनुष्य अपने चित्तमें शान्ति और समाधान तभी अनुभव कर सकता है, जब वह तीन शर्तोंको पूरा करे—

(१) अुसे यह निश्चय हो कि वह जो कुछ करता है, कर्त्तव्य-कर्म ही करता है; (२) अुन कर्मोंके करते हुअे अुसके मनमें वैसा ही भाव रहे जैसा किसी सच्चे भक्तके स्तवन-पूजनमें भक्ति और प्रेमार्द्रताका भाव रहता है; क्षुद्र राग-द्वेष, अथवा शुष्क तटस्थताका नहीं; और (३) अुसे ज्ञान हो, अर्थात् कर्म करते हुअे भी वह कर्मके तत्त्व, अुसके प्रयोजन,

अुसके अन्तिम परिणाम और जीवनके ध्येयको अच्छी तरह समझे हुअे हो, अतः अिनके सम्बन्धमें भ्रमका अभाव हो। कर्म करते हुअे भी वह नाशवान् है और सब कर्मोंके फल सदा शुभ और अशुभ दो प्रकारके होते हैं, अिसका स्पष्ट दर्शन अुसे हो; और अिस बातकी सतत जाग्रति रहे कि अपने ही निर्मित अिन कर्मोंके जालमें खुद ही न फँस जाय। ‘सगुणीं भजे लेश नाहीं भ्रमाचा।’ (रामदास) अर्थात् गुणोंको भजते हुअे भी भ्रमका लेशतक न हो।

जबतक अिन तीनों शर्त्तोंको पूरा न कर पाये, तबतक भले ही मनुष्य स्तवनोपासनाके बिना काम चला ले, परन्तु अुसके लिअे सहज-अुपासनामें स्थिर होना संभव नहीं। अर्थात् अुसके जीवनमें कभी अशान्त होनेका, परीक्षाके समय धीरज खो बैठनेका, किसी आलम्बनको खोजनेका, और स्तवनकी जो शक्ति वह खो बैठा है, अुसे फिर याद करनेका अवसर आ सकता है।

अैसे अुदाहरण पाये जाते हैं कि जो अपनेको नास्तिक कहते थे, वे अैसे प्रसंग आनेपर यज्ञोंका अनुष्ठान करनेतक वहम या अन्ध-श्रद्धा के भक्त बन गये। क्योंकि कर्त्तव्य-कर्मोंमें ही नहीं, बल्कि काम्य-कर्मोंमें भी आसक्ति, कर्त्तव्य-कर्ममें भी राग-द्वेषका प्रभाव और ज्ञानका अभाव, ये बातें किसीको सहज स्थितिमें टिकने दें, सो असम्भव है।

तीन शर्त्तोंकी अधिक चर्चा—अिन तीन शर्त्तोंकी अधिक चर्चा करना यहाँ निरर्थक न होगा। क्योंकि यदि अिन तीन शर्त्तोंकी यथावत् सिद्धि न हो, तो वह न केवल सहज-अुपासना अथवा काम-द्वारा अुपासना न रहेगी, बल्कि कर्म-जड़ता, जड़वादिता या तीव्र असन्तोष अुत्पन्न करेगी। सहजोपासनाका अैसा परिणाम आ सकता है, अिसीसे हम अिस बातका भी पता लगा सकेंगे कि अिन शर्त्तोंकी सिद्धिके साधनके तौरपर स्तवन-अुपासना हमारी क्या सहायता कर सकती है।

तो अब हम पहली शर्त्तको लें। अिस सिलसिलेमें हमें किसी असामान्य महात्माका विचार नहीं करना है। बल्कि हम अैसे मनुष्योंको ही दृष्टिपथमें रखेंगे, जो साधारण हैं, किन्तु विचारशील और कर्त्तव्य-पालनमें प्रयत्नशील हैं।

अैसा मनुष्य शायद ही यह कह सकेगा कि मैं कर्त्तव्य-कर्मोंके सिवा दूसरे कोअी कर्म करता ही नहीं। बल्कि अगर सच पूछा जाय और अगर हम अपने ही जीवनका परीक्षण करें, तो हमें मालूम पड़े बिना न रहेगा कि हम प्रतिदिन अैसे कअी कर्म करते हैं, जो न केवल कर्त्तव्य-रूप नहीं होते, बल्कि निश्चित रूपसे अकर्म (न करने योग्य) भी होते हैं, और अिस बातको जानते हुअे भी हम अुन्हें किये बिना नहीं रह सकते।

यत्नशील रहे तो भी सुज्ञका भी हरे मन,
अुन्मत्त अिन्द्रियाँ सारी बलसे विषयों-प्रति।
स्वच्छन्द अिन्द्रियों-पीछे मन जो दौड़ता रहे,
देहीकी सो हरे प्रज्ञा नौका ज्यों वायुसे बहे।*

जबतक हमारी वास्तविक जीवन-स्थिति अिस प्रकारकी हो, तबतक यह कहना मुश्किल है कि हमारी सारी कर्म-प्रवृत्ति अीश्वरोपासना-रूप है। हाँ, अपने कुछ कर्मोंके सम्बन्धमें शायद हम यह दावा कर सकें, परन्तु सब कर्मोंके सम्बन्धमें नहीं। अब जिन कर्मोंको हम अीश्वरोपासना-रूप नहीं बता सकते, अुनके सम्बन्धमें हमें अपना चित्त शुद्ध करना, और अुनसे अलग हटनेका बल प्राप्त करना हमारे लिअे अभी बाकी है। फिर कर्तव्य-रूप लगते हुअे भी जिन कर्मोंको हम नहीं कर सकते, और अिसलिअे सत्यके मार्गपर नहीं चल सकते, अुनके लिअे भी हमें अभी शक्ति प्राप्त करनी है।

जो कर्म हमारी अनिच्छा होते हुअे भी हो जाते हैं, और जिन्हें अिच्छा होते हुअे भी हम नहीं कर सकते, अुनके लिअे सच्चे आदमीका हृदय व्यथित होता रहता है। किसीका अपराधी जैसे अुससे क्षमा माँगता हो, अुसी प्रकार, — भक्तकी भाषामें कहें तो, और अीश्वरकी व ज्ञानीकी भाषामें कहें तो — अपने सदसद्-विवेकसे क्षमा माँगनेकी अुसकी भावना रहती है।

---

* यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
अिन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
अिन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता अ० २ : ६० व ६७)

अिस व्यथित अन्तःकरणको मनुष्य किस प्रकार शान्ति दे?

अब दूसरी शर्त यह है कि अपने कर्त्तव्योंका पालन करते हुअे मनुष्यको अुनमें भक्ति-भाव रखना चाहिअे।

साधारण मनुष्यके लिअे कर्त्तव्य-निष्ठा और भक्तिमें काफ़ी अन्तर रहता है।

अुदाहरणार्थ, यदि कोअी शिक्षक अपने सब विषयोंको जी-जानसे मेहनत करके और वैज्ञानिक पद्धतिसे पढ़ता हो, तो कह सकते हैं कि वह अपने कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन करता है; किन्तु यह हो सकता है कि वह अनेक विषयोंकी पढ़ाअी तो ठीक-ठीक कराता हो, पर अुनमें अुसका अनुराग न हो — पाठशाला या अपने पेशेके प्रति वफ़ादारी और विद्यार्थियोंके प्रति कर्त्तव्य-भावके कारण ही वह अुन्हें पढ़ा देता हो। बचपनसे मिली हुअी तालीमके कारण बाज़ लोगोंका स्वभाव ही अैसा बन जाता है कि जिन कामोंके लिअे अुनके मनमें प्रेम या श्रद्धा न हो, बल्कि अरुचि हो, तो भी यदि अुनका भार अुनपर आ पड़े, तो वे अुन्हें अुतनी ही मेहनतसे करते हैं, जितनी अुनमें आसक्ति रखनेवाला कोअी मनुष्य न करेगा। अैसा मनुष्य कर्त्तव्य-निष्ठ है, कर्मयोगी है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि अुसे अपने कर्ममें भक्ति या अनुराग भी पैदा होता है। वह अपने कर्म-योगको तो बराबर साधता है, पर अुसके द्वारा वह अीश्वरोपासनाका समाधान नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि अीश्वरोपासनासे केवल बुद्धिको ही समाधान नहीं मिलता, बल्कि भावनाको भी तुष्टि मिलती है। 'मैंने अपना फ़र्ज़ अदा कर दिया।' यह समाधान ही मनुष्यको हमेशा सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। बल्कि जिन कर्मोंमें मनुष्यकी निष्ठा होती है वे ही जब कर्त्तव्य-रूप भी होते हैं, और अुन्हें वह यथावत् पूर्ण कर सकता है, तभी अुसको पूरा-पूरा समाधान मिलता है। जब-तक अैसा नहीं हो पाता तबतक मनुष्य प्राप्त कर्त्तव्योंको करते हुअे भी, अनजानमें ही अपने मनोनुकूल कर्म-मार्गकी खोजमें रहता है, और तब-तक वह कुछ-कुछ असन्तुष्ट भी रहता है।

अिस असन्तोषकी आग और अनुकूल कर्म-मार्गको प्राप्त करनेकी व्याकुलताका शमन वह किस प्रकार करे?

अब तीसरी शर्त — मनुष्य भले कर्त्तव्य-कर्ममें ही प्रवृत्त रहता हो, कभी अकर्त्तव्य न करता हो, कर्त्तव्यके प्रति मनमें भक्ति और निष्ठा भी अनुभव करता हो, फिर भी यह हो सकता है कि वह सहज-अुपासना की सिद्धिको प्राप्त न कर सके, क्योंकि वह अज्ञान है।

"जिसके अधीन चलता सब कर्म-चक्र" अिस नियमको यदि वह न समझता हो, कर्मके परिणामके विषयमें भुलावेमें पड़ा हो, यह पता न पड़ता हो कि कर्मका यह सारा खटाटोप आखिर क्यों है, तो अैसी दशामें सब कर्मोंका यथार्थ पालन करते हुअे भी मनुष्यको शान्ति या समाधान नहीं मिल सकता।

किसी चतुर कविने ब्रह्माको 'कर्म-जड़' कहा है। सुबहसे शाम तक बस सर्जन, सर्जन, सर्जन — यही ब्रह्माका काम माना गया है। कुदरतमें लाखों जीव, बस, दूसरे ही क्षण मरनेके लिअे पैदा होते दिखाअी देते हैं। जिन असंख्य जीवोंको बचाया नहीं जा सकता, अुन्हें पैदा करनेका आखिर क्या प्रयोजन है, यह शंका खड़ी होनी स्वाभाविक है। और यह काम करनेवाला कोअी ब्रह्मा-जैसा व्यक्ति हो, तो अैसी शंका अुठ सकती है कि वह 'कर्म-जड़' अर्थात् बिना विचारे ही सर्जन-कर्म करनेवाला होगा।

कर्मके विषयमें तीन प्रकारकी जड़ता हो सकती है।

अिनमेंसे दो प्रकारकी कर्म-जड़ताका बहुत अच्छा आलेखन कविवर रवीन्द्रनाथने अपने 'अचलायतन'में किया है। अुसमें वर्णित शोणपांशुओंको कर्मके सिवा कोअी दूसरी बात सूझती ही नहीं। किसी भूत-पलीतकी तरह अुन्हें सदा कोअी-न-कोअी काम चाहिअे ही। अुपयोगी हो या अनुपयोगी, हितकर हो या अहितकर, नीतियुक्त हो या अनीतियुक्त हो, अिन सबका विचार किये बिना ही बस 'कुछ काम जरूर करना चाहिअे', यही अुनका स्वभाव होता है। बगैर कामके वे शान्त नहीं बैठ सकते। कर्ममें कब प्रवृत्त होना चाहिअे, और कब अुसमेंसे निवृत्त होना चाहिअे, अिन दोनों बातोंका निर्णय करनेके लिअे ज्ञानकी अपेक्षा रहती है। जैसे प्रवृत्ति आवश्यक है वैसे ही परावृत्ति या निवृत्ति भी कभी-कभी आवश्यक होती है। शोणपांशु सिर्फ पहली ही बात जानते थे। अुपनिषद्कारके शब्दोंमें अुनका वर्णन अिस प्रकार है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था अित्यभिमन्यन्ति बाला:।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा: क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥*

(मुण्डक — १. २. ९.)

'अचलायतन' के स्थविर दूसरी प्रकारके कर्म-जड़ हैं। ये लोग निवृत्तिमार्गी तो नहीं, किन्तु काल्पनिक कर्म-काण्डमें मशगूल हैं। ये शोण-पांशुओंके सामान्य कर्म-योगमें रही अेकाङ्गिताको जानते हैं, परन्तु अुससे प्रभावित होकर ये अुसके आवश्यक भागका भी निरादर करते हैं। फिर भी चूँकि अिनमें सुखकी वासना शोणपांशुओंसे कम नहीं होती, अिसलिअे अिन्होंने अपना अेक काल्पनिक कर्म-काण्ड रच डाला है। अिनके हृदय शोणपांशुओंसे भी अधिक शुष्क हैं। अतअेव अिनमें शोणपांशु-ओंकी स्वाभाविकता नहीं, तो फिर दर्भकोंकी सरलता तो कहाँसे होगी? अिस दृष्टिसे ये शोणपांशुओंकी अपेक्षा भी अधिक जड़ हैं।

तीसरे प्रकारकी कर्म-जड़ता, अेकांगी निवृत्ति-रूप है। कर्म-मार्ग संकटोंसे भरपूर है। कर्म-लोक नाशवान है। प्रत्येक कर्म शुभ-अशुभ फलदायी है। विचारसे अिस बातको जानकर वह कर्म-मात्रका बल-पूर्वक त्याग करता है। परन्तु यह अेकांगी विचार है। जिस प्रकार तूफ़ानमें पड़े जहाज़का कोअी कप्तान यह देखकर कि लोगोंको डोंगियोंमें अुतारनेमें भी जोखिम है, और अिधर सबको बचाया भी नहीं जा सकता, किसी को भी बचानेकी कोशिश न करे; अथवा कोअी शस्त्र-वैद्य, माता या बच्चा दोमेंसे किसी अेककी हत्या होगी ही, अिस विचारसे नश्तर ही न लगाये, अुसी प्रकारकी यह निवृत्ति कही जा सकती है। यह भी अेक प्रकारकी कर्म-सम्बन्धी जड़ता ही समझी जानी चाहिये।

वस्तुत: यह जान लेना तो बहुत आवश्यक है कि कर्म-लोक नाशवान है, और संकटोंसे भरा है, और शुभ-अशुभ दोनोंसे भिन्न है। परन्तु अैसा जानकर भी प्राप्त परिस्थितिमें यथाशक्य ज्ञान और विवेक-बुद्धिका अुपयोग करके हमें अुचित कर्म करना है।

---

* अनेक प्रकारकी अविद्यामें फँसे हुअे ये अज्ञानी (बालक) "हम कृतार्थ हैं," अैसा अभिमान रखते हैं। रागके वश होनेके कारण ये कर्म-मार्गी अज्ञानी ही हैं। अिसलिअे दुःखी होकर और सब प्राप्तियोंको खोकर नीचे गिरते हैं।

संसारके श्रमजीवी लोगोंका जीवन अनेकांशमें आवश्यक कर्म करनेमें ही जाता है। अनावश्यक अतअेव जिन्हें कर्त्तव्य-रूप नहीं कह सकते अैसे कर्म करनेकी गुंजाअिश अुन्हें बहुत कम होती है। यदि कर्त्तव्य-कर्मोंके केवल आचरणसे ही जीवन कृतार्थ हो सकता हो, तो किसानों और मज़दूरोंको सबसे अधिक कृतार्थताका अनुभव होना चाहिअे, और अुनका सबसे अधिक विकास हो जाना चाहिअे। परन्तु कर्म-योगके साथ जो ज्ञान-दृष्टि होनी चाहिअे अुसके न होनेसे अुनकी स्थिति भी अपूर्ण ही है; और असलमें जगत्के 'अन्नदाता' होते हुअे भी वे सबसे अधिक पीड़ित स्थितिमें रहते हैं।

परन्तु जीवनके संस्कारोंको बदलनेके विषयमें बुद्धिकी शक्ति बहुत सीमित सिद्ध होती है। अुसके लिअे बुद्धिके अलावा भावना—बलकी भी ज़रूरत है। अिस बलके अभावमें बुद्धिमान वर्ग भी दूसरे प्रकारसे कर्म-जड़ बन जाता है।

अिस सबका सार यह है कि कर्म-योग ही अीश्वरोपासना है, (Work is worship) यह सूत्र पूर्ण-रूपसे सत्य नहीं है। हाँ, यह सच है कि कर्म-योग अीश्वरोपासनाका अेक अंग, और महत्त्वपूर्ण अंग, अवश्य है। यह भी भले ही कहा जाय कि पूर्ण विवेकी और संयम-सिद्ध मनुष्यके लिअे यही अेक अंग बाक़ी रहता है। परन्तु तबतक कर्मयोगका आचरण करते हुअे भी कर्म-योगको सहज अुपासना बनानेके लिअे जिन शर्तोंकी पूर्त्ति आवश्यक है वह केवल कर्मयोगसे ही नहीं हो सकती, बल्कि दूसरी तरहसे की जानी चाहिअे। जिस प्रकार वैद्यक-शास्त्रके विद्यार्थी का केवल शरीर-विज्ञान और दवा—दारूकी जानकारीसे काम नहीं चल सकता, बल्कि अुस शास्त्रके भूमिका-रूप पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र अित्यादि विषयोंका भी अध्ययन करना पड़ता है, और फिर अिन सबका अुपयोग वैद्यकमें करना होता है, अुसी प्रकार जिसकी धारणा कर्म-योग द्वारा ही जीवनका लक्ष्य सिद्ध करनेकी हो अुसके लिअे भी ज्ञान और भक्तिको पुष्ट करके अुसका अुपयोग कर्म-योगमें करनेकी आवश्यकता है। दूसरे शब्दोंमें, अुसके लिअे कर्म-योगके अलावा और

तरहसे भी अीश्वरोपासना करना बाक़ी रहता है। वह दूसरी रीति है, स्तवन-अुपासना की।

स्तवन-अुपासनाका 'नेति' स्वरूप — अिस तरह, असत्यसे छूटने और सत्यके अनुसरणका बल पानेके लिअे जिस अेकाग्रताकी ज़रूरत है, अुसकी प्राप्तिके लिअे, भावनाके अनुशीलनके लिअे, और जिस-जिस प्रकारके ज्ञानके बिना हम खुद अपने ही बनाये कर्म-जालमें फँस जाते हैं, अुस ज्ञानकी वृद्धिके लिअे, सांसारिक कर्मोंको करते जाना और अुसीको अीश्वरोपासना मान लेना काफ़ी नहीं है, बल्कि अैसी प्रवृत्तियोंका स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है, जिनमें सांसारिक कर्मोंका सम्बन्ध न हो।

सांसारिक कर्मोंको स्वाभाविक प्रवृत्ति माननेकी हमें आदत है। अिसलिअे, सम्भव है कि हमें स्तवन आदि प्रवृत्तियाँ कृत्रिम मालूम हों, और जहाँ अेक बार अुन्हें कृत्रिम समझ लिया कि फिर अुनकी तरफ़ अरुचि हो जाना मामूली बात हो जाती है। परन्तु सच पूछिये तो सांसारिक कर्म होने मात्रसे कोअी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हो जाती, और न स्तवन आदि विषयक होनेसे कृत्रिम हो जाती है। सांसारिक कर्मोंमें भी कृत्रिम प्रवृत्तियोंका टोटा नहीं है। जो-जो प्रवृत्तियाँ दूसरोंको चकाचौंध करनेके लिअे की जाती हैं वे सब कृत्रिम ही हैं। धर्म-प्रवर्तक मन्दिर, मसजिद, होम, पूजा आदिकी आडम्बर-युक्त विधियाँ रचकर जिस प्रकार धर्मको कृत्रिम बना देते हैं, अुसी प्रकार राज-पुरुष भी बड़े-बड़े भव्य दृश्योंका आडम्बर रचते हैं। दिल्ली-दरबारका भव्य आडम्बर और किसी आचार्यके स्वागतका भव्य आडम्बर, दोनों, अेक ही कोटिके हैं।

मतलब यह कि स्तवन-अुपासनाको महज़ अिसलिअे कि वह स्तवन है, कृत्रिम प्रवृत्ति कहना ठीक नहीं। हरअेक मनुष्य कभी-न-कभी स्तवन करता ही है। किसी कारणसे वह स्तवन करनेकी शक्ति खो बैठा हो, तो भी कभी-कभी अैसा समय आता है, जब वह स्तवनकी अिच्छा करता है, परन्तु शक्ति न रहनेके कारण खिन्न होता है। कृत्रिमताके लिअे भी आधार तो आखिर स्वाभाविक ही होना चाहिअे। अतः यदि कोअी यह आक्षेप करे कि स्तवन-अुपासनापर कृत्रिमताकी बहुत बड़ी अिमारत खड़ी की जाती है, तो अुसे मंजूर करना पड़ता है। अैसी अनावश्यक और

आडम्बरवाली रचनाको तोड़ डालना ही अुचित है। और यह ध्यानमें रखना ज़रूरी है कि अुसे न तोड़ने देनेका आग्रह ही स्तवन-अुपासनाके प्रति न केवल अरुचि अुत्पन्न करता है, बल्कि अुसके आवश्यक तत्त्वोंका भी अस्वीकार करनेका अुलटा हठ पैदा करता है।

तब, हमें पहली बात यह माननी पड़ेगी कि हम स्तवन-अुपासना मंजूर करेंगे, परन्तु अुसकी शुद्धिके लिअे अुसके स्वरूपमें जो कुछ फेरफार जब-जब करना ज़रूरी होगा, अुसे करनेमें नहीं हिचकेंगे। व्यक्तिगत अुपासनामें तो फेरफार करनेमें कोअी दिक्कत पेश ही नहीं आती। लेकिन, सामुदायिक अुपासनामें फेरबदल करनेमें मुश्किलें पैदा होती हैं। यह बात सामुदायिक अुपासनापर खास तौरसे लागू होती है। अगर अिस फेरफारसे पुरानी परम्परायें टूट भी जाती हों, तो भी हर्ज नहीं। यदि हम अिस बातको स्वीकार करनेके लिअे तैयार न हों, तो सामुदायिक स्तवन-अुपासना लँगड़ी ही रहेगी। और केवल क्षणिक धन, यौवन या सत्ताके मदसे अन्धे बने हुअे लोगोंके लिअे ही नहीं, बल्कि अच्छे प्रामाणिक आस्तिकोंको भी वह ना-मंजूर और ना-आकर्षक रहेगी।

फिर, कर्म-योगका जो महत्त्व अूपर बताया गया है, अुसमेंसे यह भी निकलता है कि स्तवन-अुपासना कर्म-योगका विरोध करनेवाली या अुससे मेल न रखनेवाली न होनी चाहिअे; बल्कि कर्म-योगको शुद्ध करनेवाली और केवल कर्म-योगमें रही कमीकी पूर्ति करनेवाली होनी चाहिअे।

स्तवन-अुपासनाकी 'अिति' यों — किसी भी धर्म या सम्प्रदायकी विधियों आदिको अलग-अलग करके अुसकी अुपासनाकी जाँच करनेसे अुसमें तीन बातें दिखाअी देंगी या दिखाअी देनी चाहिअें : (१) परमात्माके साथ, अथवा जिस अैतिहासिक या काल्पनिक व्यक्तिके प्रति परमेश्वरका भाव हो अुसके साथ, अनुसंधान करने (दिल जोड़ने, लौ लगाने) का प्रयत्न; (२) चित्तमें सात्त्विक, पवित्र और प्रसन्नकारी भाव लानेका प्रयत्न; और (३) परमात्मा, जगत, जीवन या धर्माधर्मके विषयमें विचारोंको साफ करनेका प्रयत्न।

परमात्माके साथ दिल जोड़नेके प्रयत्नमें अुपासक परमात्माके कुछ समीप होनेका प्रयत्न करता है। 'अुपासना' शब्दके धात्वर्थमें ही यह

भाव है। परमात्मा क्या है और कहाँ है, यह वह खुद अभी जानता नहीं; अगर दोनोंके बारेमें खुलासा करने जाता है, तो वह गलत भी हो सकता है। फिर भी, जन्म-जात बुद्धिसे (instinctively) वह अुसको समझता हुआ प्रतीत होता है। और जैसे किसी अत्यन्त प्रिय मित्रके दूर रहते हुअे भी वह हमें अपने हृदयमें बसा हुआ लगता है, अुसी तरह मानो वह अुसके नज़दीक रहकर अुसके हृदयपर अधिकार किये हुअे है, अैसा अुसे प्रतीत होता है।

चित्तमें सात्विक, पवित्र और प्रसन्नकारी भाव अुपजानेका प्रयत्न तरह तरहके रूप लेता है। जैसे, नाम-स्मरण, धुन, विविध भाववाले भजन, पवित्र पुरुषोंके चरित्रोंका श्रवण-पठन-कीर्तन, स्तोत्रपाठ आदि। अिनके सहायक-रूपमें स्नान, शुद्ध वस्त्र, अच्छा आसन, स्वच्छ स्थान, पुष्प, धूप, दीप, वाद्य, मूर्तियाँ, चित्र आदि अिन्द्रियोंको खुश करनेवाली सामग्री होती है। मनुष्य-स्वभावकी अेक दुर्बलताके कारण बहुतसे लोग और पुरोहित भी यह माननेकी भूल कर बैठते हैं कि अैसे किन्हीं प्रकारों और अुपकरणोंको जुटाना ज़रूरी ही है। अक्सर पुरोहितोंकी तरफ़से मनुष्यको अैसी भूलमें रख छोड़नेका ही प्रयत्न किया जाता है। परन्तु अिस सम्बन्धमें और ज़्यादा विचार करनेकी आगे ज़रूरत होगी। यहाँ अुसके मूल अुद्देशको समझानेके लिअे ही अितना अुल्लेख किया है।

विचार-शुद्धिके प्रयत्नमें किसी तात्विक ग्रंथ या सत्पुरुषकी वाणीका वाचन, भजन अथवा तात्त्विक चर्चा या प्रवचन आदि होते हैं।

यदि अूपर किया बयान सही हो, तो स्तवन-अुपासना चाहे व्यक्तिगत हो या सामुदायिक, अुसमें अिन तीनों तत्त्वोंको पोषण मिलना चाहिअे।

अब हम पहले यह विचार करलें कि स्तवन-अुपासना व्यक्तिगत हो या सामुदायिक।

व्यक्तिगत या सामुदायिक? — 'प्रार्थना' (स्तवन-अुपासना) का अतिशय महत्त्व जानने और बतानेवाले टॉल्स्टॉयकी राय है कि —

"३७५, अिस प्रकारकी प्रार्थना जनसमुदायमें नहीं हो सकती; बल्कि सोलहों आना अैसे अेकान्त स्थानमें ही हो सकती है, जहाँ किसी बाहरी चित्ताकर्षक वस्तुका अभाव हो।" (जीवन-सिद्धि)

यहाँ टॉल्स्टॉयके 'अिस प्रकारकी' शब्द तो महत्त्वपूर्ण हैं ही; परन्तु अिनपर जोर देकर ही अिस बातकी चर्चा करना अुचित न होगा। क्योंकि यह कहनेमें कोअी हर्ज नहीं कि कुल मिलाकर टॉल्स्टॉयका रुख सामुदायिक स्तवन-अुपासनाके प्रतिकूल है। दूसरोंके मार्ग-दर्शनके लिअे बहुत खूब साहित्य निर्माण करनेका खटाटोप करते हुअे और अीसा-मसीहके सच्चे अनुयायी होनेकी अिच्छा रखते हुअे भी अुनका यह मत है — कि.

"हमारे झूठी श्रद्धामें फँसनेसे बचनेके लिअे यह जरूरी है कि हम अपनी बुद्धिके सिवा दूसरे किसी भी मनुष्यपर विश्वास न रखें।" (सदर, कलम ३६२)

यह वदतो व्याघात जैसा तो है ही। परन्तु मनुष्य जब बहुत ठोकर खा चुकता है, तो अुसकी मनोदशा अैसी हो जाती है। अुसका अनुभव और प्रकोप अुपयोगी होता है, परन्तु अुसके निरूपणमें आवेश भरा हुआ होनेसे वह पूरी तरह अुचित न हो, तो आश्चर्य न करना चाहिअे।

हम जानते हैं कि टॉल्स्टॉयसे प्रभावित होने पर भी गांधीजी सामुदायिक अुपासनापर बहुत ज़ोर देते हैं। हज़रत मुहम्मद भी अिसको बहुत महत्त्व देते हुअे दिखाअी देते हैं। हालाँकि मैं समझता हूँ कि व्यक्तिगत अुपासनाको भी वे बहुत आवश्यक मानते थे।

अिसलिअे किसीके भी मतको प्रमाणभूत न मानते हुअे सामान्य अनुभवसे और तात्त्विक रीतिसे ही हम अिसका विचार करेंगे।

'परमात्माकी साधना' वाले प्रकरणमें नीचे लिखे अनुसार दो मुद्दे पेश किये गये हैं:

(१) अनुसन्धान या लौ लगानेके लिअे कुछ अंशतक अेकाकी चिन्तनकी अपेक्षा है ही। (अेकाकीका अर्थ मनुष्य-समाजसे बिलकुल ही दूर रहना नहीं है, बल्कि उस शान्तियुक्त स्थानमें चिन्तन करना है, जहाँ दूसरे खलल न डाल सकें।) और,

(२) अनुसन्धानके लिअे कुछ हद तक सत्संगकी भी जरूरत होती है। (सत्संगका अर्थ है, अपनेसे विशेष पवित्र जनोंका सहवास और समान प्रकृतिके श्रेयार्थीके साथ अुपासनामें सहयोग।)

बात यह है कि परमात्माके साथ लौ लगानेकी वृत्ति जब किसीके मनमें अुठती है, तो अुसे निरुपाधिकताकी — दूसरे किसी काम या व्यक्तिसे खलल न पहुँचनेकी — आवश्यकता मालूम होती है। शोर-गुल और दूसरे काम या आदमीकी हरकत पसंद नहीं आती। अिस वृत्तिकी तीव्र स्थितिमें — टॉल्स्टॉयके शब्दोंमें 'अुच्चतम आध्यात्मिक मनोदशाके समय'— वह अपनी अुपासना अेकान्तमें ही करना चाहता है। परन्तु जब अितनी बहुत ही अूँची मनोदशा न हो, तब यह आवश्यक नहीं कि अधम मनोदशा ही हो। बड़ेसे बड़े भक्तको भी 'अुच्चतम मनोदशा' से नीचेकी मध्यम मनोदशा आती है, और साधारण लोगोंको तो बड़े अंशमें मध्यम मनोदशाका ही अनुभव रहता है। यदि अैसे समय परमात्माका अनुसन्धान न कर सके, तो भी अिस प्रकार अुसका स्मरण तथा भक्ति आदि कोमल भाव और धर्माधर्म तथा तत्त्व-विचार करनेकी वृत्ति रहती है, जिससे अुस स्थितिमें पहुँचनेके लिअे ये सीढ़ीका काम दे सकें। अैसी स्थितिमें वह अपनी समान-रुचिके दूसरे लोगोंका सहयोग खोजता है। जो अिस प्रकार सहयोग चाहता है, वह हर किसीको अिकट्ठा करना नहीं चाहता। अिच्छासे या अनिच्छासे चाहे जैसे लोगोंके अिकट्ठा होनेकी अपेक्षा तो वह अकेला रहना ही पसन्द करेगा।

मनुष्योंका कुछ भाग अिस मझली स्थितिका होता है। अर्थात्, न केवल अेकान्तमें ही प्रयत्न कर सके अैसी तीव्र वृत्तिवाला ही और न अैसा ही जो केवल समुदायमें ही अैसा प्रयत्न करना चाहता है; बल्कि वह कुछ अेकान्तमें भी अनुसंधान करनेकी अिच्छा रखता है और यदि समान रुचि रखनेवाले दूसरे साथी मिल जायँ, तो अुनका सहवास भी चाहता है। बहुत लोग तो सामुदायिक स्तवनमें भाग लेते लेते व्यक्तिगत अुपासना करने लग जाते हैं। जैसे जैसे अैसे व्यक्ति अपने प्रयत्नमें आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे वे अेकान्त प्रयत्नकी ओर अधिक झुकते जाते हैं, और जब समुदायमें बैठते हैं तो धीरे धीरे खुद मध्यबिन्दुकी ओर आते जाते हैं, कोर (परिधि) पर नहीं रहते। सीधी-सादी भाषामें कहें तो वे अपने साथ अेक मण्डली बनाते जाते हैं और अपनी रुचिका स्वाद दूसरोंको लगाते जाते हैं। अैसे परिणामके कारण ही अैसा सहवास संग कहलाता

है। और वह शुभ हेतुसे तथा सद्रुचिवाले मनुष्योंका होनेके कारण सत्संग कहलाता है। टॉल्स्टॉयने पाखण्ड-खण्डनके आवेशमें भले ही अैसी भाषा अिस्तेमाल की हो, जिससे समुदाय-मात्रका निषेध हो जाता है, परन्तु खुद अुन्होंने भी सत्पुरुषकी संगत खोजी थी और अुससे लाभ अुठाया था। जगत्का अनुभव भी अैसा ही है। जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है —

मुदमंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥

और बिनु सत्संग विवेक न होअी।

बिना सत्संगके विवेकका — स्तवन-अुपासनाके तीसरे अंगका — विकास नहीं हो सकता। अिसलिअे टॉल्स्टॉयका निषेध सम्प्रदायों और अुनमें पोषित रूढ़ियों तक ही सीमित समझना अुचित है।

अिस तरह अेकसी रुचिवाले मनुष्योंकी परमात्माके साथ अनुसंधान करनेकी मध्यमवृत्तिमेंसे अेकान्तिक अुपासनाके अुपरान्त सामुदायिक अुपासना निर्माण हो जाती है। ठीक तरह बढ़ी हुअी अैसी अुपासना अेकान्तिक अुपासनाके लिअे कभी घातक नहीं होती, बल्कि वह समुदायके व्यक्तियोंको अुसकी ओर ले जाती है। जो सामुदायिक अुपासना अैसा परिणाम न ला सके, अुसमें कोअी दोष होना चाहिये।

तात्पर्य यह कि, यदि सामुदायिक स्तवन-अुपासनाका स्वरूप ठीक ठीक हो तो वह :

१. व्यक्तिगत अुपासनाकी मारक नहीं, बल्कि पोषक होगी; जिनमें व्यक्तिगत अुपासनाकी वृत्ति तैयार नहीं हुअी है, अुनमें अुसे पैदा करेगी।

२. मनुष्यको अपना श्रेय खोजने और समझनेके लिअे सद्ग्रन्थों और सत्पुरुषोंके परिचयकी जो जरूरत होती है, अुसकी पूर्तिका साधन बनेगी।

३. जिस प्रकार पाठशालाओंमें प्रचलित सांसारिक विद्याओंका अभ्यास यदि विद्यार्थीमें अुन विद्याओंका खुद होकर ज्यादा अध्ययन करनेकी वृत्ति न अुपजा सके, तो वह निष्फल हुआ माना जायगा, वैसी ही बात अध्यात्मविद्याके विषयमें स्तवन-अुपासनाकी समझनी चाहिअे।

४. यह हो सकता है कि किसी खास मानसिक स्थितिमें मनुष्य व्यक्तिगत अुपासना ही करनेकी अिच्छा करे। अैसा परिणाम आना अिष्ट है, और अुस समय यदि वह सामुदायिक स्तवन-अुपासनामें भाग न ले तो अुसमें दोष नहीं।

५. भले ही सिद्धान्तके तौर पर यह न कहा जा सके कि सामुदायिक स्तवन-अुपासनासे मिलनेवाले सत्संगसे गुजरे बिना कोअी व्यक्ति आगे बढ़ ही नहीं सकता-अैसा निरपवाद नियम है। फिर भी अैसा कहीं सुननेमें नहीं आया कि कोअी मनुष्य अुसके बिना आगे बढ़ा हो। यदि कोअी अपवाद हो तो अैसे व्यक्ति अपना मार्ग खुद अपने आप निकाल लेते हैं।

सामुदायिक अुपासनामें अुत्पन्न दोष — सामुदायिक स्तवनकी अुपयोगिता और आवश्यकता हमने देखी। अब अुसका स्वरूप ठहरा लेना अुचित है। लेकिन अिसके भी पहले स्तवन-अुपासनामें अुत्पन्न दोषों और अुनके कारणोंका विचार कर लेना ठीक होगा, जिससे हम भरसक अुनसे छूटनेका प्रयत्न कर सकें और अुनके प्रति जाग्रत रह सकें।

अेक बार जहाँ सामुदायिक स्तवनकी अुपयोगिता तथा आवश्यकता मालूम हो गअी कि मनुष्यके अन्दर रही हुअी समाज-प्रियता अुसे समुदाय जुटानेकी प्रवृत्तिमें लगाती है। अेकाकी अुपासना करनेवालेको यदि कोअी दूसरा सौ फ़ीसदी समान रुचिका साथी मिल जाय तो अुसे — "अेकसे दो भले" अिस न्यायके अनुसार मनमें अच्छा लगता है। तीसरा साथी यदि सौ फ़ीसदी अपनी ही रुचिका न हो, बल्कि नब्बे फ़ीसदी हो तो भी चल जाता है। अिस तरह धीरे धीरे संख्याका महत्व बढ़ता जाता है। हमारे साथ अुपासनामें अब दस आये, सौ आये, हजार आये, लाख आये—यह देखकर समुदाय बनानेवालेको तथा अुसके मूल साथियोंको अेक प्रकारकी कृतार्थता मालूम होती है। अुसका अभिमान भी होता ही है। ज्यों ज्यों संख्याके लिअे रुचि बढ़ती जाती है, त्यों त्यों रुचिकी समानताका माप घटता जाता है; और जैसे विभाज्य और अविभाज्य अंकोंका महत्तम समापवर्तक अेक ही होता है, अुसी तरह अिस समुदायमें रुचिकी समानता वही रहती है, जो **कमसे कम** हो सकती है। आम तौर पर यह कह

सकते हैं कि अिस समुदायका महत्तम समापवर्तक बहुत करके वह व्यक्ति होगा, जो सुगमसे सुगम 'सा रे ग म' और सरलसे सरल तालमेंसे मिलता आनन्द परख सकता और अुसकी रुचि रखता हो। आमतौर पर संगीतकी अितनी देन और अभिरुचि नब्बे फ़ीसदी मनुष्योंको मिली होती है।

समुदाय बनानेवालेका साथी खोजनेमें और प्राप्त करनेमें जैसा हेतु रहता है, वैसा अुसके साथियोंमें सोलह आने नहीं रहता। अिससे संख्या बढ़ानेके लिअे वे सबसे ज्यादा मेहनत करते हैं। अुस मेहनतका स्वरूप होता है समुदाय और स्तवनको आकर्षक बनानेका। अिस वृत्तिमेंसे ही आकर्षक भवन, आकर्षक संगीत, धूप, दीप, आरती, घंटा, चित्र, फूलोंका शृंगार, प्रसाद अित्यादि अिन्द्रियाकर्षक सामग्रीका ठाट रचा जाता है।

यह हुआ अेक दोष। अब दूसरेका विचार करें।

परमात्माके साथ लौ लगानेकी अिच्छामेंसे साधक या साधकोंका समुदाय किसी न किसी प्रकारकी स्तवन, भजन, पूजन आदिकी विधियाँ बना लेते हैं। साधक जब अेकाकी होता है, तो अपनी वृत्तिके अनुसार अपनी अुपासना-पद्धतिमें वह जब चाहे तब कैसा भी परिवर्तन कर सकता है। अुसमें अुसे दूसरेकी सुविधा असुविधा या वृत्तिका विचार नहीं करना पड़ता। परन्तु जब समुदाय हो जाता है, तो सबकी रुचि और अनुकूलतायें देखनी पड़ती हैं, जल्दी जल्दी परिवर्तन नहीं किया जा सकता; स्तवन, भजन, पूजन अित्यादिके शब्द, राग, विधियाँ आदि नियत करनी पड़ती हैं। मानव-स्वभाव अेक तरहसे अिल्ली जैसा होता है। अपने विकासके लिअे ही अिल्ली अपने आसपास अेक कोष्ठ बना लेती है, परन्तु बादमें वह खुद अुसीमें अन्दर अैसी फँस जाती है कि अुस कोष्ठको काटने पर ही वह बाहर निकल सकती है। अिसी तरह मनुष्य स्वनिर्मित विधियोंमें ही अैसा बँध जाता है कि अुसमेंसे सरलतासे छूट नहीं सकता। अिल्लीमें तो कोष्ठको काटनेका साहस और ज्ञान होता है, लेकिन बहुधा देखा गया है कि मनुष्य अितना साहस और ज्ञान नहीं दिखा सकता।

अति परिचित होनेके कारण, असली प्रयोजन न रह जानेके कारण, बदली हुअी स्थितिके कारण, अथवा दूसरे किसी कारणसे, कुछ समय निकल जानेके बाद, ये विधियाँ भाव अुत्पन्न करनेमें और परमात्माका भान करानेमें असमर्थ हो जाती हैं, और अुनका पालन केवल यन्त्रवत् हो जाता है। अिसमें आश्चर्य करनेका या साधकोंको दोष देनेका कारण नहीं। जीवनमें दूसरे स्थानोंमें भी अैसा होता है। जैसे हम मान सकते हैं कि रोगीकी सेवा-शुश्रूषासे बढ़कर दया-धर्म या प्रेम-धर्मका कार्य नहीं है, फिर भी रोजके परिचयके कारण हम बहुत बार देखते हैं कि नर्सका काम करनेवालेके मनमें अैसा कोअी भाव अुत्पन्न नहीं होता। दर्दसे तड़पते बीमारको डाक्टर और नर्स कअी बार पीट भी देते हैं और यह भी देखा गया है कि वे अुनके जख्मोंको भी दुखा देते हैं। वास्तवमें रोगीके प्रति जो अनुकम्पा मनमें अुपजनी चाहिअे, वह रोजमर्रा अिस दृश्यको देखते रहनेके कारण नहीं अुपज सकती। वकीलका पेशा दरअसल अन्याय-पीड़ित व्यक्तिको न्याय-दान करानेकी अुदात्त वृत्तिसे निकला है; परन्तु आज अिस पेशेसे मनमें यह भाव अुठता हुआ शायद ही कहीं देखनेमें आता है, बल्कि आज तो यह पेशा मुवक्किलकी मुसीबतसे लाभ अुठाकर अपनी जेब गरम करनेका ही हो गया है। अिसी तरह अतिशय अुदात्त स्तोत्र या भजन भी, नित्यपाठके कारण, मनमें भाव पैदा करनेमें निष्फल सिद्ध हो जाता है।

परन्तु, अेक ओर जहाँ अैसा होने लगता है, वहाँ दूसरी ओर, अुन विधियों और स्तवनों पर प्राचीनताकी या किसी सत्पुरुषके सम्पादकत्वकी छाप लग जाती है, और प्राचीनता अथवा बड़ोंके संपादनका अुपासकोंके मनपर अितना जादू छा जाता है कि प्राण-संचार करनेका अुसका मूल प्रयोजन न सधनेपर भी, अुसमें परिवर्तन करनेकी हिम्मत नहीं होती। समुदाय अुसीपर चिपका रहता है और अुसका नियमित अुच्चारण तथा अुससे सम्बद्ध विधियोंके पालनको ही स्तवन-अुपासना मानने या बताने लगता है। अुस समुदायके मनुष्यके लिअे, जब वह अुस समुदायके साथ न हो, निजी तौरपर अुसके अुच्चारण करनेका अेक नियम बन जाता है और खानगी तथा सामुदायिक अुपासनाके संबंधमें अमुक विधिसे

अमुक पाठ कर जाना ही बस है अैसी अुसकी अेक मान्यता बन जाती मालूम होती है। स्तवन-अुपासनाके प्राणमें नहीं, बल्कि अुसके कलेवरमें अुसकी श्रद्धा स्थिर हो जानेसे अुसे छोड़नेकी हिम्मत अुसे नहीं होती। वह अिसमें अितना बँध जाता है कि जब किसी दिन वह किसी दूसरे समुदायमें पहुँच जाता है तो अुतनी ही शुद्ध परन्तु किसी दूसरे प्रकारकी स्तवन-अुपासना की हो तो भी अुसे यह खटकता रहता है कि मैंने आज स्तवन-अुपासना नहीं की, और वहाँसे घर आकर अपने समुदायका स्तोत्र-पाठ करता है। वह यह समझता है कि अपने समुदायके विधि-पालनमें ही अुपासना-सर्वस्व समाया हुआ है। सच पूछिये तो स्वामी-नारायण सम्प्रदायमें जिसे बाधितानुवृत्ति* कहते हैं, अुसीका यह संस्कार है।

* किसी भी काम करनेकी अैसी पक्की आदत कि जरा भी विचार किये बिना अुस कामका अवश्य हो जाना बाधितानुवृत्ति है। अुदाहरणके लिअे — जिस आदमीको मूँछपर ताव देनेकी आदत पड़ गयी हो वह मूँछ मुँडा लेनेपर भी वह अैसा करता हुआ देखा जाता है। और यदि मूँछ हाथमें न आवे तो अुसे कुछ अटपटा लगने लगता है। सर वाल्टर स्काटके सम्बन्धमें अैसा कहते हैं कि अुसके वर्गमें अेक लड़का हमेशा अुससे अूपर रहता। स्काट अुसके अूपर पहुँचनेका प्रयत्न करता, परन्तु सफल न होता। अेक दिन स्काटको पता लगा कि वह लड़का सवालका जवाब देते वक्त अपने कोटके बटनके साथ खिलवाड़ किया करता था। स्काटने अेक दिन तरकीबसे वह बटन काट डाला। फिर जब शिक्षकने प्रश्न किया तो अुसके पाँव खड़े हुअे और हाथ बटनकी तरफ झुके। हाथमें बटन आया नहीं। जिससे वह अितना घबड़ा गया कि जवाब न दे सका; बस, स्काट फौरन अूपर चढ़ गया।

अैसी ही अेक बात अेक प्रसिद्ध बैरिस्टरकी है, जो भाषण देते वक्त अपनी टोपीके साथ खिलवाड़ किया करता था।

जिस वैष्णवको टट्टी जानेके बाद नहानेकी आदत रहती है, अुसे वह अितनी दृढ़ हो जाती है कि सख्त बीमारीमें भी यदि वह न नहा सके तो अुसे यह बात कुछ खटकती रहती है। बाधितानुवृत्तिके संस्कारोंका बल अैसा होता है

बाधितानुवृत्तिसे हुअे कर्मसे भाव-विशेषका जाग्रत होना रुक जाता है, परन्तु वह न हो तो अैसी घबराहट जरूर पैदा हो जाती है, मानो कोअी बात छूट गयी है। चाहे कितनी ही पुरानी आदत हो किन्तु जब हम अुस कामको करना छोड़ देते हैं, तो थोड़े ही समयमें घबराहटका भाव पैदा होना बन्द हो जाता है।

स्तवन सामुदायिक हो या व्यक्तिगत, वह यदि केवल बाधितानुवृत्तिका संस्कार बन जाय तो अुससे अुपासकको विशेष लाभ नहीं होता। जब स्तवन-कर्मसे कोअी स्पष्ट भाव निर्माण होना बन्द हो जाय और अुसके न करनेसे कुछ छूट गया है अितना ही लगे, तब समझना चाहिअे कि अुपासकके लिअे यह स्तवन-विधि अब बेकार हो गअी है। स्तवन-अुपासनाको तभी सफल समझना चाहिअे, जब वह प्राणवान और सजीव रहे, अुसका प्रभाव हमारे दिनभरके कामोंमें कुछ न कुछ मालूम हो, हममें सात्विक भावोंकी प्रेरणा करे, विचार जाग्रत करे और बल प्रदान करे!

अेक और दोष, जो अिसीमें समाने जैसा है, परन्तु अुसकी विशेषताके कारण खास ध्यान दिलाने जैसा है, भाषासे अुत्पन्न बाधितानुवृत्तिका है। अुपासनाकी सफलताके लिअे यह अत्यन्त आवश्यक है कि अुसका प्रयोजन, अुसकी विधिका अर्थ और अुद्देश्य तथा अुसके शब्दोंका रहस्य अुपासक समझे और वह अुसकी भावना जाग्रत करे। अुपासक जिस भाषाको ठीक ठीक न समझता हो, अथवा अिस तरह न समझता हो कि जिससे अुच्चारणके साथ अुसका कुछ भी अर्थ अुसके मनपर अंकित हो सके, तो अैसी अुपासना बाधितानुवृत्तिका संस्कार ही निर्माण करती है।

"जैसे बालक अकारण ही 'माँ' कह कर पुकार अुठता है और अिस तरह पुकारनेमें ही अमृततुल्य सुख अनुभव करता है, अुसी तरह भाषा या ज्ञान या अर्थ किसीकाभी विचार किये बिना, हे अनन्त, मैं तेरा नाम पुकारता रहता हूँ!"*

अिस आशयका श्री रवीन्द्रनाथका अेक गीत है। मैंने अूपर जो दोष बताया है, अुसके अुत्तरमें यह गीत सामने रखा जाता है।

सच पूछिये तो प्रस्तुत चर्चाका अिस गीतके भावके साथ कोअी सम्बन्ध नहीं। अपने प्रयत्नमें आगे बढ़ते जानेवाला अुपासक जैसे समुदायके विषयमें परिधिसे केन्द्रकी तरफ़ और समुदायसे अेकान्तकी तरफ़ झुकता जाता है, अुसी तरह अुसकी अुपासना भी विविधता और विस्तारसे अेकविधता और गाढ़ताकी ओर प्रगति करती है। शुरुआतमें अुसकी अुपासनामें अनेक भाव होते हैं, अनेक शब्द होते हैं, और भजन भी अनेक

* गीतांजलि, गीत २

होते हैं। कभी वह स्तोत्र बोलता है, कभी धुन गाता है, कभी स्वाध्याय करता है, और कभी ध्यान लगाता है। अुसके भजनों और प्रार्थनामें कभी प्रेमभाव होता है, कभी याचना होती है, कभी सकामता होती है, तो कभी निष्कामता! परन्तु जैसे सभी नदियाँ धीरे धीरे समुद्रकी ओर ही जाती हैं, वैसे ही अुसकी तमाम प्रवृत्तियाँ और वृत्तियाँ धीमे धीमे किसी अेक प्रमुख प्रवृत्ति और वृत्तिमें लीन होती जाती है। फिर अेक ही वाक्य, अेक ही शब्द, अेक ही भाव अुसके लिअे बस हो जाता है। स्तवन-अुपासनाका स्वरूप यदि ठीक हो और अुपासककी प्रगति ठीक ठीक होती जाती हो, तो अैसा परिणाम आना चाहिअे। कविवरका पूर्वोक्त गीत अनेक-विध अुपासनामेंसे, अूपर कहे अनुसार, अेकविध अुपासनाकी तरफ जाते हुअे भक्तकी स्थितिका सूचक है। अिसमें कवि सुलभ अत्युक्ति भी है। क्योंकि, अैसा अुपासक खुद जो नहीं समझता है, वह तो बोलता ही नहीं है। परन्तु अिसके विपरीत, जो कुछ समझता है अुसमेंसे और सब छोड़कर सिर्फ़

'वदनीं तुझें मंगल नाम। हृदयीं अखंडित प्रेम ॥'

नामदेवकी अिस स्थितिमें होता है। अुसे ज्ञान या अर्थका विचार करनेकी जरूरत नहीं रहती। क्योंकि अुसने भाषा-बाहुल्यका त्याग करके अेक परिचितभाव और अर्थयुक्त 'नाम' ही पकड़ लिया है।

अिसलिअे यह विचार कि अुपासनाके पाठमें चाहे जो भाषा, चाहे जो अर्थ, या अर्थका अभाव हो तो भी हर्ज नहीं, मेरी दृष्टिमें गलत है। अर्थको छोड़कर साधा गया केवल पदलालित्य अुपासनाके द्वारा परमात्माके साथ अनुसन्धान करानेमें सफल नहीं होगा; बल्कि केवल अुपासनाकी बाधितानुवृत्ति ही निर्माण करेगा। अेक धर्मके सब लोगोंकी भाषा कम-से-कम अुपासनाके लिअे तो अेक ही होनी चाहिअे। यह बात अितनी महत्वकी नहीं, जितनी यह कि अुपासना सत्य और अीश्वरको सन्मुख करानेवाली होनी चाहिअे। मैं समझता हूँ कि अीसाअी लोगोंने बाअिबिलकी मूल भाषाको न पकड़ रखकर लोक-भाषा द्वारा अुसका अुपयोग करनेमें अधिक समझदारी दिखलाअी है, और मुसलमानोंने अरबीकी और हिन्दुओंने संस्कृतकी बुतपरस्ती की है।

यह मानना भी अुचित है कि अेक तरहसे भाषाका प्रश्न अितना सरल नहीं है। जिसे हम गुजराती, मराठी, हिंदी आदि जैसी मातृभाषा कहते हैं, अुसमें भी संस्कृत (साहित्यिक) और प्राकृत (बोलचालकी) जैसे भेद पड़ ही जाते हैं। हमारी पुस्तकोंकी भाषा और गाँवोंके लोगों और घरवालों द्वारा बोली जानेवाली भाषा – अिन दोमें फ़र्क है ही। और अैसी संस्कारी भाषामें रचित स्तवन भी अितना सरल नहीं होता कि बिना समझाये ही समझमें आ जाय। परन्तु गीर्वाण संस्कृत और हिंदी आदि संस्कृतमें जो भेद है वह, यह कि संस्कारी हिंदीको अेक दो बार भले ही समझाना पड़े, परन्तु फिर वह दुर्बोध नहीं रह सकती; क्योंकि यह प्रचलित भाषा है। गीर्वाण संस्कृतको दस बार समझाने पर भी जो अुस भाषाकी शिक्षा नहीं पाये हुअे हैं, अुन्हें वह अगम ही रहेगी। जब आजकी संस्कारी हिंदी व्यवहारू हिंदीसे अितनी अधिक भिन्न पड़ जायगी कि केवल भाषा-शास्त्री ही अुसे समझ सकें, तब तो अुसमें बने स्तवन भी छोड़ ही देने होंगे।

अिस तरह सामुदायिक स्तवनमें अुत्पन्न होनेवाले दोषोंमें अुपासकोंकी संख्या वृद्धिका मोह और बाधितानुवृत्ति पैदा करनेवाला भाषा-मोह, विधि-मोह, तथा प्राचीनताका मोह — ये दोष गिनाये जा सकते हैं। अिन दोषोंके अुत्पन्न होते ही अुन्हें दूर करनेकी जितनी सावधानी हम रख सकेंगे अुतनी ही अपनी सामुदायिक अुपासनाको शुद्ध रख सकेंगे।

अुपासनाका स्थान — परन्तु सामुदायिक अुपासनाकी आवश्यकता स्वीकार करते ही अुसके स्थानका प्रश्न खड़ा हो जाता है। अुपासनाका स्थान कैसा होना चाहिअे, अिस विषयमें श्री ज्ञानेश्वर लिखते हैं:

“जहाँ वनश्रीकी शोभाके कारण ही बैठे हुओंको अुठना अच्छा न लगे, जिसे देखते ही वैराग्यमें ओज आ जाता है, जिसका वास सन्तोषका सहायक होता है और मनको धैर्यका कवच पहनाता है, जहाँ अभ्यास (अीश्वर चिन्तन) अपने आप होने लगता है और जहाँ अैसी रम्यता अखंड बसती हो कि जिससे हृदयमें अनुभवका प्रकाश हो जाय, जिसके पास होकर जानेसे तपश्चर्याके मनोरथ (अुछलने लगते हैं) और पाखंडीके मनमें भी आस्था जड़ पकड़ ले, सहज अथवा अचानक जिस

मार्गसे जाते हुअे सकाम मनुष्य भी वापस लौटना भूल जाय; अिस तरह जो स्थान अनिच्छुकको भी वहाँ रोक ले, भटकनेवालेको बैठा दे, वैराग्यको हिलाकर जगा दे, जिसे देखकर किसी विलासीके भी मनमें अैसा हो कि भोग-वैभव छोड़कर यहीं शान्त होकर बैठ जाय; जो अैसा सुन्दर और अति अुत्तम स्थान दिखे (अुसे अुपासनाके योग्य स्थान कहना चाहिअे)।”

(ज्ञानेश्वरी)

परन्तु अिस विचारके अनुसार तो अुपासनाके स्थानको न तो कलामय और न ही कलाहीन रचनासे सुधारने या बिगाड़नेका प्रयत्न करना चाहिअे। अिसलिअे, अैसे स्थान पर न तो मंडप या तोरण चाहिये, न फूल या फल, न यज्ञवेदी या होम, और न चाहिये कोअी और पूजा-साधन, तम्बूरा या मजीरा। सुन्दर भाव-पूर्ण शब्द-चित्रित पर्दे या भाव-पूर्ण चित्र अथवा मूर्तियाँ भी वहाँ न रखी जायँ। मनुष्य अपने कंठमें जितने भाव भर सकता हो अुतने ही संगीत और भाव लेकर वहाँ आये, और अितनेसे प्रेरित होकर जितने आदमी आते हों वे भले ही आ जायँ।

परन्तु यह याद रखनेकी जरूरत है कि मनुष्यका आचरण अिस तरहका नहीं रहा। जगह जगह मनुष्यने अपनी अकल बघारकर कुदरतको बिगाड़नेका पुरुषार्थ किया है। पर्वतके भव्य शिखरोंने, समुद्रके विशाल तटोंने, नदीके किनारोंने मनुष्यको पहले पहल आकर्षित किया। परन्तु मनुष्यने वहाँ बैठकर स्तवन करनेमें ही सन्तोष नहीं माना। अुसने कहीं मन्दिर बँधाकर, कहीं गुफा बनाकर, कहीं घाट बाँधकर, और कहीं कुंड बना कर अिन स्थानोंको पहले बिगाड़ा। फिर अुस बिगाड़को सुधारनेके लिअे खुले हाथ रुपया खर्च करके अपनी कलासे सुशोभित करनेका प्रयत्न किया। आप काशी जाअिये, नासिक जाअिये, मथुरा जाअिये, या आबू जाअिये, नदीके किनारों और पर्वतके शिखरों पर अींट-चूनोंके ढेरोंकी कतार बँधी हुअी दिखाअी देगी। मानो कोअी स्तवन-योग्य स्थान रहने ही न देना अभीष्ट हो, अिस तरह दानवीरों और कलाकारोंने कुदरतको बिगाड़ डाला है।

परन्तु, सामुदायिक अुपासनाकी आवश्यकता मान लेने पर अिस बात पर भी ध्यान जाना जरूरी है कि बिलकुल कुदरतकी गोदमें रहना भी शक्य नहीं। पूर्वोक्त प्रकारका कोअी रमणीय स्थान सामुदायिक अुपासनाके लिअे हम निश्चित करें। परन्तु वहाँ अेकत्र होनेका निश्चय करते ही क्या वहाँ वे सब सुविधायें न करनी पड़ेंगी जो हमारे अुद्देश्यको सफल करनेके लिअे जरूरी हैं? बैठनेकी जगह साफ़ करनी होगी, आनेवालोंके लिअे जगह तैयार करनी होगी, प्रवचनकारको सब कोअी देख और सुन सकें अैसी वेदी बनानी होगी — अिन सबसे प्रकृतिकी सुन्दरतामें बाधा जरूर पड़ेगी, परन्तु अिसके बिना छुटकारा भी कहाँ है? और यदि अितना क्षम्य मान लेते हैं तो फिर बरसातके दिनोंके लिअे वहाँ अेक छप्पर डाल लें तो क्या बुरा? अब यदि छप्पर बाँधना मंजूर करते हैं तो कुदरतको तोड़े-मरोड़े बिना यह हो ही नहीं सकता, और यदि कुदरतको बिगाड़ना अनिवार्य ही हो, तो अुसे बिगाड़नेके पापके अेवजमें कहिअे मनुष्यको अुसे अपनी कलासे सुशोभित करनेका भी प्रयत्न करना ही चाहिअे।

फिर, जहाँ दस आदमी अिकट्ठे हों वहाँ समय-पालनकी सुविधाके लिये कोअी न कोअी संकेत ठहराना पड़ता है। सुविधानुसार कहीं वह बाँगका, तो कहीं घण्टा, शंख, अित्यादि ध्वनिका स्वरूप लेगा। अब यदि ध्वनि और शोभाको रखना है तो फिर अुसमें संगीत, चित्रकला, कारीगरी अित्यादि आ ही जाते हैं। अिस प्रकार जैसे कंथाको चूहेसे बचानेका प्रयत्न करते हुअे संन्यासी गृहस्थी बन जाता है,* अुस तरह सामुदायिक स्तवन-अुपासनामेंसे भव्य देवालय बन ही जायँगे।

---

* अेक संन्यासीको कंथा (गुदड़ी) चूहा काट जाया करता था। अेक 'प्रेमी' भक्तने अुन्हें सलाह दी कि बिल्ली पाल लो। तदनुसार संन्यासी अेक बिल्लीका बच्चा ले आया। संन्यासी ठहरे भूतवत्सल! खुद चाहे दूध न पियें पर बच्चेको तो पिलाना ही चाहिअे न? हर रोज दूधकी भिक्षा माँग लेनेके बनिस्बत अुन्होंने अेक सज्जनसे गाय ही भिक्षामें माँग ली। अब गायको रोज चराने ले जानेका धर्म प्राप्त हो गया। रोज किसके खेतमें चराने ले जायँ? तो अेक दूसरे सज्जनसे अेक जमीनका टुकड़ा दान ले लिया। जमीनके साथ खेती आ ही गयी! अिस तरह धीरे धीरे संन्यासीसे फिर गृहस्थी बन गये! और यह सब अेक कंथाको बचानेके खातिर!

फिर शहराती जीवनमें कुदरती स्थान ही शक्य नहीं। अिससे, वहाँके लिअे कुदरतकी गोदमें बैठनेका नियम नहीं बन सकता। वहाँ तो 'कुछ न कुछ कृत्रिम रचना करनी ही पड़ती है और उसे मनुष्य अपनी बुद्धिसे जितनी भव्य और पूजन योग्य बना सके अुतनी बनानी अुचित है।

अिस प्रकार आवश्यक रचना और पाखण्ड-वर्धक रचनाकी सीमा निश्चित करना अेक मुश्किल पहेली है।

यदि हम अिस बातके लिअे बहुत अुत्सुक हों कि हम पाखण्ड-प्रवेशको कमसे कम सुविधा दें, तो अिसका अुपाय किया तो जा सकता है; परन्तु मुझे आज यह आशा नहीं होती कि अैसे सुझावपर अमल होगा। क्योंकि सामुदायिक अुपासनाको लोग केवल उपासनाके लिअे ही नहीं अपनाते हैं, बल्कि अनेक राजकीय, सामाजिक, स्वार्थी, परमार्थी अुद्देश्योंके लिअे भी अपनाते हैं और अिसलिअे उन्हें पाखण्ड-प्रवेशसे दिलगीरी नहीं होती।

फिर भी, जिस तरह दूसरी अनेक बातोंमें लोग किसीके योग्य सुझावको भी चाहे न मानें, परन्तु उसकी सत्यताको माने बिना अुन्हें चलता नहीं, उसी प्रकार मेरे सुझाये उपायकी योग्यताको तो लोग मानेंगे अैसी मुझे आशा है।

अेक प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय सन्तका हर साल पंढरपुरकी यात्रा करनेका नियम था। अुन्होंने यह नियम बना रखा था कि जब पंढरपुर जाते, तब अपनी झोंपड़ीमें आग लगा देते और जब यात्रासे लौटकर आते, तो नयी झोंपड़ी बनाते।

सामुदायिक अुपासनाके स्थानके लिअे हम भी यदि अैसा ही कोअी नियम बना लें, तो पाखंडी रचना और आवश्यक रचनाके बीचकी कामचलाअू सीमा हमारे हाथ लग जायगी। अुपासनाके लिअे अेक ही स्थानमें अेक सालसे ज्यादा बार अेकत्र न हों और स्थानान्तर करते समय पिछले स्थानकी सामग्री नये स्थानमें न लाअी जाय। अैसा करनेसे हम बड़ी बड़ी अिमारतों, मूर्तियों, सोनाचाँदीके शिखरों, संगमर्मरकी पट्टियों और खम्भोंकी रचनाकी झंझटमें नहीं पड़ेंगे, गर्वका कारण बनने-जैसी बड़ी घण्टा भी नहीं बाँधेंगे, वाद्य-समूह भी नहीं रखेंगे। फिर भी, बैठनेकी सुविधा करेंगे, अुसके लिअे लीपेंगे या रेती बिछायेंगे। चौमासेमें

बचावका अिन्तजाम करेंगे और जिसपर श्रद्धा होगी असे किसी अेकाध व्यक्तिकी तस्वीर लगा देंगे। चार पैसेके दिये या अेकाध लालेटनसे काम चला लेंगे। जब अुमंग होगी तो पत्तेके तोरण लटका लेंगे, या कामचलाअू मंडप खड़ा कर लेंगे। किसी अुत्साही भक्तको हर साल नया अेकतारा और करतालकी जोड़ी ला देनेमें कोअी दिक्कत नहीं होगी।

अिस तरह अुपासनाके स्थानकी व्यवस्था होगी।

अुपासना पाठ — अिसी तरह अुपासना केवल बाधितानुवृत्तिका संस्कार न बन जाय, अिसलिअे अुचित होगा कि अेक ही स्तवनपाठको पकड़कर न रखनेका नियम बनाया जाय। सालमें अेक या दो बार भी सारा पाठ या अुसका कुछ पाठ बदल दिया जाय, तो यह अिस मूढ़ाग्रहको छोड़नेमें अुपयोगी हो सकेगा कि पाठ-विशेषके द्वारा ही अीश्वर-स्तवन किया जा सकता है। अुसी तरह यदि परिचित पाठसे भावोंका अुत्पन्न होना रुक गया हो, तो अुसे फिर जाग्रत कर सकता है।

अलबत्ता, नये पाठका यह अर्थ नहीं कि पुराने पाठका भाव भी नयेमें न आये। अिस विषयमें तो, जैसा मैं आगे बताअूँगा, भाव और पूज्यता अेक ही हो सकती है, भले ही स्तवनकी अूर्मि और काव्य जुदा हो और प्रबन्ध-रचना भिन्न प्रकारकी हो।

अिस भावकी बातपरसे सामुदायिक-स्तवनमें क्या क्या न होना चाहिअे, अिसका भी विचार कर लें—

१. व्यक्ति यदि सकाम होंगे, तो व्यक्तिगत अुपासना कामनाके लिअे, और श्रेयार्थी होंगे तो निष्काम होनेकी अिच्छासे करेंगे। परन्तु, सामुदायिक अुपासना व्यक्तियोंकी या समुदायकी कामनाओंकी सिद्धिकी अिच्छासे होना अनुचित है। बहुतेरे धार्मिक संप्रदायोंने सकाम अुपासनाका पाखण्ड अितना बढ़ा दिया है कि टॉल्स्टॉय-जैसे सत्यशोधक अुससे काँप अुठें तो कोअी आश्चर्य नहीं। "हे प्रभो, हमारे शहरमें हैजेका प्रकोप हो गया है अुसे मिटा; हमारे राजाको युद्धमें विजय दे, हमारे शत्रुका नाश कर, हमको स्वराज्य प्राप्त करा," आदि लोगोंकी रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों और अैहिक तृष्णाओंके लिअे

सामुदायिक अुपासनाका अुपयोग करना सामुदायिक अुपासना — अर्थात् सत्संगका विरोधक है।

"हे प्रभो, हमारे कर्म हम रागद्वेषसे रहित होकर करें, हमारे कर्मों द्वारा हमारी चित्त शुद्धि हो, हमारे कर्मोंमें हम ही बँध न जावें, हमारे कर्मोंसे किसीका अहित न हो, हमारे कर्म अशुद्ध हों तो हमें सफलता न मिले, हमारे कर्म शुद्ध हों तो अुनके दुःखरूप होते हुअे भी हमें अैसी बुद्धि और शक्ति दीजिये कि हम अुन्हें न छोड़े" — यह व्यक्तिगत निष्काम अुपासनाका ध्रुपद हो सकता है और सामुदायिक अुपासनामें तो यही ध्रुपद होना चाहिअे। भले ही समुदायका ९९ फीसदी भाग रागद्वेषसे मुक्त हो और सकाम अुपासनाको ही अीमानदारीसे कर सकता हो, परन्तु सामुदायिक अुपासनाका हेतु तो समुदायको सत्संग प्राप्त कराना है। अिसलिअे उपासनाके समय उसके रागद्वेषोंको खाद देनेका काम न होना चाहिअे। बल्कि रागद्वेषोंको गोखरूके पौधेकी तरह उखाड़ डालनेका ही यत्न होना चाहिअे।

"हे प्रभो तेरे स्वरूपकी मुझे निःसंशय प्रतीति करा दे; तेरी महिमाके ज्ञान सहित तेरी भक्ति प्रदान कर; अैसा कर जिससे तेरी भक्तिमें कोअी सकामताका दोष न रहे। तेरा या तेरे भक्तोंका मैं द्रोह न करूँ, तेरे संतोंका समागम मुझे होने दे; तेरा अखंड दर्शन मिलता रहे; तेरे दासोंका दास मुझे बना — ये सात याचनायें मेरी हैं। अिन्हें पूरा कर" — यह स्वामीनारायणीय सामुदायिक उपासना प्राकृत भाषामें है। यह नहीं कह सकते कि अिसके अनुसार ही सत्संगियोंका जीवन व्यतीत होता है। फिर भी यह अधिक उदात्त उपासना है और "राज्य प्रदान कर, धन प्रदान कर, संतती प्रदान कर, हमारे गोधनको बढ़ा, हमारे शत्रुओंमें प्लेग फैला, उनकी बुद्धिको चक्करमें डाल दे, हमारे सैनिकोंकी भुजाओंमें अखंड बल भर दे, हमारे मार्गोंसे सब विघ्न दूर कर" — अैसी उपासना भले ही वेदकी, कुरानकी, या बाअिबलकी भाषामें हो, लोगोंकी वृत्तिका सत्य-दर्शन करनेवाली हो, फिर भी वह सत्संगकी उपासना नहीं, और सामुदायिक उपासनामें इसे स्थान न होना चाहिअे।

(२) सामुदायिक अुपासनामें जिस प्रकार सकाम याचनायें नहीं हो सकतीं, अुसी प्रकार अुसमें अनेक देवोंकी अुपासना भी नहीं होनी चाहिअे। हाँ, यदि अुस समुदायका कोअी अेक सर्वमान्य अिष्ट देव हो और अुसकी अुपासना अुसमें की जाय तो बात दूसरी है। परन्तु अुसके साथ दूसरे देवताओंकी भी अुपासना रखना अिष्ट नहीं। 'अनन्याश्रय'के विचारमें संकुचितता या परमत-असहिष्णुता नहीं, बल्कि अेक सिद्धान्त है। अलबत्ता, अनन्याश्रयका अर्थ समुदायके अिष्ट देवकी निन्दा करना न होना चाहिअे। अनेक स्तोत्र, भजन आदि अैसे होते हैं, जो दूसरोंके अिष्ट देवोंको अपने अिष्ट देवसे हलका बताते हैं। वह अनुचित है। जो अनन्याश्रयी है, अुसके लिअे पूजा या निन्दाके भावसे दूसरे देवताओंका नाम निर्देश करना बिलकुल ज़रूरी नहीं है।

अिस दृष्टिसे मुझे 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवला' आदि श्लोक, जिनमें अेकको सर्वोपरि बतानेके लिअे दूसरेको छोटा बताया गया हो, अुसी देवताको अिष्ट माननेवालोंके लिअे भी त्याज्य मालूम होते हैं।

अनन्याश्रयमें दो भाव हैं। अेक अेकेश्वरवादका और दूसरा यह कि मेरा अिष्ट देव ही वह अेकेश्वर है। दूसरे देवोंका गौण रूपसे भी क्यों न हो, नाम निर्देश अेकेश्वर-निष्ठाके विपरीत है, और अन्य सम्प्रदायोंके लिअे अपमानकारक है।

जहाँ अेक सम्प्रदायका समुदाय न हो, वहाँ सनातनी हिन्दुओंमें सभी देवताओंको — या कमसे कम पंचायतनके देवोंको — प्रणाम करना अेक आम बात हो गयी है। अिसमें मुझे कोअी मतलब नहीं दिखाअी देता। यह अेक अैसी पद्धति है जिससे जनसाधारण भ्रममें पड़ते हैं, अुपासककी निष्ठा कहीं भी स्थिर नहीं होने पाती, और यह अेकेश्वर निष्ठाके प्रतिकूल भी है। फिर, पंचायतन देवोंमें सूर्यके सिवा दूसरे सब देव (विष्णु, शिव, गणपति और पार्वती) केवल काल्पनिक हैं। हाँ, सूर्यकी अुपासना वैज्ञानिक रीतिसे करने-जैसी हो सकती है। परन्तु अुसे हम स्तवन-अुपासना नहीं कह सकते। परमात्माके प्रतीक-रूपमें वह अेक आदरणीय प्रत्यक्ष विभूति मानी जा सकती है। परन्तु जो वैज्ञानिक दृष्टि रखते हैं, अुनके मनमें अैसा भक्ति भाव होना कठिन है। और जो सूर्य भक्त है, अुसे

वैज्ञानिक अुपासना सकाम मालूम होगी। अिस प्रकार अेकेश्वरवादी असाम्प्रदायिक सामुदायिक अुपासनामें पंचायतन देवताओंका स्तवन करनेकी ज़रूरत नहीं।

सभी देवोंको नमस्कार करके सब लोगोंको सन्तुष्ट करनेकी अिच्छा व्यर्थ है। अिससे न तो किसी दृढ़ अनन्याश्रयीको सन्तोष होता है, न किसीकी अेक निष्ठा ही दृढ़ होती है, और अेक प्रकारकी श्रद्धायुक्त नास्तिकताकी ही पुष्टि होती है।

(२) जिस प्रकार अनेक देवोंको सामुदायिक अुपासनामें स्थान नहीं हो सकता, अुसी प्रकार समय समय पर की जानेवाली सामुदायिक अुपासना भिन्न भिन्न देवोंको लक्ष्य करके भी न होनी चाहिअे। सुबह अुठते वक्त आत्म-तत्त्वकी या परमात्माकी, नहानेके बाद राम या कृष्णकी, कार्य आरम्भमें गणपति या सरस्वतीकी, अुद्योग-मन्दिरमें जाते समय विश्वकर्माकी, भोजनके समय अन्नपूर्णाकी, व्यायामके समय हनुमानकी, होलीके दिन होलिकाकी, नागपंचमीके दिन नागकी, दुर्गाष्टमीके दिन कालिकाकी, विवाहमें नवग्रहोंकी और मरणमें पितरोंकी — अैसी अेक ही समुदायमें होनेवाली सामुदायिक अुपासनाको पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त समझना चाहिअे। भले ही कोअी समुदाय या व्यक्ति प्रत्येक भिन्न कर्म करते समय अुपासना करे, परन्तु वह सभी अेक ही देवके नाम-निर्देशके साथ करना अुचित है।

'जिस प्रकार समस्त नदियोंका पानी अेक ही समुद्रमें जाता है, अुसी प्रकार सभी देवोंकी पूजा अेक ही परमेश्वरको पहुँचती है'— वेदान्तियोंने अिस प्रकार समन्वय किया है और वह सच भी है; परन्तु यहाँ तो मूल वस्तु ही भ्रामक है, और अुसकी ज़रूरत अेक समुदायमें तो बिलकुल नहीं है। यह समन्वय तो परमत-सहिष्णु बननेके लिअे ही अुपयोगी है।

अब अेक ही देवके भिन्न भिन्न नाम युक्त स्तवन भी किस प्रकारके भ्रम अुत्पन्न करते हैं, सो नीचेके अुदाहरणसे अच्छी तरह प्रतीत होगा :

मेरे अेक पूज्य हितेच्छु अेक बार यात्रामें किसी नदीको पार करनेके लिअे अेक नावमें बैठे। अुनके पास अेक वृद्ध ब्राह्मण भी बैठा था। अुन्होंने देखा कि नावमें चढ़ते ही वह ब्राह्मण कुछ गुनगुनाने लगा।

अुन्होंने ध्यानसे सुना तो मालूम हुआ कि वह 'जलेषु मां रक्षतु मत्स्य-मूर्त्तिः' या अैसे ही किसी कवचका कोअी चरण बोल रहा था। परले किनारे पहुँचकर नावसे अुतरने तक अुसका यह पाठ जारी रहा। जब वह नावमेंसे सही सलामत अुतर गया, तो अुसकी प्रार्थना सफल हुअी। अुसे अब अुसकी ज़रूरत न रही, और वह चुप हो गया। जमीन पर चलते समय तो अुसे आत्मविश्वास था और अिसलिअे अुसने अीश्वरकी सहायता नहीं माँगी, परन्तु जल प्रवासमें आत्मविश्वास न होनेके कारण जलवासी भगवानसे अुसने रक्षाकी प्रार्थना की।

जो पुरुषार्थी नहीं हैं और सकाम हैं, अुनकी स्थिति सदा अैसी ही रहनेवाली है। भले ही जो गरुड़पति है वही मत्स्यमूर्त्ति हो, परन्तु वह विमानमें मत्स्यमूर्त्तिका नाम लेकर रक्षाकी पुकार नहीं करेगा, और जलमें गरुड़पतिका नाम लेनेसे अपनेको सुरक्षित नहीं मानेगा। विद्वान ब्राह्मणोंने अिस प्रकार सब तरहसे भयग्रस्त जीवोंकी रक्षाके लिअे भरसक अनेक नामोंका आधार लेकर कअी कवच रच डाले हैं, और यह भी मान लें कि अुनके द्वारा अुन पर महान अुपकार भी हुआ है। परन्तु सामुदायिक अुपासनामें अैसी कोअी बात नहीं होनी चाहिअे, जिससे अिस मनोदशाको अुत्तेजन मिले।

अिसका अर्थ कोअी यह न करे कि मैं यह सुझाता हूँ कि परमेश्वर-वाचक किसी अेक ही नामका अुपयोग करना चाहिअे; परन्तु अेकेश्वरवादी होकर भी यदि कोअी अैसी व्यवस्था करे कि प्रभातमें परमात्माके नामसे, भोजनके समय वैश्वानरके नामसे, पाठशालामें ज्ञानघनके नामसे, अुद्योग-घरमें कर्माधिष्ठाताके नामसे, और सोते वक्त शान्त-स्वरूपके नामसे अुपासना की जाय, तो वह अनेक देवोंकी अुपासना-जैसी ही हो जायगी। अर्थात् अितना कहनेके बाद अब यह कहनेकी ज़रूरत रहती ही नहीं कि जहाँ जनताके मनमें जुदा जुदा देवताओंका खयाल होता है, वहाँ अैसा अुपयोग त्याज्य ही समझना चाहिअे।

देवताओं और अवतारोंके नामोंके बीचका थोड़ा सा भेद समझ लेना ज़रूरी है। यदि किसी समुदायके अिष्टदेव राम हों, तो अुसकी अुपासनामें अनन्याश्रयके सिद्धान्तोंके अनुसार कृष्ण विषयक नामोंका अुपयोग नहीं

किया जाता। परन्तु असाम्प्रदायिक समुदायोंमें राम, कृष्ण, रघुपति आदि नामोंका अुपयोग अैतिहासिक व्यक्तियोंका निर्देश करनेके लिअे नहीं होता। ये शब्द वहाँ ॐ, परमात्मा, परमेश्वर, भगवान् आदिके अर्थमें व्यवहृत होते हैं। जब अिस समुदायके लोग 'जय-जय यशोदानन्दनकी, दशरथ-सुत आनन्द-कन्दकी' बोलते हैं, तब वह या तो 'निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाअी'— आदि सन्तोंके स्मरणकी तरह अिन महान् व्यक्तियोंका पुण्यदायक स्मरण होता है, अथवा भले ही यशोदानन्दन कहें या दशरथ-सुत कहें, अिसका अर्थ 'परमात्माकी जय'से अधिक नहीं होता। अिस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि अिन धुनोंमें पूर्वका दोष है।

अब अुपसंहारमें अेक दो बातें और कह लेता हूँ।

अुपसंहार— लॉटरीका टिकट जीतनेवाले अुस मज़दूरको अपना बाँस नदीमें फेंक देनेकी ज़रूरत नहीं थी। जिस बाँसने अुसे अितने साल तक रोटी देकर अुसका लालन-पालन किया, वह अपनी ज़रूरत पूरी होनेके बाद अेक कोनेमें शान्तिसे पड़ा रहता। अिसी प्रकार निष्प्रयोजन होते ही स्तवन-अुपासना भी अपने आप खामोश हो जायगी। बात तो यह है कि जिसके लिअे अिसकी ज़रूरत खतम हो गयी है वह अैसे किसी समाजमें बँधा नहीं रहता, जिसमें स्तवन-अुपासनाके समय हाजिर रहना ज़रूरी हो। जो व्यक्ति अिससे परे हो चुके हैं अुनके अपवादकी आवश्यकता सब लोग स्वीकार करते हैं, और अगर नहीं स्वीकारते तो अुसे अुस समुदायमें बँधकर बैठनेकी परवाह भी नहीं रहती। अतअेव जहाँ अैसा झगड़ा पैदा होता है, वहाँ अुसका कारण तात्त्विक नहीं, बल्कि श्रद्धामन्दता होती है।

परन्तु अिस प्रकार स्तवन-अुपासनाकी आवश्यकता स्वीकारनेके बाद अुसकी मर्यादाको न मानना भी भूल होगी। कोअी व्यक्ति स्तवन-अुपासनामें भाग नहीं लेता है, अिसी परसे अुसके बारेमें कोअी राय बनाना या सबको अेक ही लकड़ीसे हाँकना अनुदारता है।

अिसी प्रकार यदि कोअी स्तवन-अुपासनाके किसी अंशको खानगी तौरपर करे, या अपने लिअे अुसे गैरज़रूरी दिखावे, तो अुसे मिथ्याभिमानी मानना भी सही न होगा।

फिर चूँकि स्तवन-अुपासना आवश्यक है, अिसलिअे चाहे जैसी स्तवन-अुपासना चल सकती है, यह मानना भी दुराग्रह होगा। कोअी अुपासना अुपासकके लिअे खुराकका काम तभी दे सकती है जब वह अुसकी बुद्धि और हृदय दोनोंके लिअे सन्तोषप्रदायक हो।*

११

मरणोत्तर स्थिति

'शुद्ध आलम्बन' नामक प्रकरणमें हमने कहा है कि "आलम्बन-विषयक श्रद्धा किसी प्रमाणातीत विषयके प्रति श्रद्धा है"

"अब अदृश्य शक्ति या नियम दो तरहसे प्रमाणातीत हो सकते हैं (१) स्वयंसिद्ध होनेसे अर्थात् अिन्द्रियाँ और मन जिस जिस वस्तुको अनुभवसे जान और चीन्ह सकते हैं अुन सबको जुदा करते करते — हटाते हटाते — जो सत्ता अनिवार्य रूपसे शेष रहती हुअी दिख पड़ती हो, वह; और (२) कार्य-कारण भावके विचारसे जिसका अस्तित्व अतिशय सम्भवनीय मालूम होता हो, किन्तु अदृश्य होनेसे जिसको सिद्धकर दिखाना असंभव प्रतीत होता हो, और अिसलिअे जिसके स्वरूपके विषयमें केवल अुपमाओं द्वारा ही तर्क किया जा सकता हो, वह; जैसे, विज्ञानमें तेज, ध्वनि, विद्युत् आदिके स्वरूप विषयक मत, अथवा अध्यात्म विचारमें माया, संकल्प, कर्म, मरणोत्तर स्थिति आदि विषयक मत।"

मरनेके बाद मेरा क्या होगा, यह प्रश्न मनुष्यके मनमें कभी-न-कभी अुठता ही है, और अुसका सही अुत्तर पानेकी वह कोशिश करता है। शरीरमें ज्ञातापन और कर्त्तापन आदिके रूपमें अुसे अपना जो अस्तित्व मालूम होता है, यदि शरीरके साथ ही अुसका नाश हो जाता हो, तो

* अिस पुस्तकमें "सामुदायिक अुपासना" की तात्त्विक चर्चा ही की गयी है। छात्रालय, आश्रम आदि संस्थाओंकी दृष्टिसे अिस विषयकी कुछ व्यावहारिक चर्चा लेखककी "केळवणीना पाया" (तालीमकी बुनियादें) नामक पुस्तकमें पायी जायगी।

फिर सत्व-संशुद्धिके लिअे अुत्पन्न सत्कर्म, सद्‌विचार, सद्‌भावना आदिकी झंझट और कुकर्म, कुविचार, दुष्ट भावना आदिके अनुतापकी अुसे क्या ज़रूरत है?

अिस प्रश्नके अुत्तरके रूपमें भारतीय अनुगमोंका पुनर्जन्म और मोक्षवाद तथा अभारतीय अनुगमोंका 'क़यामत'वाद है। अिनमें 'क़यामत'वाद तो विकासवादकी शोधके बाद ख़ुद अुन्हीं अनुगमोंके अनुयायियोंके मनमेंसे अुड़ता चला जा रहा है और अर्वाचीन भारतीय विचारक भी पुनर्जन्म और मोक्षवादपर फिरसे विचार करने लगे हैं। अतअेव अर्वाचीन ढंगसे विचार करनेवालोंके लिअे यह अेक संशयग्रस्त प्रश्न हो गया है।

जैसा कि अूपर कहा गया है, मरणोत्तर स्थितिके सम्बन्धमें जो कुछ भी खुलासा किया जाय या किया गया है वह मात्र सम्भवनीय तर्क ही है। यदि पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवालोंसे कहा जाय कि तुम्हारे पास अिसके लिअे कोअी प्रमाण नहीं है, तो जो पुनर्जन्मको नहीं मानते हैं, अुनपर भी यही आक्षेप किया जा सकता है। अिसलिअे श्रेयार्थीको अिनमेंसे किसी भी मतका आग्रह रखकर वादविवादमें पड़नेकी ज़रूरत नहीं है। सलामती और शान्ति प्रदान करनेवाला मार्ग तो यह है कि दोनों वादोंसे अलग रहकर श्रेयप्राप्तिके पुरुषार्थके लिअे अैसे मुद्दोंपर जीवनका मार्ग निश्चित किया जाय, जो अधिक अूँचे हों, और जिनका प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव किया जा सकता हो। बुद्धिकी भूख बुझानेके लिअे भले ही वह अिन वादोंके सम्बन्धमें विचार करके किसी अेकको या दूसरेको, अथवा अुचित प्रतीत हो तो किसी तीसरे ही तर्कको स्वीकारे। परन्तु वह यह मान बैठनेकी भूल न करे कि यह तर्क सत्य है, बल्कि वह अितना ही स्पष्ट रूपसे समझ ले कि अुसकी बुद्धिको वह सम्भाव्य प्रतीत होता है।

अितनी चेतावनी देनेके बाद अब हम अिस प्रश्नका विचार करें: पहले हम अुन मुद्दोंपर विचार करें जो मरणोत्तर स्थितिके सम्बन्धमें किसी भी कल्पनाको दृढ़ किये बिना ही श्रेय-प्राप्तिके पुरुषार्थके लिअे अधिक अूँचे हों और जो प्रत्यक्ष रूपसे अनुभवमें आ सकते हों:

अिस विषयमें 'बुद्धलीला' का अेक अवतरण प्रासंगिक होगा:

"— बुद्धदेव बोले — '. . . . . . कओ श्रमण ब्राह्मण यह कहते हैं कि न दान है, न धर्म है, न सत्कर्म या कुकर्मके फल हैं, न माँ है, न बाप है; न कोओी नरकमें जानेवाला है, और न कोओी स्वर्गमें।* परन्तु अिसके विपरीत दूसरे श्रमण ब्राह्मण यह कहते हैं कि दान-धर्म है, दान-धर्मके फल भी हैं, सत्कर्म और असत्कर्मके भी फल हैं, माँ है, बाप है, नरक है और स्वर्ग भी है।

"— 'जो . . . . . नास्तिकतावादी होंगे अुनसे काया, वाचा, मनसा पापकर्म हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु जो आस्तिकतावादी होते हैं अुन्हें पापकर्मका भय होना और पुण्यकर्मकी ओर अुनकी प्रवृत्ति होना भी स्वाभाविक है। अब अिसमें सुज्ञ पुरुष अैसा विचार करते हैं कि यदि नास्तिकके कथनानुसार परलोकका भय न हो, तो प्राणीके लिअे मरणोत्तर दुःखका कोओी भय नहीं। परन्तु यदि परलोक हो, और वह नहीं है, अैसा मानकर प्राणि अिस लोकमें अधर्माचरण करते रहें, तो परलोकमें अुनकी क्या गति होगी? क्या अुनकी दुर्गति न होगी? अब यह मान लो कि परलोक नहीं है, तो धार्मिक आचरणसे मृत्युके बाद भी अुसे किसी प्रकारके दुःखका कोओी कारण नहीं। यही नहीं बल्कि बुरे आदमीकी तरह, धर्माचरणी गृहस्थकी अिस लोकमें अपकीर्ति नहीं होती। अुलटे सुज्ञ लोगोंमें वह प्रशंसनीय होता है।

"— 'दूसरे कुछ श्रमण ब्राह्मण यह प्रतिपादन करते हैं कि मनुष्यको किसी भी क्रियाका फल नहीं भोगना पड़ता। अिन श्रमण ब्राह्मणोंका मत है कि मनुष्य चाहे हजारों प्राणियोंको मार डाले, या परदाराका अपहरण करे, तो भी अुसकी आत्मापर अुसका कोओी असर नहीं होता। परन्तु दूसरे श्रमण ब्राह्मण कहते हैं कि प्रत्येक पाप-कर्मका असर मनुष्यपर होता है... अैसे समय समझदार मनुष्य यह विचार करता है कि यदि क्रियाका परिणाम आत्मापर न होता हो, तो आत्मा परलोकमें सुखी रहेगी ही। परन्तु यदि आत्मापर क्रियाका परिणाम हुआ, तो फिर दुराचरणसे दुर्गति ही भोगनी पड़ेगी। अच्छा, यदि यह मानकर चलें कि आत्मापर क्रियाका परिणाम

---

* स्वर्ग, नरक या परलोकके बदले पुनर्जन्म शब्द भी काममें लाया जा सकता है।

नहीं होता है, तो सदाचरणसे कोअी नुकसान नहीं होगा, बल्कि सुज्ञ लोग सदाचरणी मनुष्यकी प्रशंसा ही करेंगे।'"

परन्तु यह माननेकी आवश्यकता नहीं कि अिस तरह सदाचारके प्रेमके लिअे नहीं, बल्कि प्रशंसा और सुरक्षिताके लिअे ही श्रेयः साधक पुरुषार्थ करनेकी ज़रूरत है।

'चित्त और चैतन्य' नामक प्रकरणमें हमने देखा कि जब तक चित्त और चैतन्यकी समान शुद्धि नहीं हो जाती, तब तक प्राणीको चित्तमें ही अपनी अहंता मालूम होती है। वह बुद्धिसे और ध्यानके अभ्याससे भले ही यह समझनेका प्रयत्न करे कि 'मैं चित्त नहीं, बल्कि चित्तका साक्षी चैतन्य हूँ,' परन्तु सत्त्व-संशुद्धिके बिना कभी न कभी चित्तके सायका लेप अुसे लगे बिना रहता नहीं।

अब हम अिस चित्तके अुन कुछ लक्षणोंका विचार करें, जिनका अनुभव किया जा सकता है:

१. हम जो कुछ देखते, सुनते, पढ़ते, याद करते या दूसरा कुछ अनुभव करते हैं, सो सब हमारे शरीरके ज्ञान तन्तुओंमें अेक क्रिया अुत्पन्न करता है, और अुसके द्वारा चित्तपर संस्कार पड़ते हैं। अैसा प्रत्येक संस्कार हमारे शरीरके किसी न किसी हिस्सेमें अुसकी प्रतिक्रिया अुत्पन्न करता है। वह अेक ओरसे दया-क्रूरता, लोभ-अुदारता, क्षमा-वैर, शौर्य-कायरता अित्यादि कोअी गुण अुत्पन्न करता है, और दूसरी ओरसे कोअी शारीरिक परिवर्तन करता है।

२. ये संस्कार आनुवंशिक होते हैं। चित्तके अशुद्ध और संशुद्ध संस्कार विरासतमें आते हैं और भावी सन्ततिकी आध्यात्मिक अुन्नतिमें अेक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। जो संस्कार पूर्वजों द्वारा सिद्ध हो चुके हैं, अुनके लिअे अनुजोंको अुतना सब प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बल्कि अुनका दिग्दर्शन होनेके बाद अुस स्थानसे ही आगे अुनकी अुत्क्रान्तिका क्रम चलता है।

३. अिन संस्कारोंका फल भी केवल हमींको नहीं, बल्कि हमारी आगे आनेवाली पीढ़ीको भी भोगना पड़ता है। भारतवर्षकी भूतकालीन प्रजाने जो कर्त्तव्य-भ्रष्टता, बुद्धि-भ्रष्टता, अज्ञान या संकुचित दृष्टिका परिचय

दिया, अुसके कडुअे फल, और जो अुच्च आदर्श तथा संस्कार प्राप्त किये अुनकी संस्कारिताके लाभ आज हम भोग रहे हैं, और अब हम जिस प्रकारके चित्तकी संस्कारिता निर्माण करेंगे, अुसका फल हमारी भावी प्रजाको अवश्य ही मिलेगा।

जो श्रेयार्थी ग्रहस्थ-विहित ब्रह्मचर्यका पालन करके सन्तति छोड़ जानेकी आशा रखते हैं, अुन्हें अपनी सत्त्व-संशुद्धिके लिअे प्रयत्नशील रहनेके हेतु यह अैसा प्रेरक कारण है, जो प्रत्यक्ष रूपसे अनुभवमें आ सकता है।

४. किन्तु चित्तके संस्कारोंका असर केवल अपने वंशजोंपर ही पड़ता हो, सो बात नहीं। मनुष्यके सब सद्‌गुण और दुर्गुण, अुसकी संशुद्धि और अशुद्धि संक्रामक है; हमें अिसका भी अच्छी तरह अनुभव होता है। चित्तपर विश्वकी शक्तियोंका असर होता है, और वह दूसरोंपर असर डालता भी है।

और फिर अिसमें यह बात भी नहीं कि प्रत्यक्ष सम्पर्कमें आनेपर ही अेक चित्तका असर दूसरे चित्तपर पड़ता हो। मेस्मेरिज़म, हिप्नाटिज़म तथा मानसिक शक्तियोंके दूसरे प्रयोगों द्वारा दूसरोंके चित्तपर अिस हद तक कब्जा हो सकता है कि मनुष्य अपना जन्म-सिद्ध व्यक्तित्व तक भूल जाता है। अर्थात् अेक प्रकारका परदेह-प्रवेश होता हुआ हम देखते हैं। अेकान्तमें पोषित सद्‌वृत्तियाँ या दुर्वृत्तियाँ, अेकान्तमें किये सत्कर्म या दुष्कर्म भी अकेले करनेवालेके मनपर ही नहीं, बल्कि सारी दुनियापर भी असर डालते हैं।

“ मनुष्य भले ही यह माने कि मेरा अमुक कृत्य स्वतन्त्र है, अुससे समाजको कुछ हानि नहीं पहुँचती, परन्तु कुदरतका नियम ही अैसा है कि अतिशय गुप्त और व्यक्तिगत कृत्यकी भी प्रतिध्वनि दूर-दूर तक पहुँच जाती है। . . . . पाप गुप्त नहीं रहता, बल्कि भंवरकी लहरोंकी तरह पापकी कंकरी सारे समाजमें अपनी लहरें फैलाती है। अतअेव जिसे हम गुप्त पाप कृत्य कहते हैं, अुससे भी समाजको अपार हानि पहुँचती है। ” *

---

* गांधीजी कृत 'अनीतिकी राहपर' में अुद्‌धृत मो० न्यूरोकी सम्मति: जो बात पापके लिअे कही गयी है, वह पुण्यके लिअे भी लागू पड़ती है।

अिसके अलावा और भी दूसरे कअी अनुभवोंके अनुसार हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि चित्तका अस्तित्व शरीरके अस्तित्वपर ही कायम है, और शरीर-नाशके साथ ही अुसका तुरन्त विलय हो जाता है। अन्य देहमें प्रवेश करनेकी अिसकी सिद्ध शक्ति भले अितनी ज़बरदस्त न हो कि जिससे यह प्रतीति हो जाय कि चित्तमें अन्य देह धारण करनेका सामर्थ्य है, तो भी वह अितना तो अवश्य ही बताती है कि वह अुसके अनुकूल हो सकती है; और यदि अुसका विलय तुरन्त न हो जाता हो, तो जब तक वह चित्त अपने व्यक्तित्वको अखण्ड रख सकता है, तब तक चाहे वह शरीरी हो या अशरीरी, अुसपर क्रान्तिका नियम अवश्य घटित होगा, और अुसका अुत्कर्ष, विलय या मोक्ष किसी न किसी अैसे ही नियमके अनुसार होगा।

पीछे 'ज्ञान, भक्ति और कर्म' के प्रकरणमें जो चर्चा हुअी है, अुससे यह भी मालूम होगा कि जब तक किसी भी ज्ञान और भावनाका पर्यवसान कर्मयोगमें न हो, तब तक क्रान्तिका अेक चक्र पूरा नहीं होता और दूसरी सीढ़ी हाथ नहीं लगती। अब अिसमें ज्ञानसे भक्तिमें जानेके लिअे भले ही शारीरिक साधनकी ज़रूरत न हो, तो भी भावनासे कर्म-योगमें जानेके लिअे शारीरिक साधनकी आवश्यकता होती है।

जिस प्रकार प्राणीके ज्ञान स्वरूप होते हुअे भी अुसके देखने सुननेकी शक्ति आँख, कान आदि साधनोंके बिना विफल रहती है, अुसी प्रकार चित्तको (कुछ बातोंमें तो) अपनी अुत्क्रान्ति और असिद्ध संकल्पोंकी सिद्धिके लिअे दूसरे शरीरकी आवश्यकताका होना असम्भवनीय नहीं। यह हो सकता है कि अुसके लिअे वह दूसरे किसीके शरीरमें अवतरित होकर कुछ संकल्पोंको सिद्ध करे; और अिसलिअे अुसे दूसरा जन्म लेनेकी आवश्यकता न रहे। किन्तु कअी संकल्प अैसे होते हैं, जिनकी सिद्धिके लिअे अुसे स्वतन्त्र शरीरकी ही आवश्यकता हो सकती है। हम अिस शरीरमें रहकर जितना विचार कर सकते हैं, अुससे अूपर लिखे सब तर्क सम्भवनीय कोटीके माने जा सकते हैं।

फिर यह क्यों न कहा जाय कि 'आत्मा सत्यकाम, सत्यसंकल्प है', अिस वचनमें 'मैं अमुक बात सिद्ध करनेके लिअे दूसरा जन्म लूँगा'

तथा 'मैं अिस जन्म-मरणका अन्त कर डालूँगा' अिन संकल्पोंको सिद्ध करनेका भी बल है? अिसपरसे निदान जो फिरसे जन्म लेनेका संकल्प करते हैं, अुनके लिअे तो पुनर्जन्म और मोक्ष दोनों सत्य हो सकते हैं। पुनर्जन्म यदि संसारका नियम ही हो, तो अैसा नहीं हो सकता कि वह पुनर्जन्मको न माननेवाले पर लागू न हो। परन्तु सिर्फ़ यह कहा जा सकता है कि अुसने वैसा अिरादा करके रखा न था। फिर 'मैं क़यामत तक क़ब्रमें या अन्तरिक्षमें ही रहूँगा, और अुसके बाद नअी देह धारण करूँगा,' अुसका यह संकल्प भी (यदि यह नियम हो तो) अुसके पालनमें अपना कुछ प्रभाव डालेगा।

जो कुछ भी हो, पुनर्जन्मवाद अब तक श्रेयार्थियोंके लिअे श्रेयके हेतु पुरुषार्थ करनेका ज़बरदस्त प्रेरक बल रहा है। जो लोग अिसके बारेमें शंकित हैं, अुनपर भी अिस संस्कारका असर अज्ञात-रूपसे काम करके अुपकारक होता है। यदि अुसके लिअे प्रतीतिकारक प्रमाण न हों, तो अुसके विरुद्ध भी प्रतीतिकारक प्रमाण नहीं हैं। और अिसे मानना अुत्क्रान्ति तत्त्वके प्रतिकूल भी नहीं है। अिन बातोंको ध्यानमें रख लें, तो फिर पुनर्जन्मके विरुद्ध खयाल बनानेका अेक ही कारण प्रतीत होता है; वह है, मनमें अिस बारेमें शंकाके बीजका अुत्पन्न होना। अिस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पुनर्जन्मको सम्भवनीय मानकर जो लोग अुसका प्रेरक बल स्वीकार करते हैं, वे गलती ही करते हैं। विज्ञानमें भी तरह तरहके वादोंपर की श्रद्धा अनेक प्रकारके प्रयोगों और अुपचारोंको प्रेरणा देती है।

अिस कारण जो ब्रह्मचारी हैं अथवा सन्ततिको पीछे छोड़ जानेकी अिच्छा या आशा नहीं रखते, अुनके लिअे भी मृत्युके बाद अुत्क्रान्तिके क्रमका अन्त नहीं आता, और अुनकी सत्व-संशुद्धि अपने या जगत्के लिअे निरुपयोगी नहीं होती।

६. पर जिसके हृदयपर पुनर्जन्मवादका संस्कार अंकित नहीं है, अथवा शिथिल हो गया है, अुसके लिअे भी अिन सबकी अपेक्षा श्रेय प्राप्तिका ज़्यादा ज़ोरदार कारण तो अपनी अत्यन्त शान्ति, समाधान और कृतार्थताकी प्राप्ति है। सदाचार और सद्धर्मका पालन मनुष्यपर अैसे गुणोंके संस्कार डालता है और अैसे प्रकारकी सात्विक प्रसन्नता प्रदान

करता है, और जहाँ प्रसन्नता न हो वहाँ भी अुसे अैसी शान्ति और समाधान प्रदान करता है कि जिसके सामने जगत्के सब सुख अुसे गौण मालूम होते हैं, और अुसे दुःखके लिअे भी तैयार रखते हैं। फिर अिन संस्कारोंका विकास जहाँ तक ठीक ठीक हुआ हो, वहाँ तक वह अपने ज्ञान और कर्ममें व्यवस्थितता और कुशलता प्राप्त करता है, अेवं अुस मात्रामें वह सत्य और सत्यकर्मा बनता है।

जन्म-मरणसे छूटनेकी अभिलाषा श्रेयके लिअे प्रयत्न करनेका प्रेरक बल हो, तो भी वह गौण बल है और अंशतः अनुमानपर खड़ा है। यह अनुमान सच हो या झूठ, पुनर्जन्म मिथ्या हो, अथवा अुसके सत्य होनेपर भी अुससे मोक्ष प्राप्तिकी आशा गलत हो, तो भी श्रेयार्थीके प्रयत्नशील रहनेके लिअे दूसरे काफी कारण हैं। और वे ये हैं — जो जीवन अुसे प्राप्त हुआ है, अुसीमें चित्त-चैतन्यकी तादात्म्य सिद्धि, चित्तका समाधान और सत्व-संशुद्धिके अनुपातमें प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्ति अेवं जगत्का हित। अिन कारणोंमें यदि अिस सम्भवनीय लगनेवाले तर्कसे अुत्पन्न आलम्बनकी वृद्धि न की जाय तो भी चल सकता है।

अपने प्राप्त जीवनमें ही अपने लिअे समाधान प्राप्त करनेकी अभिलाषाके अुपरान्त भावी प्रजाके लिअे अमूल्य विरासत छोड़ जानेकी आशा, जन्म-मरणसे छूटनेकी अभिलाषा, तथा मनुष्यके अुत्क्रान्ति-शिखरपर पहुँच जानेकी अुत्कण्ठा — अिन सब विचारोंके मूलमें जो अेक श्रद्धा अटल है, और जो सत्य-मूलक और अनुभवसिद्ध भी है, वह है —

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।'

— श्रेयार्थीकी कभी दुर्गति नहीं होती — अिस सिद्धान्तमें निष्ठा हो और यदि यह सिद्धान्त सत्पुरुषार्थके लिअे काफी प्रेरक बल दे सकता हो, तो फिर यह बात कुछ महत्त्व नहीं रखती कि किस वादने अिस सिद्धान्तमें श्रद्धा पैदा की।

जिस सत्यं चैतन्यमेंसे वह स्वयं व्यक्त हुआ है, अुसे पहचानकर अुसके साथ अपनी अेकरूपता देखनेके लिअे सत्व-संशुद्धि अनिवार्य है। सत्व-संशुद्धिके लिअे श्रेयार्थी बनना अनिवार्य है, और अिस कारण 'श्रेयार्थीकी कभी दुर्गति नहीं होती' यह सिद्धान्त सत्य-मूलक है।

१२

अुपसंहार

अब अिस विषयका अुपसंहार करें।

बुद्धि और श्रद्धाका झगड़ा बहुत पुरातन कालसे चला आता है; और संभवतः बहुत समय तक चलता रहेगा। अतः यह आशा रखना कि अिस विवेचनसे यह झगड़ा खतम हो जायगा, मनुष्य स्वभावका अज्ञान प्रकट करना होगा।

फिर भी अिस झगड़ेमें पड़ना अनिवार्य हो जाता है। और पड़नेके बाद अिसके दो प्रकारके परिणाम आ सकते हैं: (१) या तो जान-बूझकर बुद्धिका दरवाजा बन्द करनेका निर्णय करें, अथवा (२) श्रद्धाहीन बनकर केवल भौतिकवादी बन जायँ। पहली बात सत्यके प्रतिकूल है, और दूसरी अनेक सद्भावोंके विकासके लिअे घातक है। श्रेयार्थीके लिअे दोनों परिणाम अनिष्ट हैं। अैसा नहीं हो सकता कि बुद्धि और श्रद्धामें कोअी मेल बैठ ही न सके।

बुद्धिकी कोअी मर्यादा हो भी, तो अुसकी भी खोज करनी ही चाहिअे और यदि श्रद्धाकी भी कोअी सीमा है, तो अुसका भी पता लगाना ही चाहिअे।

किन्तु यदि श्रद्धाके पोषणके लिअे बुद्धि-चक्षुको जानबूझकर फोड़ डालना पड़े, अथवा बुद्धिवादी हो जानेसे भावनाहीन बनना पड़े, तो यह अुलटी ही बात कही जायगी।

अिस दृष्टिसे अिन प्रकरणोंमें आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी विचार किया गया है, जिसका सार अिस प्रकार है:

१. ज्ञान नामक पुरुषार्थका — वेदान्तका — अन्तिम निर्णय यह है कि प्राणिमात्रमें स्फुरित जो चैतन्य-तत्त्व है अुससे परे, अुसपर सत्ता चलानेवाला, दूसरा कोअी तत्त्व नहीं है। अुसे चाहे आत्म-तत्त्व कहिये, चाहे ब्रह्म-तत्त्व कहिये, वह अेक ही चैतन्य-तत्त्व विश्वके मूलमें है। अिस निष्ठामें रहना 'निरालम्ब स्थिति' है।

२. अिस चैतन्य-तत्त्वके अस्तित्वके विषयमें कोअी सन्देह नहीं। पर चैतन्य-तत्त्व प्रमाणातीत है। लेकिन 'प्रमाणातीत है,' अिसका अर्थ यह नहीं कि वह केवल अश्रद्धेय है, बल्कि स्वयंसिद्ध रूपसे प्रत्येकको अुसकी प्रतीति हो सकती है। यह वेदान्तकी प्रतिज्ञा है। अिस प्रतीतिका ही नाम आत्मज्ञान है।

३. आत्म-तत्त्व है ही, अिसलिअे वह सत् है; वह चित् है, अर्थात् ज्ञान-क्रिया-रूप है। दूसरे शब्दोंमें, जो कुछ 'है' अैसा प्रतीत होता है, अुसका मूल अुसमें स्थित चैतन्यकी सत्ता है। और 'होने' में जो कुछ क्रिया या ज्ञान सूचित होता है, अुसका मूल अुसमें स्थित चैतन्य-तत्त्व ही है।

४. प्राणियोंमें प्रतीत होनेवाला चित्त आत्म-तत्त्वसे निर्मित, विशेष प्रकारसे अुत्क्रान्त अेक शक्ति है। यह शक्ति सब प्राणियोंमें अेक-सी विकसित नहीं हुअी है, बल्कि विकास पाती रहती है। मनुष्य दशा तक विकसित चित्त 'मैं हूँ', 'मैं ज्ञाता हूँ', 'मैं कर्त्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'मैं सकाम हूँ', 'मैं विवेचक (पाप-पुण्य, सुख-दुखका विवेक करनेवाला) हूँ', 'मैं विकारशील हूँ', 'मैं मर्यादित हूँ', आदि भानयुक्त है। साधारणतः अिस तरहके विकारवान चित्तमें ही मनुष्यकी आत्म-भावना होती है।

५. यह न समझना चाहिअे कि मनुष्य-दशा प्राप्त होनेसे चित्तका विकास पूर्ण हो गया। यदि हम यह कल्पना कर सकें कि अेक पेड़ जैसे जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे वैसे बुद्धिमान होता जाता है, और यह भी कल्पना कर सकें कि वह अपने अस्तित्वमें आनेके प्रकारकी जिज्ञासा रखता है, तो कहना होगा कि अुसमें बीज लगनेपर ही अुसे अपनी अुत्पत्तिका स्थूल कारण मालूम हो सकता है, और अुसी स्थितिमें अेक तरहसे वह मान सकता है कि मैं कृतार्थ हुआ। अिसी प्रकार चैतन्य शक्तिसे निर्मित चित्त जीवनके अनुभवोंको ग्रहण करते करते संशुद्ध होकर जब अपनी खुदको अुत्पन्न करनेवाली बीज रूप चैतन्य शक्तिकी प्रतीति कर ले, तथा अिस प्रतीतिके अनुरूप भावना और कर्मयोग सिद्ध कर ले, तब कह सकते हैं कि अुसका विकास-क्रम अेक तरहसे पूर्ण हुआ।

६. जब तक चित्तकी संशुद्धि नहीं हुआी, तब तक अुसके लिअे कोअी न कोअी आलम्बन आवश्यक होता है, और यह अुचित भी है। यह आलम्बन काल्पनिक नहीं, बल्कि सत्य होना चाहिअे — फिर भले ही अुसकी सत्यताके सम्बन्धमें आत्म-प्रतीति न हो।

७. परमात्मा ही अैसा आलम्बन है। परन्तु परमात्माको समझनेके बारेमें अनेक भ्रम फैले हुअे हैं और अुसके कारण ज्ञान और भावोंकी संशुद्धिमें त्रुटि रहती है तथा अभ्युदय और पुरुषार्थमें विघ्न आता है।

८. आलम्बनकी शुद्धताका विचार करते हुअे परमात्माका नीचे लिखे अनुसार किया अनुसंधान अुचित मालूम होता है —

(१) वह सत्य, ज्ञान तथा क्रिया स्वरूप है।

(२) वह जगत्का अुपादान कारण है।

(३) वह सर्व व्यापक विभु है।

(४) अुसका कोअी खास नाम, आकार या गुण नहीं बताया जा सकता, किन्तु वह सभी नामों, आकारों और गुणोंका आश्रय है।

(५) वह कारण रूपसे सत्य संकल्पका दाता और कर्मफल प्रदाता है।

(६) वह अलिप्त है और साक्षी रूपसे प्रतीत होता है।

(७) वह महान, अनन्त और अपार है।

(८) वह स्थिर और निश्चल है।

(९) वह जगत्का नियन्ता अथवा सूत्रधार है।

(१०) वह ऋत है।

(११) वह अुपास्य, अेष्य, वरेण्य, शरण्य, और समर्पणीय है।

(१२) जगत्में जो कुछ शुभ-अशुभ विभूति है, वह अुसीके कारण है; अतअेव वह सब शक्तियोंका भण्डार है। परन्तु अुसमेंसे जो शक्तियाँ श्रेयार्थीके लिअे शुभ और अनुशीलन करने योग्य हैं, अुन्हींका अनुसन्धान करना अुचित है। अैसी विभूतियाँ संक्षेपमें ज्ञान, प्रेम और धर्मके अनुरूप क्रिया-शक्तियाँ हैं।

(९) सत्व-संशुद्धिका फल प्रत्यक्ष जीवनमें बुद्धि भावनाके अुत्कर्ष द्वारा मरण तथा मरणोत्तर स्थितिके सम्बन्धमें निर्भय बनाकर शान्ति और समाधान प्राप्त कराना है। सत्व-संशुद्धि जीवनकी साधना भी है और साध्य भी है।

१

प्रास्ताविक

भक्ति शब्द हमारी भाषाओंमें विविध अर्थोंमें बरता गया है। अुदाहरणके लिअे, दूसरे खण्डमें परमात्माके प्रति पूज्यता, कृतज्ञता और प्रेमकी भावना व्यक्त करनेके लिअे जिस प्रकारके परमात्माके चिन्तनका वर्णन किया है, अुसे सामान्य भाषामें भक्ति ही कहते हैं।

अिसी प्रकार नाम-स्मरण, पूजा-आरती, धुन, प्रार्थना, नमाज अित्यादि प्रकार भी 'भक्ति' ही कहे जाते हैं।

भक्तिके अिन दो प्रकारोंका विचार यहाँ हमें नहीं करना है। अिनमेंसे पहले प्रकारकी चर्चा दूसरे खण्डमें हो चुकी है। वहाँ हमने अिसे सगुण ब्रह्म-विषयका विचार कहा है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि अुस सगुणताके साथ आकारका कोअी सम्बन्ध नहीं है।

दूसरा प्रकार आराधनाका है। अुसका आवश्यक विचार अेक दूसरे प्रकरणमें किया जायगा।

यहाँ हमें जिस बातका विचार करना है वह है साकार भक्ति। श्रेयार्थी मनुष्य अपने हृदयकी पूज्यता, कृतज्ञता तथा प्रेमकी भावनाओंको व्यक्त करनेके लिअे, अपने सुख, शान्ति और धैर्यके लिअे, और अपने कर्मोंको समर्पण करनेके लिअे केवल निराकार, सर्वव्यापी परमात्माके आलम्बन और चिन्तनको ग्रहण करे और अुसीसे अुसे सन्तोष हो जाय, अैसा सदा अनुभव नहीं होता। वह अपना प्रेम-भाव किसी नाम-रूपधारी देव या व्यक्ति अथवा प्रतीक पर प्रकट या निवेदन करनेके लिअे अुत्सुक रहता है।

यह नाम-रूपधारी कभी तो कोअी अेक काल्पनिक स्वरूप या अुसकी पाषाण आदिकी मूर्ति होती है, कभी किसी भव्य कल्पना या स्वरूपका छोटासा प्रतीक या चिह्न होता है, कभी कोअी अैतिहासिक व्यक्ति होता है और कभी कोअी प्रत्यक्ष व्यक्ति होता है।

अिस नाम-रूपधारीके प्रति अुसके भक्तकी भावना अत्यन्त प्रेमभरी होती है। अुसे वह जीवन-सर्वस्व और जगत्का सार मालूम होता है। यह सही है कि अक्सर शुरूसे ही अुस नाम-रूपधारीके प्रति अैसी श्रद्धा बनी होती है कि वह श्रद्धेय, अुसका तारणहार या सर्वोच्च जीवन-सिद्धिके अपने आदर्शके प्रति पहुँचानेवाला है, और अुस सिद्धिकी अिच्छा अुस भक्ति-भावका कारण होती है। फिर भी समय जाने पर अुसका प्रेम-भाव अैसा तीव्र हो जाता है कि वह प्राप्ति या तो अुसे गौण मालूम पड़ती है अथवा अुस भक्तिमें ही समाविष्ट प्रतीत होती है; और अुसे अपनी भक्ति किसी अुच्च दशाकी प्राप्तिका साधन-रूप नहीं, बल्कि जीवनका साध्य ही हो जाती है।

'भूतळ भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोकमां नाहीं रे;'

× × ×

'हरिना जन तो मुक्ति न मागे, मागे जन्मोजन्म अवतार रे।'

(नरसिंह मेहता)

परमात्म-शक्तिके प्रति निष्ठा और अुसका दृढ़ आलम्बन तथा अुसके लिअे महिमायुक्त प्रेम — अिससे यह भक्ति जिस बातमें खास तौरसे जुदा पड़ती है, वह अुसकी अेकदेशीयता और साकारनिष्ठा है।

'तमारा तो हरि सघळे रे, अमारा तो अेक स्थळे;
'तमो रीझो चांदरणे रे, अमो रीझुं चन्द्र मळे।*

(दयाराम)

'मुकुन्दमाला' के कविने जैसा कहा है:

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽनुचिन्तयामि॥

(हे नरक-नाशक! स्वर्गमें, पृथ्वीमें या भले ही नरकमें मेरा वास हो; परन्तु अैसा जरूर कर जिससे कि मैं मरण समयमें तेरे अुन चरण-कमलोंका चिन्तन कर सकूँ, जिन्हें ब्रह्मादिकने धारण कर रखा है।)

मानव हृदयकी अैसी भक्ति-भावनाका अुचित और विवेकयुक्त स्वरूप क्या है, अिसका विचार हमें आगेके प्रकरणोंमें करना है।

---

* तुम्हारा हरि तो सब जगह है, हमारा तो अेक ही जगह है। तुम चांदनीसे ही खुश हो, हम तो चन्द्र पानेसे ही खुश हो सकते हैं।

भक्ति और उपासना

किसी मनुष्यके झूठे डरको दूर करनेका कभी अेक ही अुपाय होता है; वह यह कि अुसे अकेला भयकी स्थितिमें छोड़कर दूर हट जाना। पहलेपहल तो वह घबराता है, किन्तु थोड़ी ही देरमें वह देख लेता है कि अुसका डर फजूल था, या अिस खतरेका मुकाबला करनेका सामर्थ्य अुसमें है। अिसी प्रकार जो मनुष्य अेक परमतत्वका निश्चय करके तथा अुसीके आलम्बन पर दृढ़ रहकर और सब बातोंमें अपने पुरुषार्थ द्वारा ही धीरज, श्रम व निश्चयसे अपनी अभीष्टसिद्धि करनेके बजाय किसी वस्तुकी कामनासे या किसी भयको दूर करनेके लिअे देवी-देवताओंका आलम्बन लेता है और अुनकी आराधना करता है, अुसके लिअे सम्भवतः अेक यही अुपाय हो सकता है कि अुसका वह आलम्बन ही दूर कर दिया जाय। परन्तु अिस जगह हम अैसे सकाम भक्तोंका विचार नहीं कर रहे हैं।

सच पूछिये तो अैसोंको 'भक्त' कहना भक्ति शब्दकी तोड़-मरोड़ करना है। जैसे खुशामदियोंको तभी तक मित्र माननेकी भूल होती है जब तक कि अुनका सच्चा स्वरूप मालूम नहीं होता, वैसे ही सकाम आराधकोंको भी तभी तक भक्त कहने की भूल होती है जब तक अुनका सच्चा स्वरूप दिखाअी न दे। किन्तु हम तो यहाँ अैसे भक्तोंका विचार कर रहे हैं, जो अपने प्रेम भीने चित्तके समाधानके सिवा किसी प्रकारके सच्चे या काल्पनिक सुख या फलकी अिच्छा नहीं रखते; फिर भी, बछड़ा जैसे गायके लिअे व्याकुल होता है, वैसे वे अपने मान्य अिष्टदेवके लिअे — केवल अुनके प्रति अपने प्रेमकी अतिशयताके कारण — छटपटाते हैं। 'मुकुन्दमाला' स्तोत्रमें बताये अनुसार अुनकी मनोदशा अिस प्रकार होती है:

> नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
> यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन्पूर्वकर्मानुरूपम्।
> अेतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
> त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना ।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं संपद्यतां जीवितम् ॥
त्यजन्तु बान्धवाः सर्वे निन्दन्तु गुरवो जनाः ।
तथापि परमानन्दो गोविन्दो मम जीवनम् ॥*

अिस प्रकारका अहैतुक (किसी भी कामनासे रहित) शुद्ध प्रेम-युक्त हृदय मनुष्यकी अमूल्य सम्पत्ति है। निरतिशय व अहैतुक प्रेमार्द्रता ही भक्तिका हार्द है।

परन्तु यह माना जाता है कि भक्ति किसकी तरफ बहे तथा अिस भक्तिमें अपने अिष्ट स्वरूपके प्रति किस प्रकारके सम्बन्धका भाव हो, यह महत्त्वकी बात नहीं है। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह बात अैसी भी नहीं है कि जिसकी अवगणना की जाय।

अतअेव पहले अुपासना व भक्तिका भेद समझ लेनेकी जरूरत है। और यह समझना भी जरूरी है कि आराधना किसे कहते हैं।

तो अब हम पहले अुपासनाको लें।

मेरी समझके मुताबिक हमारा अुपास्य देव वह है, जिसे हम अपने जीवनमें मूर्तिमन्त करना चाहते हों, जिसके समीप हम पहुँचना चाहते हों,* जिसका मानो दूसरा अवतार ही हम होना चाहते हों। जिसका हम वाणीसे भजन करते

---

* मेरी धर्ममें आस्था नहीं, न धन संचयमें है, और सुखोपभोगमें भी नहीं। मेरे पूर्व कर्मके अनुसार, हे भगवान्, मेरा जो कुछ होता हो सो हो। मेरे लिअे तो यही माँग बहुत महत्त्व रखती है कि जन्मजन्मान्तरमें भी तेरे चरण-कमलोंमें मेरी भक्ति अटल हो।

हाथ जुड़े हुअे हैं, सिर नमा हुआ है, गात्र रोमांचित है, स्वर गद्गद है, आँखोंसे आँसू टपक रहे हैं, निरंतर तेरे चरणकमलोंके ध्यानरूपी अमृतको पी रहे हैं, अैसी स्थितिमें, हे कमलनयन, हमारा जीवन हमेशा (प्रत्येक जन्ममें) बीते।

भले ही बन्धुगण छोड़ दें, बड़े-बूढ़े निन्दा करें, तो भी मेरा तो जीवन परमानन्द गोविन्द ही है।

* अुपासना=समीप जाकर बैठना। (अुप=समीप, आसन=बैठक)

हों, पूजा-प्रार्थना करते हों वह नहीं। अुदाहरणके लिअे स्वामी रामदासके साम्प्रदायिक रामदासको व गोसाअी तुलसीदासजीके अनुयायी तुलसीदास-जीको रामका अवतार नहीं मानते, बल्कि हनुमान या वाल्मीकिका अवतार मानते हैं। अुनकी अन्तःप्रतीति अैसी है कि रामदास या तुलसीदासका साम्य हनुमान या वाल्मीकिके साथ अधिक है। अतः अिन दोनों सन्तोंको मैं रामका अुपासक न कहूँगा, बल्कि हनुमान या वाल्मीकिका अुपासक कहूँगा। अिनके अुपास्य देव राम नहीं बल्कि हनुमान या वाल्मीकि थे। अिसी प्रकार नरसिंह मेहता, चैतन्य, दयाराम आदिकी अुपासना कृष्णकी नहीं, बल्कि राधाकी थी।

यह तो हुआ अुपासनाकी दृष्टिसे।

परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे कदाचित् रामदास व तुलसीदासको रामभक्त व नरसिंह मेहता आदिको कृष्णभक्त कहना होगा। क्योंकि मनुष्य जिसकी तरह बनना चाहता है अुसका वह अुपासक है; जिसको अपना जीवन समर्पण करना चाहता है अुसका वह भक्त है। अुदाहरणके लिअे दासभाव, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, शौर्य, पराक्रम अित्यादि गुणोंके हनुमान अुपासक थे; परन्तु अपना जीवन अुन्होंने रामको समर्पित किया था, अतः वे भक्त थे रामके। राम अुपासक थे शौर्य, आज्ञाधीनता, सत्य-प्रतिज्ञता, स्वाभिमान, राजकौशल, युद्धकौशल अित्यादि गुणोंके; और भक्त थे अपने माता-पिता, बन्धुओं तथा प्रजाके। क्योंकि अिनके लिअे अपना सर्वस्व अर्पण करनेको वे तैयार थे।

परन्तु भक्ति व अुपासनामें अितना ही भेद नहीं है। मनुष्य अुपासना तो किसी भूतकालके व्यक्तिकी भी कर सकता है, अपने सम-कालीनकी भी कर सकता है व किसी काल्पनिक पात्रकी भी कर सकता है, और अेकको ही नहीं, बल्कि जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें विभिन्न व्यक्तियोंको अपना अुपास्य बना सकता है। फिर, यह भी हो सकता है कि वह अपने अुपास्यके जीवनके किसी अेकाध ही गुणकी अुपासना करे; जैसे, हनुमान किसीको बलके लिअे, किसीको दास्यके लिअे और किसीको ब्रह्मचर्यके लिअे ही अुपास्य मालूम हों। किसीके लिअे गृह जीवनमें राम, व्यापारमें ताता, राजनीतिमें लोकमान्य तिलक, समाज सेवामें गांधीजी, नगरकार्यमें कोअी और — अिस तरह भिन्न भिन्न अुपास्य हों। और अिस

तरह विविध अुपास्य होनेमें (यदि चुनावमें अविवेक न हुआ हो तो) कोअी हर्ज भी नहीं मालूम होता।

किन्तु भक्तिकी सफलता तो प्रत्यक्ष जीवनमें ही है। हनुमानके लिअे राम प्रत्यक्ष थे। रामके लिअे अुनकी प्रजा प्रत्यक्ष थी। सीताके लिअे राम व रामके लिअे सीता प्रत्यक्ष थे। कृष्ण-अर्जुनका मित्र-सम्बन्ध या गुरु-शिष्य सम्बन्ध प्रत्यक्ष जीवनमें था। अुसी तरह यदि हमको हनुमानका दास्यभाव अुपास्य मालूम होता हो, तो हमें अपने स्वामी रामको अपने प्रत्यक्ष जीवनमें ही खोजना चाहिये। यदि हम सीताके अुपासक हों, तो अपने प्रत्यक्ष पतिमें ही हमारा पातिव्रत समा सकता है। हम यदि रामके अुपासक हों तो जहाँ रहते हों वहाँकी ही प्रजा, हमारी अपनी पत्नी, हमारे खुद माँ-बाप, हमारे प्रत्यक्ष नौकरचाकर, हमारे गुरु — अिन्हींमें हमारी सारी भक्ति समर्पित होनी चाहिये। अिन्हींके लिअे हम अपना सर्वस्व अर्पण कर सकते हैं।

हम भले ही अयोध्यावासी राम या वृन्दावनविहारी कृष्णकी भक्ति पुत्र, दास, पति या पत्नी अथवा अन्य किसी भावसे करें, परन्तु अुसमें हमें अपनी कल्पनाको बहुत खींचकर वे प्रत्यक्ष हैं अैसी भावना करनी पड़ती है। हम अपने जीवनको सहजप्राप्त कर्मयोगसे अलग करके अस्वाभाविक मार्गमें ले जाकर ही अैसा कर सकते हैं।

यदि अुपासना व भक्तिका यह भेद ठीक ठीक समझमें आ गया हो, तो हमारे देशमें राम या कृष्णकी कितनी अुपासना हुअी है वह विचारने जैसी है। चैतन्य, नरसिंह, दयाराम आदि ने कृष्णके नामसे किसकी अुपासना की? वे किसके समीप जाकर पहुँचे? अुपासनाका अैसा राधा या गोपीभावका आदर्श किस अंशतक विवेकयुक्त कहा जा सकता है? अिन प्रश्नोंका अुत्तर पाठक खुद ही दे सकता है। अिस तरह अपनेमें स्त्री-भाव (और अुसमें भी जारासक्त स्त्रीभाव) लानेका मिथ्या प्रयत्न करना, मेरी दृष्टिमें, न तो खुद अुनके अुत्कर्षकी दृष्टिसे ही अुचित है न अुदाहरण लेनेकी दृष्टिसे ही।

अिसमें कोअी सन्देह नहीं कि ये सब जबर्दस्त भावनाशील और पवित्र वृत्तिके साधु पुरुष थे। परन्तु अिनके जीवनका अधिकांश अेक

व्यक्तिकी रम्य कल्पनाको बलपूर्वक पोषित करके अुसमें रमे रहनेमें ही
बीत गया।

यह ठीक है कि अुपासना प्रत्यक्षकी ही होनी चाहिये, अैसी बात
नहीं। परन्तु अुपास्यके चुनावमें विवेकसे काम लेना जरूरी है, नहीं तो
अुपासना जीवनको अवश्य विकृत मार्गकी ओर ले जाती है। क्योंकि
जीवन अुचित दिशामें बहेगा या अनुचित दिशामें फूट निकलेगा, अिसका
दारोमदार अुपास्यके चुनाव पर ही है।

प्रत्येक मनुष्यको अपना अुत्कर्ष साधनेके लिअे अेक खास प्रकारकी
योग्यता प्राप्त करनी होती है। अुचित मात्रामें और परिस्थिति तथा शक्तिके
अनुसार अुसे अपने अन्दर मनुष्यताके भिन्न भिन्न गुण, यम तथा शक्तिका
विकास करना चाहिये। अिस विकासका साधन अुसकी अुपासना है।

किन्तु गुण, शक्ति, यम अित्यादिकी प्राप्तिमें ही अुसका अुत्कर्ष
नहीं समा जाता। अुसका हृदय शुद्ध भावनाओंसे भी परिपूरित
रहना चाहिये। अुसका हृदय प्रेम, सौजन्य, सरलता, आदिसे आर्द्र
होना चाहिये। अुसके अभावमें अुसके ज्ञान और गुणोंके मूल्यहीन
रह जानेकी सम्भावना है। अिसका साधन भक्ति है। अिसमें शक नहीं
कि जो मनुष्य किसी अेक भी दूसरे जीवसे अैसा प्रेम करे व अुसका
अितना अुत्कर्ष कर ले कि किसी भी स्वार्थके बिना अथवा किसी भी
निजी सुखकी अपेक्षा रखे बिना अहेतुक प्रेमसे अुसे अत्यन्त चाह सके,
वह (बशर्ते कि अुसका भजनीय पुरुष वैसा ही विभूतियुक्त व योग्य
व्यक्ति हो) तो केवल अपनी भक्तिकी बदौलत ही जीवनकी अुत्कृष्ट
सफलता प्राप्त कर सकता है। चैतन्य आदिकी पूजनीयता अुनके
राधाभावमें या कृष्णको अपना अिष्टदेव माननेमें नहीं है — वह तो
अुनकी भूल भी समझी जा सकती है — बल्कि अुनकी निरतिशय और
अहेतुक प्रेमार्द्रतामें है। और यही भक्तिका तत्त्व है।

३

आराधना

अूपर जो भक्तिका निरूपण किया गया है वह अुसके सर्वश्रेष्ठ स्वरूप, आत्मनिवेदन भक्तिका है। किसी भी फलकी, सुखकी, वासनातृप्तिकी अिच्छाके बिना किसी भी जीवके लिअे अपना सर्वस्व अर्पण करना आत्मनिवेदन है। जो व्यक्ति अेक पर भी अैसा अहैतुक निरतिशय प्रेम कर सकता है, वह यदि अिष्ट पुरुषका चुनाव ठीक तरहसे हुआ हो तो, जगत्की भी सेवा कर सकेगा। क्योंकि अुसकी भक्तिका स्वरूप ही अैसा होगा कि वही अुसके लिअे संसारकी सेवाका सहज मार्ग हो जायगा।

आम तौरपर यह माना जाता है कि अिसमें अिष्ट पुरुषकी योग्यताका प्रश्न गौण है। जिसके हृदयमें अैसा प्रेमस्रोत अुमड़ता है वह जिसके प्रति यह प्रेम प्रवाहित होता है अुसके गुण-दोषोंकी तुलना करके, अनेक अुम्मीदवारोंमेंसे अेकको खोजकर, अुसे अपनी भक्तिका पात्र बनाता हो अैसी बात नहीं। अैसा भाव अुपजनेमें कोअी निमित्त कारण अवश्य होता है। जैसे परोक्ष देवके अनन्य भक्तोंमें अुनके आनुवंशिक संस्कार ही बहुत कुछ कारणीभूत होते हैं। प्रत्यक्ष जीवनमें जो भक्तिभाव प्रवाहित होता है अुसमें पूज्यताका अुभार पैदा करनेवाले नैमित्तिक प्रसंगोंसे यह भक्ति खिल अुठती है।

परन्तु अिष्टकी योग्यताका विचार गौण है, अिसका यह अर्थ नहीं कि वह बिलकुल ही नहीं होता अथवा सदैव गौण ही रहता है। यह बात थोड़े ही विचारसे समझमें आ सकेगी। वह अिष्ट स्वरूप अुसे अपनेसे तो किसी-न-किसी प्रकारसे विशेषता युक्त मालूम होता ही है। जहाँ अुसके विषयमें बड़ी भूल हुअी मालूम पड़ती है, वहाँ थोड़ा बहुत तो भी अुसके प्रति भाव कम हो जानेकी सम्भावना रहती है। फिर भी अुसके प्रति प्रीतिका संस्कार शायद ही नष्ट होता है। अिस तरह परोक्षदेवकी साकार भक्तिसे निकलकर जिन भक्तोंका प्रवेश वेदान्तमें हुआ है, अुन्हें अपने पुराने अिष्टदेवके प्रति, थोड़ी बहुत अुदासीनता आ जाने पर भी, प्रीतिका संस्कार कम हुआ नहीं दिखाअी देता।

अिष्टकी योग्यताका विचार, अिस प्रकार, बिलकुल गौण न होनेसे बहुत बार अैसा होता है कि प्रत्यक्ष जीवनमें जिनके प्रति हमारे मनमें भक्ति-भाव अुपजना चाहिये, अुन माता, पिता, गुरु, नेता, राजा आदिका जीवन ही अैसा होता है कि, हृदयके भावनशील रहते हुअे भी, अुनके प्रति प्रेम न पैदा हो सके; अथवा अुनके प्रति भक्ति भाव होते हुअे भी, अुनकी अपूर्णताओंका भी भान होनेके कारण, हृदय पूर्ण कृतार्थता अनुभव न कर सके और किसी अेक पूर्ण व्यक्तिके साथ शुद्ध प्रेमसे बँध जानेके लिअे तरसता रहे। किसी अैतिहासिक काल्पनिक परोक्ष विभूतिका ही जीवन अुसे अैसा लगे, जो अुसके भक्तिभावको अुत्तेजित और पुष्ट कर सके। अैसा भी हो सकता है कि वह अुसे अपना आदर्श अुपास्य न बना सके, परन्तु अुसपर वह मुग्ध (फिदा) हो जाय। अैसे समयमें अुसके हृदयमें अुस व्यक्तिके लिअे अेक प्रकारकी तीव्र पूज्यताका भाव स्थिर हुअे बिना नहीं रहता और न वह पूज्यभावको प्रगट किये बिना ही रह सकता है। यदि अिस तरह किसी परोक्ष विभूतिके प्रति पूज्य भाव प्रकट करनेकी रीतिको 'आराधना' कहें, तो यह समझ लेना जरूरी है कि अुस आराधनाका अुचित स्वरूप क्या होना चाहिये?

अुचित मर्यादामें विकसित किसी परोक्ष विभूति सम्बन्धी अैसे आदरके मूलमें रहे भावोंको देखें, तो अुसमें अैसी विभूतिको प्रत्यक्ष जीवनमें देखनेकी और अुसके साथ अपना जीवन जोड़ने या मिलानेकी अभिलाषा दिखाअी देगी। यदि किसी हिन्दूके मनमें राम, कृष्ण, या शिवाजीके प्रति अत्यन्त पूज्य भाव हो, तो (यदि अुसका सविवेक विकास हुआ हो तो) अुसका अर्थ यह है कि यदि प्रत्यक्ष जीवनमें राम, कृष्ण, या शिवाजी जैसे किसी प्रतापशाली व्यक्तिको वह देखे तो अुसके साथ अपना जीवन खुशीसे सौंप दे। खुद तो वह राम, कृष्ण या शिवाजी होने जैसी शक्ति अपनेमें नहीं पाता। अिस कारण रामादिक अुसके अुपास्य नहीं, वह अिनका भक्त भी नहीं, बल्कि पूजक है, अर्थात् वह अिनके जैसोंका भक्त होनेकी अिच्छा रखता है। जब तक प्रत्यक्ष जीवनमें अुसे रामादिक न मिल जायें, तब तक वह परोक्ष विभूतियोंका गुणानुवाद करेगा, अुनकी कीर्ति फैलानेमें भाग लेगा। परन्तु अितनेसे वह कृतार्थताका अनुभव

नहीं करेगा। वह अिन्हें प्रत्यक्ष मान लेनेकी भूल नहीं करेगा। यदि प्रत्यक्ष जीवनमें अुसे कोअी अैसा पुरुष मिल जाय, तो अुस परोक्षसे भी अधिक आदर व प्रेमके साथ वह अुस प्रत्यक्ष पुरुषसे चिपटा रहेगा और तभी वह पूर्ण कृतार्थता अनुभव करेगा। अिस प्रकारकी किसी परोक्ष विभूतिकी आराधना — अुसका श्रवण, कीर्तन व मनन — प्रत्येक भावनाशील मनुष्य करता ही है। और यह नहीं कह सकते कि वह अनुचित है।

अिस तरह अुपासनाका अर्थ है किसीके जैसा होनेकी अिच्छासे अुसका चिन्तन व अनुकरण; भक्तिका अर्थ है किसी प्रत्यक्ष पुरुषके लिअे अपना जीवन अर्पण करना; और आराधनाका अर्थ है जिसके सदृश पुरुषको प्रत्यक्ष जीवनमें प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखी है अुसका पूजन, चिन्तन आदि।

परन्तु जब यह आराधना अैसा स्वरूप ग्रहण करती है, जिसमें प्रत्यक्ष जीवनमें अैसी विभूतिके मिलनेकी अभिलाषा हमें न रहे, बल्कि अुस परोक्ष विभूतिको ही किसी तरह 'साक्षात्' प्राप्त करनेकी अभिलाषा होने लगे, अुसकी मूर्ति बनाकर अुसकी षोडशोपचार पूजा-प्रार्थना करके अुसीमें हम कृतार्थता मनावें और धीरे धीरे वह हमें कल्पनारूपमें या मृत्युके बाद अुसके मिलनेकी आशामें रमे रहनेका आदी बना दे, तब कहना होगा कि यह आराधना विकृत हो गयी है। वह अत्यन्त श्रद्धायुक्त हो तो भी सत्यकी आराधना नहीं है, अुसमें अब अुदयका अेक महत्वपूर्ण अंश खाली रह जाता है, और यदि कभी भी सत्य ज्ञानकी तरफ हमारा प्रयाण होनेवाला हो, तो हमें अिस आराधनाके पार गये बिना गति नहीं है।

४

भक्ति और धर्म

पिछले प्रकरणोंमें हमने देखा कि:

१. भक्ति और आलम्बन-निष्ठामें तथा भक्ति और अुपासनामें भेद है।

२. अुपासना अनेककी हो सकती है, भूतकालीन पुरुषकी हो सकती है, किसी कल्पनाकी हो सकती है, सत्य, दया, अहिंसा, अित्यादि गुणों या भावोंकी भी हो सकती है।

३. भक्ति — प्रेमयुक्त सर्वस्वार्पण — अेकके प्रति ही हो सकती है। प्रत्यक्षके अभावमें परोक्ष, काल्पनिक या अैतिहासिक साकार व्यक्तिकी आराधना या अभिलाषाका स्वरूप वह भले ले ले, परन्तु जब तक जीवनका कुछ भाग प्रत्यक्षकी भक्तिमें न लगे, तब तक अुसे कृतार्थता न मालूम होगी।

४. प्रत्यक्षकी भक्तिमें भी अिष्ट पुरुषका चुनाव विचारने जैसी बात है। यदि अिष्ट पुरुष विभूतिमान व योग्य व्यक्ति हो, तभी अुसकी अनन्य भक्तिसे भक्त अपना परम अुत्कर्ष साध सकता है और वही भक्ति संसारकी सेवाका सहज मार्ग बन सकती है।

अिस आखरी बातका हमें जरा विस्तारसे विचार करना होगा। गीताके अठारहवें अध्यायमें (श्लोक ६६) कहा है:

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(सब धर्मोंको छोड़कर तू अेक मेरी ही शरणमें आ। मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता मत कर।)

अिस श्लोकका आमतौर पर यह रहस्य समझा जाता है कि धर्म अैसा सूक्ष्म और अटपटा विषय है कि यदि साधारण बुद्धिवाला मनुष्य धर्माधर्मका निर्णय करने लगे, तो अुसकी बुद्धि चक्कर खा जाती है और

अुसका चित्त कभी शान्ति अनुभव नहीं कर सकता। अतः श्रेयार्थीको चाहिये कि वह खुद धर्माधर्मके निर्णयकी झंझटमें न पड़कर काया-वाचा-मनसा सद्गुरुकी शरण जाय और निःशंक होकर अुसकी आज्ञा-पालनमें तत्पर रहे। अिससे वह किसी धर्म-पालनमें रही कमियों तथा अधर्मके पापसे छूट जायगा।

अिस प्रकार अिसका रहस्य समझनेमें कोअी बाधा नहीं है, बशर्ते कि अिसके मूलमें गृहीत कुछ बातों पर ध्यान रखा जाय। वे बातें अिस प्रकार हैं:

१. जिनकी शरण ली जाय वह व्यक्ति अैसा असामान्य व धर्मकी मानो प्रत्यक्ष मूर्ति-रूप होना चाहिये कि अुसकी आज्ञा सदैव धर्मके अनुकूल ही रहे। अतः जिस प्रकार रोग निवारणके लिअे आमतौर पर रोगी किसी कुशल वैद्यके आदेशोंका पालन करते हैं, अथवा कानूनी मसलोंमें मामूली मुवक्किल होशियार वकीलकी सलाह मानता है और अुसीमें अपनी सुरक्षा देखता है, अुसी प्रकार धर्माधर्म सम्बन्धी जटिल प्रश्न अुत्पन्न होने पर सामान्य श्रेयार्थी अैसे पुरुषकी आज्ञानुसार चले, तो वह भूलोंसे बच सकता है; क्योंकि अुसका शरण्य व्यक्ति धर्मका विशेषज्ञ व सूक्ष्म विचारक है।

२. जिस प्रकार कोअी विद्यार्थी जिन्दगीभर शिष्यता नहीं करता, ज्यादासे ज्यादा तबतक वह किसीका शिष्य रहता है जबतक वह अपने शिक्षकके बराबर लियाकत न पैदा कर ले, और शिक्षक जब कह दे कि 'अब मेरे पास तुम्हें अधिक देने लायक कुछ नहीं रहा है' तब अुसका अुस गुरुके प्रति अपना शिष्यभाव पूर्ण हुआ समझना चाहिये; अुसी प्रकार जबतक श्रेयार्थीको खुद धर्माधर्मके निर्णयमें आत्मविश्वास नहीं पैदा हुआ, तबतक ही अुसे किसी महापुरुषकी शरणमें रहनेकी जरूरत रहती है। अिसका अर्थ यह हुआ कि स्वबुद्धिको चलानेकी झंझटसे छूटनेके लिअे अथवा दूसरेकी बुद्धिको कुण्ठित कर डालनेके लिअे या अुसे अपने अधीन बना डालनेके लिअे शिष्यत्व या गुरुत्व बननेकी जरूरत नहीं है। बल्कि शिष्यकी बुद्धिको विशेष कुशाग्र करना, सच्ची दृष्टिसे युक्त बनाना और स्वतंत्र

बनने लायक योग्यता अुसमें अुत्पन्न करना अुसका अुद्देश है। जबतक अैसी स्थिति नहीं हो गअी है, तभी तक शरण लेना या देना अुचित है।

दूसरे खण्डके 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' सम्बन्धी प्रकरणमें हमने देखा कि "ज्ञान प्राप्ति, अुसके बाद भावनाका अनुशीलन, और अुसके बाद कर्मयोगकी पूर्णता, अैसा विकासक्रम ही दिखाअी देता है।" वहाँ हम सर्वव्यापी परम चैतन्यके आलम्बनके सम्बन्धमें विचार कर रहे थे। परन्तु साकार अिष्टदेव या गुरु आदिकी भक्तिका भी अैसा ही पर्यवसान होना चाहिये। अर्थात् भक्तिके फलस्वरूप भक्तकी निष्ठा अैसी दृढ़ होनी चाहिये कि जिससे वह धर्मका सूक्ष्म विचार करके अुसके अनुरूप जीवन-कार्योंको कर सके।

कअी सम्प्रदाय अिस आखरी वक्तव्य पर कोअी आपत्ति न करेंगे। परन्तु 'धर्म क्या है' अिसे स्पष्ट करनेकी जरूरत है। अुदाहरणके लिअे, आम तौर पर सम्प्रदायोंमें अपने अिष्टदेव, गुरु आदिके मन्दिर बनाना, अुनकी तथा अुनके अन्य भक्तोंकी सेवा–शुश्रूषा करना, अुनके लिअे बागबगीचे लगवाना, नाना प्रकारके नैवेद्य बनाना, ब्रह्मभोज, सन्तभोज, आदि करना तथा वर्णाश्रमसम्बन्धी साम्प्रदायिक मर्यादा पालना धर्म निष्ठाका लक्षण माना जाता है। और यदि अिस प्रकारकी धर्म निष्ठा हो, तो भक्तिका पोषण काफी हुआ माना जाता है। अिससे आगे बढ़ कर यह आवश्यक नहीं माना गया है कि कुटुम्ब-धर्म, समाज-धर्म, मानव-धर्मके प्रति भक्तकी दृष्टि बढ़नी चाहिये — अितना ही नहीं, बल्कि भक्तिमें यह विघ्न माना गया है और यह भी माना गया है कि अिन धर्मोंका आग्रह घटनेसे ही भक्ति विशेष रूपसे सिद्ध होती है।

यह खेदजनक भूल है और अिस बातका चिह्न है कि भक्तिमार्ग गलत रास्ते पर चल पड़ा है। सच पूछिये तो कर्म और धर्ममें यदि किसी प्रकारका भेद ही करना हो तो वह अितना ही किया जा सकता है कि जो जो सांसारिक कर्म अशुद्ध-चित्तवाले, भक्ति आदि कोमल भावनाओंसे रहित, अपने ही सुख-स्वार्थोंमें लिप्त मनुष्य करते हैं, वे सब 'कर्म' हैं और शुद्ध-चित्त, भक्ति-भाव पूर्ण, दूसरोंके सुख-स्वार्थका लिहाज रखनेवाले व्यक्ति कर्मके सभी शक्य परिणामोंका और अुन्हें करनेकी रीतिका नैतिक

दृष्टिसे विचार करके सावधानीके साथ जो सांसारिक कर्म करते हैं वह 'धर्म' है। कर्मकी सांसारिकता या पारलौकिकता या सम्प्रदाय-मान्यता परसे यह नहीं तय हो सकता कि यह धर्म है या अधर्म, अथवा प्रवृत्ति धर्म है या निवृत्ति धर्म। बल्कि कर्म कर्तव्यरूप है या अकर्तव्यरूप, न्याय युक्त है या अन्याय युक्त, समाजके लिअे सुखकर है या क्लेशकर, विवेक युक्त है या विवेकहीन — अिन सब बातोंसे यह निश्चय किया जा सकता है कि वह धर्म है या कर्म। सब प्रकारके अनुगम, भक्ति तथा शिक्षाओंका यही अुद्देश होना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धि यह निर्णय करनेमें समर्थ बन सके कि कोअी कर्म धर्म है या अधर्म। जब तक बुद्धि अैसी परिपक्व नहीं हो जाती, तब तक कोअी व्यक्ति यदि किसी अनुगमका अनुयायी, गुरुका भक्त, या पाठशालाका विद्यार्थी रहे तो यह अुचित ही है। परन्तु जब अनुगम, सद्गुरु या शिक्षक अुसकी बुद्धिको अुलटा अधिक पंगु और कुंद बना दे, शरणका अैसा अर्थ समझा दे कि वही अेक महत्वका है, और धर्माधर्मके विचारमें अहंकार अथवा देहाभिमान होता है, अिस लिअे वह नाश करनेके योग्य है; अथवा अैसा समझा दे कि जो मनुष्य शरणकी महिमा जान चुका है, अुसे धर्माधर्म-सम्बन्धी दोषोंका परिताप करनेकी जरूरत नहीं, तब कहना होगा कि जैसे कोअी बढ़अी लकड़ीको गोल बनाते हुअे अुसे सारी छील डाले, अथवा लकड़ी से अभीष्ट वस्तु बनानेके बदले बसूलेका हत्था बनामें ही अुसे खर्च डाले वैसी गति होगी।

विवेकी, विचारशील और श्रेयार्थी मनुष्यका अन्तिम शरण या परम-भक्तिका स्थान कोअी साकार, परोक्ष या प्रत्यक्ष व्यक्ति नहीं, बल्कि आत्मा या परमात्माका आलम्बन युक्त तथा भूत-प्राणियोंके प्रति प्रेमयुक्त अपना धर्म ही अुसका अन्तिम शरण और अुसकी अुत्कृष्ट भक्तिका अन्तिम लक्ष्य है।

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदिने प्रसंगोपात्त मातृभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति, प्रजाभक्ति आदि की थी। अुस भक्तिको लेकर अुनके लिअे प्राणार्पण करनेकी भी अुनकी तैयारी थी। यदि अैसा करनेमें अुन्हें मरनेका अवसर आया होता, तो अुसके लिअे अुन्हें खेद न होता। अिस दृष्टिसे मैंने

दूसरे प्रकरणमें रामको अपने माता, पिता, गुरु तथा प्रजाका भक्त कहा है। फिर भी यह नहीं कह सकते कि अुन व्यक्तियों या समूहोंके प्रति अुनकी भक्ति शर्तशून्य थी। अुसकी अेक मर्यादा थी; और वह थी धर्मकी। जो राम पिताकी आज्ञासे राज्याधिकार छोड़कर वनमें जानेको तैयार हो गये, अुन्होंने पिता या गुरुकी आज्ञासे पिताको कैद करके राज्यारूढ़ होनेसे अिनकार कर दिया, वनसे वापिस लौटनेसे भी अिनकार कर दिया। मतलब यह कि 'भक्ति सिरका सौदा' है, यह बात सच है, फिर भी अिस भक्तिकी माँगें अैसी न होनी चाहियें कि वे धर्मकी मर्यादाका भंग करा दें; बल्कि वे अुलटी अिस प्रकारकी होनी चाहियें कि धर्मकी यदि कोअी स्थूल मूर्ति हम बनावें, तो वह हमें अपने अिष्ट स्वरूपके चरित्र जैसी मालूम हो और अिस कारण हमें अुसकी शरणमें रहना अैसा लगे, मानो हमें धर्मानुसरणका राजमार्ग ही मिल गया हो।

बौद्ध धर्ममें 'बुद्धकी शरण जाता हूँ' यह भले ही 'धर्मकी शरण जाता हूँ' के पहले कहा गया हो; परन्तु खास बुद्ध किस बुद्धकी शरण गये थे? वे तो धर्मकी ही शरण गये थे, और अुनके समकालीन अनुयायियोंके ही लिअे अुनकी शरण सुरक्षित मार्ग या अैसा कह सकते हैं। अुनकी मृत्युके बाद अुनके अनुयायियोंके लिअे बुद्धकी शरण जानेका समुचित अर्थ अितना ही हो सकता है कि 'बुद्ध द्वारा अुपदेशित व आचारित धर्मको और अुनके जीवनको मैं मार्गदर्शक बनाता हूँ।' प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी विभूति या व्यक्तिके प्रति अिससे विशेष भक्तिनिष्ठा होना या अुस भक्तिमें तारकताकी या धर्महानिसे मुक्ति प्राप्त करा लेनेकी श्रद्धा रखना अनुचित और सदोष है।

जैसे कुछ जलप्रवाहोंका वेग अदम्य होता है व कितनोंका शान्त, अुसी तरह कअी मनुष्योंके चित्तका ढँग-ढाँचा अिस तरहका होता है कि अुनमें प्रेम या द्वेषके जो भी भाव अुठते हैं, वे अैसे वेगसे अुठते हैं कि अुन्हें बेकाबू बना देते हैं और देखनेवालेको चकाचौंध कर देते हैं। चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, आदि अैसे अदम्य भावनावान पुरुष थे।

अिन भावोंने भक्तिका स्वरूप ले लिया, अिससे वे हमें पूज्य और आदर्श-सरीखे लगते हैं। यह भक्ति पूज्यताके योग्य है, अिसमें कोअी सन्देह नहीं। परन्तु यह नहीं कह सकते कि निश्चित रूपसे वह आदर्श ही है। भाव तो प्रत्येक मनुष्यमें अुठते ही हैं। अच्छे भाव न अुठेंगे तो बुरे अुठेंगे ही। परन्तु अच्छे या बुरे भावोंके वेगका अितना प्रबल हो अुठना कि वे हमें बेकाबू बना दें, हम कर्तव्याकर्तव्यका विचार करने या प्राप्त कर्तव्यको पूरा करनेके बिलकुल अयोग्य बन जायें, तो यह स्थिति अुचित नहीं। कितने ही लोग अपने प्रियजनोंकी बीमारीसे या मृत्युसे अितने विह्वल हो जाते हैं कि अुस परिस्थितिमें अुत्पन्न कर्तव्य अुन्हें सूझते ही नहीं, यदि सुझाये जायें तो वे अुन्हें पूरा करनेमें समर्थ नहीं हो पाते और अैसी हालत हो जाती है कि अुलटे अुन्हींकी चिन्ता दूसरोंको करनी पड़ती है। यह कुछ अुनकी वांछनीय स्थिति नहीं कही जा सकती। अिसी तरह अपने अिष्टदेव या गुरुका स्मरण होते ही या नाम सुनते ही या दर्शन होते ही जो बेकाबू हो जाते हैं, देहभान भूल जाते हैं, अुनके कर्तव्य अेक ओर रह जाते हैं और अुलटे अुन्हींकी चिन्ताजनक हालत हो जाती है। भक्तिकी यह मात्रा, अिसमें तीव्रता होते हुअे भी, आदर्श-योग्य नहीं। यदि भावोंका अुठना हमारे कर्तव्य-मार्गको स्पष्ट करनेके लिअे अथवा अुसकी प्रेरणा देने तथा स्थिर करनेके लिअे हो, तो वे स्वागत योग्य हैं; पर जो भाव — फिर वे भक्तिके हों या क्रोधके — हमको पंगु व अन्धा बना देते हैं, बेकाबू करके मूर्छित कर देते हैं, वे आदर्शरूप नहीं।

अिस तरह हमने अिस प्रकरणमें भक्तिकी जो विशेष मर्यादायें देखीं, वे अिस प्रकार हैं:

१. धर्म-भावनाको स्पष्ट करनेके लिअे भक्ति है। और अन्तमें धर्मके लिअे सर्वस्वार्पण ही भक्तिके फल-स्वरूप अुत्पन्न नवनीत (मक्खन) है।

२. जब तक यह धर्म-भावना स्पष्ट नहीं हो जाती, तब तक किसी धर्मकी मूर्तिस्वरूप प्रत्यक्ष विभूतिकी अतिशय प्रेमपूर्वक आत्म-समर्पणरूप भक्ति जीवनके अुत्कर्षमें अेक महत्वपूर्ण साधन है।

३. भक्तिका आवेश यदि हमें बेकाबू और कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचार-शून्य कर डाले, तो यह दशा अिष्ट नहीं; बल्कि धर्ममें स्थिर करे और प्रेरणा दे, तो वह स्थिति स्वागत योग्य है।

अिस दृष्टिसे अब हमें गुरुभक्ति आदि प्रत्यक्ष भक्तिके भिन्न भिन्न प्रकारोंका विचार करना है।

५

गुरु

मनुष्यके सामने अपनी क्रिया या विचारमें जब कोअी गुत्थी आ जाय, अैसे प्रश्न आ खड़े हों जिनका कोअी हल न मिलता हो, और जिनका हल मिले बिना जीवनमें कहीं गाड़ी अटक गयी-सी या कोअी बाधा आ खड़ी हुअी-सी प्रतीत होती हो, तब यदि वह तत्सम्बन्धी किसी अनुभवी पुरुषकी तलाशमें रहे तो यह समझमें आने जैसी बात है।

जो पुरुष अुसकी अिन गुत्थियोंको सुलझा दे और अुसका मार्ग-दर्शक बने, अुसे वह अपने गुरुके रूपमें मान ले तो यह भी समझमें आने जैसी बात है।

सब प्रकारकी विद्याओंके गुरुओंके सम्बन्धमें यही विधान किया जा सकता है।

जिस मनुष्यकी सबसे बड़ी गुत्थी यह हो कि मैं स्वयं तथा यह जगत् क्या है, मेरा और अिस जगत्का आदि और अन्त क्या है, जीवनका ध्येय क्या है, किस तरह जीवन व्यतीत करनेसे वह भली भांति सफल हुआ माना जाय — यदि यही महत्वकी गुत्थी हो और अिसीके हलकी तलाशमें वह हो, तो जो गुरु अुसकी अिस गुत्थीको सुलझा देते हैं, वे आमतौर पर सद्गुरु कहे जाते हैं।

गुरु-शिष्यका यह सम्बन्ध खानगी तथा व्यक्तिगत है। जिनके मार्गमें ये समस्यायें आ खड़ी हुअी हैं, अुन्हींको सद्गुरुकी जरूरत मालूम होती है। जिनके मनमें अैसी जिज्ञासा हुअी ही नहीं, यदि हुअी

हो तो वह अितनी महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती कि अुसके बिना अुन्हें अपना जीवन अन्धकारमय प्रतीत होता हो, अुन्हें सद्गुरुकी आवश्यकता नहीं।*

फिर, जब अुसकी ये गुत्थियाँ सुलझ जायें, तभी अुसका गुरु-शिष्य सम्बन्ध समाप्त हो सकता है। समाप्त शब्दका मैं दो अर्थमें प्रयोग करता हूँ। जबतक अुसका समाधान नहीं हो जाता, तबतक अुसका शिष्यत्व सापेक्ष्य अथवा अेक अुम्मेदवार जैसा है। समाधान हो जानेके बाद यह शिष्यत्व अेक दृष्टिसे दृढ़ बनता है और दूसरी दृष्टिसे देखें तो कह सकते हैं कि रहता ही नहीं।*

परन्तु आमतौर पर शिष्योंकी अैसी हालत हो जाती है कि अभी अुनकी अपनी अुम्मेदवारी जारी ही है, अुनकी गुत्थियाँ पूरी-पूरी हल हुअी ही नहीं, जीवन सम्बन्धी मार्गदर्शन प्राप्त हुआ नहीं, गुरुके शब्द अभी कानमें ही पड़े हैं, परन्तु अुनकी सचाअीका स्वरूप अभी स्पष्ट हुआ नहीं है, गुरु जहाँ दृष्टि ले जाना चाहते हैं वहाँ अभी दृष्टि पहुँची नहीं, अुसके पहले तो वह 'गुरु-कृपा' शब्दका अनर्थ करके कृतार्थ हो जाता है! अपने सत्य शोधनका प्रयत्न ढीला कर देता है, और खुद जहाँ तक नजर नहीं पहुँचा सकता,

* 'आवश्यकता नहीं' अिसका अर्थ यह नहीं कि यदि किसी सत्पुरुषके समागमका या अुपदेशका लाभ मिल सकता हो तो वह न अुठावे, या अुनके प्रति आदरभाव न रखे। लेकिन अुसे अुन्हें अपना सद्गुरु मानने या जैसा कि अक्सर गुरु-शिष्य सम्बन्धमें होता है वैसा व्यक्तिगत अथवा कौटुम्बिक सम्बन्ध बाँधनेकी आवश्यकता नहीं।

* जिसका कार्य गुरु द्वारा पूरा हो गया हो, अुसका गुरुके प्रति भक्तिभाव किस प्रकारका हो? विद्यार्थी जीवनमें जो सम्बन्ध हमारा अपने मान्य शिक्षकोंके साथ रहता है, वह यदि अपने बादके जीवनमें भी चालू रहे तो कैसा होता है? मेरी रायमें तो अुनके प्रति हमारी भावना अेक सच्चे, आप्त-जन जैसी रहती है। मानो 'अेक जान दो कालिब'। अुनमें हम अेक आत्मीयताका अनुभव करते हैं। किसी भी व्यक्तिसे बढ़कर आदर और कृतज्ञताका भाव अुनके प्रति रहता है। फिर भी अुस सहवासमें भयका अभाव मालूम होता है। अैसी दशामें सदा अुनके लिअे अुपयोगी होनेकी अभिलाषा अैसे सम्बन्धका सहज परिणाम ही है।

वहाँ गुरु साक्षात् पहुँचा देंगे अैसी श्रद्धा रखते रहना और गुरु-महिमाका गान करते रहना ही अपने शेष जीवनका कार्य मानता है।

जिसमें भावनाओंका वेग अति बलवान है, वह यदि जिस पुरुषने अुसे नवीन दृष्टि प्रदान करके अुसके जीवन सम्बन्धी दृष्टि बिन्दुमें ही परिवर्तन कर दिया हो और नवजीवन सञ्चार किया हो, अुसकी कृपाको अेक अमूल्य प्राप्ति समझे और अुसका गुणगान करते करते अघाये ही नहीं तो यह अस्वाभाविक नहीं, बशर्ते कि अुसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करनेमें अविवेक या निरी भावुकताका दर्शन न हो। कोअी पुरुष यदि अिस तरह गुरुगान या गुरुकृपाकी महिमाका बखान करे, तो अुसके बारेमें मुझे कुछ नहीं कहना। परन्तु वह भी यदि जीवनके शेष कर्तव्यके रूपमें गुरुगानको अपना अेक व्यवसाय ही बना डाले, तो अुसमें विवेक नहीं है। अिसी प्रवृत्तिमें सम्प्रदायोंकी अुत्पत्तिका बीज है। फिर वह मनुष्य जिसके गुरु-शोधनका मूल अुद्देश्य अभी पूरा हुआ ही नहीं, जिसे अभी यह स्पष्ट हुआ नहीं कि यह गुरुकृपा किस बोधमें रही है, जो अभी कल्पनामें ही विहार करता है, यदि जीवनके शेष कर्तव्यके रूपमें गुरुगानको अपना व्यवसाय बना ले, तो यह अुससे भी अधिक अनुचित है। गुरुके प्रति जो कृतज्ञताका भाव होता है वह मन ही मन समझ लेनेकी वस्तु है, बार बार कहकर बतानेकी नहीं।

फिर, तुर्रा यह है कि शिष्योंने खुद भी जो कुछ अभी प्राप्त नहीं किया है वह जगत्को प्राप्त करानेके लिअे वे अधीर हो जाते हैं और अपने गुरुकी शरणमें आनेके लिअे सारे संसारको निमंत्रण देते हैं।

अिस तरह अनेक अधकच्चरे जिज्ञासु शिष्योंकी अेक टोली गुरुके आसपास जमा हो जाती है और अुसमेंसे फिर अेक पंथका जन्म होता है। फिर गुरु खुद यदि केवल शब्दज्ञानी ही हो, अथवा जीवन सम्बन्धी अुसके विचार परिपक्व न हों, अथवा किसी प्रकारके मोहमें फँस रहा हो, तो वह भी अिस पंथकी स्थापनामें संसारका कल्याण मानकर या मना कर अैसे प्रयत्नको प्रोत्साहन देता है। अिससे आगे जाकर गादियोंकी परम्परा चलती है। फिर गादीकी परम्परा गुरुकी परम्परा मान ली जाती है। और गुरु-परम्पराकी अखण्डितता कायम रख लेनेसे यह मान लिया

जाता है कि ज्ञान भी अखण्ड रूपमें सुरक्षित है, और अैसे परम्परागत गादीपतिमें गुरुभक्ति रखनेसे यह मान लिया जाता है कि सद्गुरु प्राप्तिके सब लाभ मिल जाते हैं।*

सच बात तो यह है कि जिसे भूख नहीं लगी है, अुसे खिलानेकी जरूरत नहीं। अिसी तरह जिसके सामने आध्यात्मिक समस्यायें खड़ी नहीं हुअीं, अुसे सद्गुरुकी जरूरत नहीं। और यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्तिको मैं अपना गुरु मानूँ, अुसके मेरे कुटुम्बी और मित्र भी शिष्य बनें और अिसके लिअे मेरा आग्रह करना तो सरासर भूल है।

हाँ, मेरी तरह दूसरे लोग यदि स्वतंत्र रूपसे मेरे गुरुको अपना गुरु बना लें, तो अुनके प्रति मेरे मनमें गुरु बन्धुत्वका भाव होना स्वाभाविक है। अिस सम्बन्धके बँधानेमें मेरा कोअी हाथ नहीं है। मैं तो केवल स्वतंत्र रूपसे अुपस्थित परिस्थितिको मंजूर कर लेता हूँ, यह देखकर कि मुझे अिन गुरुसे कुछ लाभ पहुँचा है। दूसरे भी यदि अुस लाभको पानेके लिअे आकर्षित हों और अुनके पास पहुँचें, और अुनके साथ मेरा सम्बन्ध होनेके कारण अुनके पास पहुँचानेमें मेरी मध्यस्थताका अुपयोग हो तो वह भी समझमें आने जैसी बात है।

'समझमें आने जैसा' अथवा 'स्वाभाविक है' — अिसका अर्थ अितना ही है कि यदि अुचित मर्यादाके अन्दर रहकर अैसे सम्बन्ध बँधते हों तो यह अनिवार्य है, और अिसमें दोष नहीं। परन्तु जब वह मर्यादा टूट जाती है, और अधिकसे अधिक लोगोंको अपने गुरुका शिष्य

---

* चित्त तथा जगत्‌विषयक हमारा अवलोकन और अवलोकन-शक्ति अितनी अधूरी है कि अनेक विचारक अिस सम्बन्धमें भिन्न भिन्न दृष्टिसे विचार कर सकते हैं। सच पूछिये तो भिन्न भिन्न दृष्टिसे विचार किया जाना सूचित करता है कि अिस अवलोकनमें कहीं न कहीं अेकांगिता है। परन्तु जब तक अैसा अधूरापन है, तब तक तत्त्वविचारमें अलग अलग संप्रदाय (Schools of thought) रहेंगे ही। अैसे तत्त्वसम्प्रदाय और अूपर बताये पंथोंके बीच सूक्ष्म भेद है, यद्यपि व्यवहारमें तत्त्वसम्प्रदायोंसे पंथ बराबर अुत्पन्न होते हैं सही। प्रत्येक प्रवृत्ति और वृत्ति अुचित मर्यादामें अुपयोगी और आवश्यक हो सकती है। अपने देशकालके अनुसार अुस मर्यादाको शोधना ही विचारवान पुरुषका कर्तव्य है।

बनाना मेरा या मेरे गुरु-भाअियोंका व्यवसाय बन जाय, या गुरुके प्रत्यक्ष सम्बन्ध और निकट सहवाससे होनेवाला लाभ गुरुके देहान्तके बाद भी कायम रहता है और अुनके नामकी, गादीकी, या मूर्तिकी भक्तिसे वह मिल सकता है, अैसी श्रद्धा कायम रखनेकी प्रवृत्ति चले तो अुसे निरर्थक ही नहीं, अनुचित भी कहना होगा ।

'गुरु बिन कौन बतावे बाट' — यह बहुत कुछ सत्य है । परन्तु जिसे अपनी बाट खोअी हुअी नहीं मालूम होती, गुरु बतावे अुस बाट जानेकी आकाँक्षा अुत्पन्न नहीं हुअी, अुसे गुरुकी जरूरत नहीं और जरूरत न होने पर भी 'प्रत्येकको कोअी गुरु जरूर करना चाहिये' — यह दूसरे वहमोंकी तरह ही अेक वहम है ।

अिसी तरह, गुरुकी जरूरत मालूम होने पर किसीको भी अपना गुरु बना लेनेसे हमको रास्ता मिल जायगा — यह मानना भी अेक अन्धश्रद्धा ही है ।

६

सद्गुरुशरण

अेक तरफ अुपनिषद्कारोंसे लेकर अनेक ज्ञानमार्गी भक्तोंने —

'अुसे जाननेके लिअे वह हाथमें* समिधा लेकर श्रुति-सम्पन्न और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास ही जाय ।'

'सद्गुरु शरण विना अज्ञान तिमिर टळशे नहि रे' (केशवकृति)

— अैसे अुद्गार प्रगट किये हैं ।

दूसरी ओर महावीरका आग्रह था कि अपने ही पुरुषार्थ-से विना किसीकी सहायताके मैं ज्ञान प्राप्त करूँगा । बुद्धने यद्यपि अिस पर जोर नहीं दिया, तो भी कोअी गुरु अुनका पूरा समाधान नहीं कर सका था और अिसलिअे अुन्हें स्वतन्त्र रूपसे ही शान्तिकी तलाश करनी

---

* 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।'
(मुण्डकोपनिषद, १-२-१२)

पड़ी थी। गांधीजीने भी बार-बार कहा है कि वे गुरुकी तलाशमें हैं। परन्तु अभीतक अुन्हें कोअी अैसा गुरु नहीं दिखाअी दिया, जिसे अुनका हृदय स्वीकार कर सके। अतः गुरुप्राप्तिकी अिच्छा रखते हुअे भी गुरुके बिना ही अुन्हें अपना मार्ग खोजना पड़ रहा है।

फिर राजनैतिक क्षेत्रकी अनेक शाहियोंकी तरह अध्यात्म-मार्गमें भी गुरुशाहीने अितना अनर्थ और पाखण्ड फैलाया है कि 'गुरु' शब्द ही आज अनेक लोगोंको अरुचिकर हो गया है।

यदि मैं तैरना न जानता होअूं और फिर भी अपनेको तैरनेका अुस्ताद बताअूं, तो मेरा पोलखाता अेक दिन भी न चल सकेगा। क्योंकि पानीमें पैर रखते ही मेरी अुस्तादीकी परीक्षा हो जायगी। परन्तु यदि मैं किसी अैसी विद्याका अुस्ताद बन बैठूं, जैसे हस्ताक्षर या मस्तक-विद्याका, जिसकी व्यवहारमें बारबार जरूरत न पड़ती हो और जिसकी कोअी स्थूल पहिचान भी न हो, और साथ ही अपना माल खपानेके लिअे व्यापारियोंमें जैसी प्रचारकला होती है अैसी कला भी मुझमें हो, तो मेरा पोलखाता बहुत दिन तक चल सकेगा और शायद जिन्दगीभर भी चलता रहे। क्योंकि जिन विषयोंमें बहुतसे लोगोंकी ज्यादा गति न हो, आम लोगोंको जिसकी बहुत जरूरत भी न पड़ती हो और जो विषय बड़े गहन समझे लिये गये हों, अुनका अुस्ताद होना अधिक आसान है। विषय जितना ही गूढ़ और कम लोगोंको परिचित होगा, अुतना ही अपनेको अुसका अुस्ताद मनवाना अधिक आसान है।

अिस तरह ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु कहलाना अेक तरहसे बड़ा आसान पेशा है और अपने देशमें बहुत लोगोंने बड़ी सफलतापूर्वक अिसको चलाया है और आज भी चलाते दिखाअी देते हैं। शिष्योंको मोक्ष (!) और खुदको भोग प्राप्त करानेवाला यह धन्धा है तो बड़ा लाभदायक!

गुरुओंके अैसे कड़ुवे अनुभवोंके कारण 'गुरु' शब्द और किसीके गुरु नामसे परिचित पुरुष बहुतोंको आज अविश्वास और तिरस्कारके पात्र मालूम होते हैं। और कअी श्रेयार्थी अैसे दिखाअी पड़ते हैं, जिन्होंने अैसा निश्चय कर लिया है कि मैं किसीको अपना गुरु नहीं बनाअूंगा, बल्कि खुद ही अपना रास्ता ढूंढ़ निकालूंगा।

सच है कि शास्त्रोंमें सद्‌गुरुकी आवश्यकता बताअी गअी है। परन्तु अिसका अर्थ अैसा तो नहीं किया जा सकता कि कोअी मनुष्य खुद अपने बलपर सत्यकी खोज कर ही नहीं सकता। क्योंकि, यदि अैसा कहें तो शुरूआतमें जिसने आत्मतत्वकी खोज की, वह किस गुरुकी शरण गया था? फिर भी अैसा व्यक्ति, जिसे विकट जंगलमेंसे अपना रास्ता निकालना हो, यदि यह जिद पकड़े कि कोअी जानकार मिल जाय तब भी मैं रास्ता नहीं पूछूँगा, और अैसी दशामें वह कहीं गिरकर चकनाचूर हो जाय तो आश्चर्य नहीं; और यदि वह सही-सलामत अुसमेंसे पार पड़ जाय, तो गनीमत ही समझना चाहिये। अैसी अवस्थामें यदि वह सफल हो जाय तो हम अुसका गौरव करेंगे। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि अिस साहसमें समझदारी ही थी और मिथ्याभिमान नहीं था। अिसी तरह किसीको गुरु नहीं बनानेका हठ, सम्भव है, सत्यके लिअे व्याकुल व्यक्तिको बहुत चक्करमें डाल दे और अिस दुरभिमानकी बदौलत वह सत्यसे वञ्चित भी रह जाय।

'खुदको पानेके लिअे खुदको भूलना चाहिये' अिस वाक्यमें योगाभ्यासकी दृष्टिसे ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक दृष्टिसे भी बहुत रहस्य है। क्योंकि जीवन-शोधनकी शुरूआत अहंताके त्यागसे होती है और अुसका पर्यवसान भी अहंताके क्षीण होनेमें होता है।

"जब मैं था तब राम नहीं, अब राम है हम नाहिं;
"प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं।"

परन्तु अहंकार अेक अैसा प्रकृति धर्म है, जो बिल्कुल क्षीण नहीं हो पाता। अुसके क्षीण होनेका अर्थ शुद्ध होना अितना ही है। जिस प्रकार रस्सी जितनी महीन होती है, अुतनी ही अुसकी गाँठ अधिक सख्त होती है, वैसे ही प्रकृतिके धर्म भी विलक्षण हैं। वे ज्यों ज्यों सूक्ष्म होते जाते हैं, त्यों त्यों अुनका दबाव अधिक जोरदार होता है। लेकिन अुनकी परख और भी मुश्किल हो जाती है। और प्रायः जिसे निरहंकारिता मानते हैं, वही वस्तुतः तीव्र अहंकार होता है।

बुद्धिकी सूक्ष्मता अहंकारको अधिक सूक्ष्म बनाती है। परोपकार-वृत्ति, नम्रता या विनय बहुत बार अिस अहंकारका ही गुप्त स्वरूप होता

है। अतअेव बुद्धिकी सूक्ष्मता द्वारा खुदको भूलनेका अभ्यास नहीं किया जा सकता।

व्यावहारिक जीवनमें हमें खुदको भूलनेका केवल अेक ही मार्ग दिखाअी पड़ता है और वह है प्रेमका। दूसरे व्यक्तियोंके प्रति प्रेमके कारण हम खुदको भूल जायँ, यह अहंकार शुद्धिका अेक मार्ग दिखाअी देता है। कर्तव्यरत मनुष्य अपने कर्तव्यमें, अभ्यासरत अपने अभ्यासमें अपने आपको भूल जाते हैं सही, परन्तु वह थोड़े समयके लिअे होता है। अिससे चित्तके स्वभावमें स्थायी परिवर्तन नहीं होता। और अन्तको यह अहंकारका पोषक होता है। अतः जो बुद्धिमान होकर भी चैतन्यके प्रति प्रेमसे परिपूर्ण होते हैं, वे ही अधिकसे अधिक निरहंकार हो सकते हैं।

अिस प्रकार सत्पुरुषकी शरण जीवनके अभ्युदयमें अेक महत्वका साधन होता है। पति-पत्नी या दो मित्र जब प्रेमसे अेक दूसरेके अधीन हुअे रहते हैं, अेक दूसरेकी सेवा करते हैं, अेक दूसरेके लिअे स्वार्पण करते हैं, तब वे जिस प्रकारका अद्वैत सिद्ध करते हैं, अुसमें अिसकी कुछ झलक दिखाअी देती है। परन्तु पति-पत्नीके सम्बन्धोंमें विकार, परस्पर स्वार्थ और मोह मिले रहते हैं। अतअेव यह नहीं कह सकते कि अुसमें सोलहों आना चित्त शुद्धि हो सकती है। मित्रोंकी मित्रतामें भी बहुत बार शुद्ध बीज नहीं रहते, अुसमें भी स्वार्थ मिला रहता है। परन्तु अेक निस्वार्थ, अुदात्त और ज्ञानी सज्जनके साथ केवल श्रेयकी ही अिच्छा रखनेवाले पुरुषकी मैत्री हो, तो अुसका परिणाम अत्यन्त कल्याणकर होनेमें किसी प्रकारके संदेहके लिअे जगह नहीं।

तो भी, यह भी अुतना ही सच है कि यदि सद्गुरुकी खोजमें भूल हो जाय, तो शिष्यको हानि अुठानी पड़ेगी। अतअेव भोलेपनसे हर किसीमें विश्वास कर लेना कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें सद्गुरुके जो अनेक लक्षण बताये गये हैं, वे विचार करने योग्य हैं। परन्तु नीचे लिखी बातें तो खास तौरसे ध्यान देने लायक हैं:

१.— सद्गुरुका व्यवहार विवेकयुक्त होना चाहिये। अैसे खयाल गलत हैं कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष सदाचारके नियमसे परे है। अथवा सामान्य विवेकी और सदाचारी गृहस्थ सदाचारके जिन नियमोंको पालते हैं, वे अुसके लिअे बन्धनकारक नहीं हैं। अुल्टे, अुसका आचरण अुदाहरण रूप होना चाहिये। अिस कारण यदि कभी वह सामान्य लोकाचार भंग करता है तो अपनी किसी विशेषताके बहाने नहीं, बल्कि अिसलिअे कि वह लोकाचार अुसको अनुचित मालूम होता है और अुसमें सुधार करनेकी जरूरत है।

२.— सद्गुरुकी शिष्यके प्रति भावना अनुग्रह या अुपकारकी नहीं होगी, बल्कि अैसी होगी मानो वह साधारण मनुष्य-धर्मका पालन करता हो। जैसे रास्ते चलते किसी बुढ़ियाके सिरपर कोअी बोझ चढ़ा दे और फिर अपने अुस अुपकारको दिन रात गिनाया करे अथवा कोअी समर्थ विद्वान किसी बालकको जोड़-बाकी सिखा दे और अुस बातको हमेशा जताया करे, तो यह अुसकी नालायकी ही समझी जायगी। अिसी प्रकार कोअी पुरुष यह मानता हो कि अमुक अमुक मेरे शिष्य हैं, अुन्हें मेरी कृपासे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, तो यह ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके लक्षण नहीं। अुसे जो कुछ प्राप्त हुआ है वह दूसरे शोधकको प्रेमपूर्वक देना अथवा जो कठिनािअयाँ खुद अुसे अुठानी पड़ी हैं, वे दूसरोंको न अुठानी पड़ें और अुन्हें फजूल भटकना न पड़े, अिसका अुपाय बताना अुस मनुष्यका स्वाभाविक कर्तव्य ही हो जाता है। जिसने सचमुच ही मनुष्यके श्रेयके लिअे कोअी महत्वपूर्ण वस्तु प्राप्त की हो, अुसमें कर्तव्यका पालन करते हुअे किसी प्रकारका अुपकार करनेका भाव न होना चाहिये।

यह हुअी सद्गुरुके हृदयकी भावना। अब शिष्यकी भावना तो अपनी सारी जिन्दगीकी गुत्थी सुलझ जानेसे अत्यन्त कृतज्ञताकी ही रहना भी अुतना ही स्वाभाविक है। जहाँ अेक ओर अैसी सहजता, मानो कोअी खास बात न की हो तथा प्रेमयुक्त मित्रभाव और दूसरी ओर अत्यन्त कृतज्ञता और प्रेमयुक्त शरण हो, वहीं योग्य गुरु-शिष्य सम्बन्ध कहा जा सकता है।

३.—असे बहुतसे लोग देखनेमें आते हैं कि जो अपनी वासनाओंको तो क्षीण नहीं कर पाते, किन्तु अुनमें परमपदको खोजनेकी अेक तीव्र वासना रहती है। अुसके प्रभावसे दूसरी सब वासनाओंको कुछ समय तक दबाकर वे अीश्वर प्राप्तिके रास्ते लग जाते हैं। मनुष्य जिस बातके पीछे हाथ धोकर पड़ जाता है, अुसे प्राप्त कर ले तो कोअी आश्चर्यकी बात नहीं। अतअेव अुसके मनमें अनेक अशुद्ध संस्कारोंके गुप्त रूपसे रहते हुअे भी यह हो सकता है कि वह परमतत्त्वके सम्बन्धमें अेक प्रतीति युक्त सिद्धान्त बना ले। परन्तु जैसा कि पहले भागमें कहा गया है, ‘अपनी निरालम्ब सत्ताको **देखना** अेक बात है और असी निरालम्ब स्थितिमें **रहना** दूसरी ही बात है।’ और यह पिछली स्थिति —ब्रह्मनिष्ठा—सत्व-संशुद्धिके बिना शक्य नहीं।

अिस तरह ब्रह्मप्रतीति और ब्रह्मनिष्ठा ये दो बातें अलग अलग होनेके कारण ब्रह्मप्रतीति हो जानेसे यह मान लेना गलत है कि जीवनकी पूर्णता सिद्ध हो गयी या सद्‌गुरुत्वकी प्राप्ति हो गयी। ब्रह्मप्रतीति शुद्ध निष्ठावानको बादकी चित्त शुद्धिकी साधनामें बहुत सहायक हो सकती है। परन्तु दूसरी तरफ किसी पाखण्डीका पाखण्ड बढ़ानेमें भी मददगार हो सकती है।

श्रेयार्थी और पाखण्डी ब्रह्मवादीमें बड़ा भेद यह है: ब्रह्मप्रतीति हो जानेके कारण श्रेयार्थी यह नहीं मानता कि मैं ‘सिद्ध’ हो गया हूँ, वह अपनी साधनाको छोड़ नहीं देता; वह अपनेको साधक ही मानता है। परन्तु पाखण्डी पुरुष ब्रह्मवादी होकर अपनेको सिद्ध पुरुषोंमें खपाता है; साधना व सदाचारको छोड़ देता है।

निःसंशय श्रेयार्थी अर्थात् जिसको ब्रह्मप्रतीति हो चुकी है अुसमें व संशययुक्त श्रेयार्थीमें यदि कुछ भेद है तो वह यही कि निःसंशय श्रेयार्थीकी बादकी साधनामें अधीरता, व्याकुलता तथा परिणामके विषयमें शंकाशीलता नहीं दिखाअी देती।

अेक वेळ तरी जाअीन माहेरा, बहु जन्मफेरा झाल्या वरी।
चिन्ता हे बैसली अविट आवडी, पालट ती घडी नेघे अेकी।

करावें तें करी कारण शरीर, अंतरीं त्या धीर जीवनाचा ।
तुका म्हणे तरी होअील विलंब, परी माझा लाभ खरा झाला ।*

किन्तु संशयग्रस्त श्रेयार्थी अधीर हो जाता है, व्याकुल व विह्वल बन जाता है। अुसकी साधनामें तरह तरहकी गड़बड़ और अंधे-से प्रयत्न होते हैं; वह अेकको छोड़ता है, दूसरेको पकड़ता है; फिर अुसको भी छोड़ देता है। अिस तरह अुसके मनमें अुथल पुथल मची रहती है:

"साध्यनुं आकलन स्पष्ट न्होये यदा, साधना-साध्यनो मेळ न्होये;
अंधश्रद्धा थकी छोडतां, झालतां, अधीर मनने सदा दुःख होये।
घोर अरण्यमां अंध ज्यम तरफडे, चित्त त्यम आकळुं दीन थातुं;
ज्ञानदीपकधर सद्‌गुरु पामतां, निमिषमां शांतिने मार्ग जातुं ॥"+

अब श्रेयार्थी चाहे ब्रह्मवादी हो या ब्रह्म-शोधक हो, सबके संस्कार, गुत्थियाँ, समस्यायें अेक-सी नहीं होतीं। जिस स्थानसे बगैर मुश्किल अनुभव किये अेक सीधा-सर्राट चला गया हो, सम्भव है वहाँ कोअी दूसरा अटक पड़ा हो और भटकता फिरता हो। अुसकी भूल मामूली ही हो रही हो, परन्तु अुससे अुसकी प्रगति रुक गअी हो। अुस अेक भूलसे यदि कोअी अुसे छुड़ा दे, तो सम्भव है कि फिर वह आगे सीधा-सर्राट चला जाय। अिस भूलसे जो अुसे निकाल दे, अुसका वह बहुत ही अहसान माने और

---

* अेक बार निश्चित मैं अपने नैहर जाअूँगा, अगरचे बहुत जन्मचक्र भी करने पड़े। चित्तमें यह अभिलाषा पक्की बैठ गअी है, घड़ीभर भी वह बदलती नहीं।

कारण-शरीर अब चाहे जो करे, मुझे अपने हृदयमें अुस (अनन्त) जीवनकी धीरज है।

तुकाराम कहते हैं, विलंब हो तो हो, लेकिन मेरा लाभ निश्चित है।

\+ साध्यकी ही जब स्पष्ट कल्पना नहीं, तब साधना और साध्यमें मेल नहीं हो सकता।

अैसा मनुष्य अंधश्रद्धासे अेक साधन छोड़ता है, दूसरा पकड़ता है, और अिस तरह अुसका अधीर मन सदा दुःख पाता है।

जैसे किसी घोर जंगलमें अन्धा मनुष्य छटपटाता रहे, वैसे अुसका चित्त व्याकुल और दीन होता है।

लेकिन जब ज्ञानदीपक धारी सद्‌गुरु मिलता है, तब वह निमिषमें शांतिका मार्ग पा जाता है।

अुसे अपना 'गुरु' समझने लगे तो अिसमें कौन आश्चर्य है? परन्तु यदि किसी दूसरेके सामने अैसी कठिनाअी न आअी हो और अुसके मनमें अुस मार्ग-दर्शकके प्रति 'गुरु-निष्ठा' न हो, तो अिसमें भी कौन आश्चर्यकी बात है? अिस कारण अैसा हो सकता है कि जो अेकका गुरु हो, वह दूसरे साधक या शोधकका गुरु न हो सके। परन्तु अिससे यह न समझ लेना चाहिये कि अिस तरह अगर कोअी किसीकी भूल बता देता है, तो अितने ही से वह 'सद्गुरु' शब्दके योग्य हो जाता है। 'सद्गुरु'में ब्रह्मनिष्ठाके अुपरान्त और भी अनेक गुणों व संस्कारोंकी पूर्णता होनी चाहिये। यह सच है कि अमुक गुण या संस्कारकी अुचित कीमत आँकनेमें तथा अुसे परखनेमें भी भूल होनेकी सम्भावना रहती है, और अिससे अैसा भी हो सकता है कि हाथमें आया हुआ चिन्तामणि छूट जाय। शायद यह अुस साधकका दुर्भाग्य हो। परन्तु अिससे यह न मान लेना चाहिये कि केवल ब्रह्मवादित्व ही गुरुमें देखने लायक लक्षण है।

अिस सम्बन्धमें जो भूलें होती हैं, वे चार प्रकारकी हैं:

१. बहुत बार चमत्कार कर बतानेकी शक्ति ब्रह्मनिष्ठाका आवश्यक लक्षण माना जाता है, यह महज भूल ही है। अितना ही नहीं, बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ चमत्कारों पर जोर दिया जाता हो, वहाँसे दूर रहनेमें ही खैर है।

२. बाह्यपूर्णता — जैसी कि शरीर, विद्वत्ता, हठयोग, कवित्व, स्मरण-शक्ति आदि सम्बन्धी। यह माना जाता है कि अेक ब्रह्मनिष्ठकी अवश्य अिन सबमें या अिनमेंसे कुछमें असाधारण पारंगतता होनी चाहिये। किन्तु यह भी भूल है।

३. बहुत बार सद्गुरु-लक्षण और विभूतिमान पुरुषके लक्षणोंकी खिचड़ी कर दी जाती है। राम, कृष्ण आदि प्रतापी पुरुष हो गये हैं। अुनका कर्तृत्व, पुरुषार्थ जगद्विख्यात था। अुनमें अनेक महान् गुण थे। अुनकी बदौलत वे संसारके लिअे पूज्य हो गये। पर वे ब्रह्मनिष्ठ थे कि नहीं, यह कौन कह सकता है? किन्तु अपनी विभूतियोंके कारण ही वे अवतार गिने गये। अिससे यदि यह माना जाय कि जो मनुष्य ब्रह्म-

ज्ञानी हो, अुनका चरित्र भी अिन्हींकी तरह प्रतापशाली होना चाहिये तो यह भूल होगी। क्योंकि विभूतिमान पुरुष व सद्‌गुरु अेक नहीं है।

४. यही खिचड़ी सद्‌गुरुके वास्तविक गुणोंको परखनेमें भी भूल कराती है। सन्तगुणोंकी सम्पत्ति अेक अैसा लक्षण है, जो सद्‌गुरुमें आवश्यक रूपसे खोजना चाहिये। परन्तु यदि बाहरी भास या बातोंसे अुसे परखनेकी कोशिश की जाय, तो अुससे निराशा प्राप्त होनेकी सम्भावना रहती है। मनुष्यके गुण अिस बात परसे ठहराना कि अुसने कितने बड़े बड़े कार्य किये हैं, अुलटी रीति है। बड़े बड़े कार्य करना यह अेक प्रकारकी शक्ति है। वह शक्ति जिसमें हो वह पुरुष 'विभूति' है। यह शक्ति सद्‌गुरुमें न भी हो, फिर भी यह हो सकता है कि जिन सद्‌गुणोंसे प्रेरित होकर अुस पुरुषने बड़े बड़े कार्य किये हैं, वे सन्त पुरुषमें पूर्ण रूपसे विकसित हुअे हों और कदाचित् अधिक शुद्ध स्वरूपमें भी हों। अुस 'विभूति' के संसारको चकाचौंध कर देनेवाले गुण-प्रकाशका कारण अुसकी कोअी अशुद्धि भी हो सकती है। सन्तमें वह विशेष शुद्ध रूपमें है, सूक्ष्म रूपसे देखनेवालोंको ही वह दिखाअी दे सकती है। अतअेव गुणोंकी परीक्षा अुसके बड़े कामों परसे नहीं, अुन कामोंको करनेकी अुसकी पद्धति या रीतिको देखकर ही करनी चाहिये, फिर वे काम चाहे बड़े हों या छोटे।

अिसका अर्थ यह भी न होना चाहिये कि संसारकी दृष्टिमें जो महान् विभूति है, अुसमें ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता। यह सूचित करनेका अुद्देश अितना ही है कि सद्‌गुरुका विभूतिमान भी होना आवश्यक नहीं है। परन्तु यदि किसी पुरुषमें ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरुके लक्षणोंके अुपरान्त विभूतिमत्ता भी हो, अुसके कार्य व योजनायें धर्मयुक्त तथा जगद्‌व्यापी हों, तो वह विभूतिहीन सद्‌गुरुसे श्रेष्ठ है। यदि हम अुसे सच्चे अर्थमें 'जगद्‌गुरु' कहें, तो निरतिशय भक्तिपूर्वक अपना जीवन समर्पण करते हुअे अैसे 'जगद्‌गुरु'के साथ अपना जीवन जोड़नेसे अधिकसे अधिक कृतार्थता मालूम हो सकती है। अितर सद्‌गुरु, जगद्‌गुरुकी भक्तिके लिअे कहिये, अथवा सम्यक् धर्मके पालनके लिअे कहिये (दोनों अेक ही हैं), अपने शिष्योंको तैयार करें वहीं तक अुनका कार्य अुचित समझना चाहिये।

यह जगद्गुरु कोअी शंकराचार्य या दूसरा कोअी आचार्य नहीं होगा। सम्भव है कि अैसा जगद्गुरु अप्राप्त ही रहे, कल्पनागम्य ही रहे। और अिसलिअे, तब तक गुरुभक्तिका क्षेत्र मातृभक्ति, पितृभक्ति, अित्यादिके क्षेत्र जैसा मर्यादित ही समझना चाहिये। जैसे धर्म माता-पितासे परे है, वैसे ही वह सद्गुरुसे भी परे और विशेष है।

७

गुरुभक्ति और पूजा।

अब हम अिस बातका विचार करें कि गुरुकी भक्ति या पूजा किस तरह करनी चाहिये। यह मानकर चलिये कि अमुक पुरुष सद्गुरु या जगद्गुरु कहलानेके लायक है। तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि अुसके शिष्य अेक खास सीमामें ही अुसके प्रति अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करें? अिस भक्तिभावके चिह्नस्वरूप वह गुरुकी जो शुश्रूषा या पूजा करता है, अुसमें 'अब बस' अैसा कोअी तीसरा व्यक्ति कैसे कह सकता है? अतअेव यहाँ गुरुके प्रति निरतिशय पूज्य बुद्धि और छोटी-बड़ी सब प्रकारकी अुसकी सेवा करनेकी भावनामें दोष बतानेका हमारा अुद्देश नहीं है। बल्कि गुरु सम्बन्धी हमारी भ्रमपूर्ण कल्पना और अुसकी बदौलत पोषित गुरुपूजाके गलत आदर्शके सम्बन्धमें ही हमें कहना है।

जो लोग 'गुरुभक्त' होते हैं, वे आम तौरपर गुरुप्राप्तिके पहले किसी देवादिके भक्त रहे होते हैं और देवादिकी पूजा-अर्चाकी जो विधि हमारे समाजमें प्रचलित है, अुसीका अनुकरण अपनी गुरुपूजामें करनेका प्रयत्न करते हैं। अुदाहरणके लिअे, देवताको गान, वाद्य आदिके नादके साथ जगाया जाता है, अुनकी आरती अुतारी जाती है, पञ्चामृत स्नान आदि कराया जाता है, वह पानी बतौर प्रसादके ग्रहण किया जाता है, वस्त्र, आभूषण, पुष्पमाला, चंदनादिकी अर्चा आदि चढ़ाअी जाती है और देवको थाल चढ़ाकर अुसका प्रसाद बाँटा जाता है। यह समझा जाता है कि अिस प्रसादीमें कोअी चमत्कारिक शक्ति भरी है, अतअेव अिस महिमाके कारण

अुसकी छीनाझपटी होती है तथा अुसके लिअे बड़ी (फेन्सी) कीमत लगाअी जाती है, और वह कीमत प्राप्त करनेके लिअे अुसे नीलाम भी किया जाता है।

यह पूजाविधि कुछ अंशमें यज्ञविधियोंसे और कुछ अंशमें किसी समयके रसिक और श्रीमान् पुरुषों या राजाओंकी जीवनचर्यासे ली गअी मालूम होती है।

अिस प्रकार पूजाविधिमें भक्त अपनी ही भावनाओंको प्रदर्शित करनेका ध्यान रखता है। यह सब पूजाविधि देवताको कैसी लगेगी, अिसका विचार करनेकी जरूरत ही नहीं पैदा होती।

परन्तु जब अिसी विधिका गुरुदेवकी पूजामें अनुकरण किया जाय, तब कहना होगा कि भक्तकी भावनायें अनुचित रूप ग्रहण कर रही हैं।

'गुरु ही श्रेष्ठ देव है' अैसा मानते मानते जब भक्त यह भी मानने लगता है कि जिस तरह देवता जड़ पाषाण या चित्रका बना होता है और अिसलिअे जैसी चाहे वैसी अुसकी पूजा की जा सकती है, अुसी तरह गुरुको भी सचेतन पाषाण मानकर अुसकी वैसी ही पूजा करनी चाहिये — तो अुसे गुरुकी पूजा नहीं, बल्कि विडम्बना कहना चाहिये।

मैं जानता हूँ कि अैसी पूजाविधिको सहन करनेवाले ही नहीं, बल्कि अुसका समर्थन करनेवाले गुरु भी मौजूद हैं। मेरी रायमें या तो अुन्होंने अिस विषयमें गहरा विचार ही नहीं किया है और महज रूढ़िको पकड़े बैठे हैं या दूसरे प्रकारकी स्वार्थ-सिद्धिके लिअे अैसी विडम्बना सहन कर लेते हैं।

फर्ज कीजिये कि गांधीजी ब्रह्मनिष्ठ हैं, और अिसलिअे अुनके अनुयायी जिस हद तक अुनके प्रति गुरु भाव रखते हैं, अुससे अधिक वे अुनके पूर्ण गुरुदेव बन जायँ और फिर अुनपर रोज या पर्व त्योहार पर अैसा फर्ज आ पड़े कि जब कोअी भक्त घण्टी बजावे और 'जागो मोहन प्यारे' गावे तभी वे अुठ पावें, और कोअी शिष्य अुन पर दूध-दही-घी-शहद-शक्कर और पानी डालकर जब पंचामृतसे स्नान करावे तभी वे स्नान करें, दिनमें कमसे कम पाँच बार (और अिसके अलावा दूसरे शिष्य जब जब प्रसादी कराना चाहें तब तब) अुन्हें नैवेद्य चख कर अुसे प्रसादी बना देना पड़े, अुनके स्नानका पानी प्रसादके रूपमें देना पड़े

और जो भक्त चाहें अुन्हें चरणोदक करके देना पड़े, दिनमें तीन चार बार आरती अुतारने देनी पड़े, भक्ताधीन होकर गहने-गाँठे और ज़रीके कपड़े और सारे शरीरमें या कपाल पर चन्दनकी अर्चा मंजूर करनी पड़े — तो अुनका जीवन कितना कृत्रिम बन जाय? भले ही अैसा जीवन किसीको अीर्ष्यायोग्य मालूम हो, परन्तु कर्मयोगी पुरुषको तो वह करुणास्पद और अेक बन्धन ही मालूम पड़ेगा।

गुरु बननेके पहले साधारण व्यक्तिके तौर पर जिस प्रकारका जीवन गुरु व्यतीत करता है अुससे जुदा ही प्रकारका जीवन बितानेका और जुदा ही प्रकारकी प्रतिष्ठा या शान दिखानेका फर्ज अुनपर डाला जाय या गुरुकी तरफसे स्वीकार किया जाय, तो अुसमें मुझे गुरु और शिष्य दोनोंमें विचारकी खामी दिखाअी पड़ती है।

जिससे गांधीजीके आरोग्यकी रक्षा हो और अुन्हें अपने जीवनके प्रधान कार्यके लिअे अधिकसे अधिक शक्ति लगानेकी अनुकूलता मिले, अिस प्रकार अुनके लिअे सुविधायें करनेमें अुनके परिचारकोंको अुनकी जितनी शुश्रूषा करनी पड़े, वह अुनकी योग्य, स्वाभाविक और काफी पूजा है। और अितनी पूजा तो अुन गुरुजनोंकी करनेमें भी कोअी हर्ज नहीं, जो सद्गुरुकी श्रेणीमें न आ सकें। पर अिस मर्यादाको लाँघकर जब पूजाको स्वीकार करना ही अुनके जीवनका मुख्य व्यवसाय बन जाय, तब तो वह अुनकी विडम्बना ही समझना चाहिये। जब कि किसी मूर्तिकी भी पूजा अिस प्रकार करनेकी जरूरत नहीं, तो फिर मनुष्यके रूपमें रहनेवाले देवकी तो कहाँसे हो?

पाषाण या चित्र-लिखित देवसे अतृप्त रहनेवाला भक्त जब अपने गुरु-देवको प्राप्त कर अुनके साथ अैसा ही व्यवहार करने लगे मानो वह पाषाणके ही हों, तो अुसकी यह गुरु प्राप्ति नहीं के बराबर ही समझनी चाहिये।

गुरु गोविन्दसिंहका अेक अैसा अैतिहासिक दृष्टान्त माना जा सकता है, जो परिपूर्ण न होते हुअे भी गुरुपनका अेक ठीक अुदाहरण है। वे अपने शिष्योंके गुरु, नेता और राजा थे। अुनके पुत्रोंके लिअे तो पिता होनेके कारण भी अुनकी भक्तिमें अपने सब धर्मोंका पालन सहज ही हो जाता था। आध्यात्मिक सम्पूर्णताकी दृष्टिसे अलबत्ता गुरु गोविन्द-

सिद्दको पूर्ण नहीं कह सकते, और अिसी लिअे अिस दृष्टान्तको मैंने अपूर्ण कहा है । परन्तु अुनके शिष्योंके लिअे और जिस समाजमें और जिस प्रकारका काम अुन्हें करना था, अुसके लिअे अिससे अधिक आध्यात्मिक सम्पूर्णताकी भूख या जरूरत न होनेसे यह दृष्टान्त अच्छा खयाल देता है । जहाँ पितृभक्ति, राजभक्ति और गुरुभक्तिके सब प्रकार भक्तसे तत्कालीन समाज-धर्मका ही पालन कराते हों, वहाँ भक्तिभाव अधिकसे अधिक कृतार्थताका अनुभव करता है । चाहे पुत्र हो, प्रजा हो या शिष्य हो, वे अेक ही तरहसे अपनी भक्ति प्रदर्शित कर सकते हैं; और वह अुनके जीवनका अुद्देश्य पूरा करके ।

गुरुकी शोध आखिर किस लिअे, और गुरु प्राप्तिकी आश्यकता भी किस लिअे ? अिस विषयकी स्पष्ट समझ न होनेके कारण जहाँ पन्थ खड़े ही न होना चाहियें वहाँ वे खड़े हो जाते हैं, गद्दियाँ चल निकलती हैं, पूजा-पधरामणीके आडम्बर रचे जाते हैं और गुरुपन विरासतमें भी मिल जाता है !

टिप्पणी

मूर्तिपूजा — अिस जगह मूर्ति-पूजाकी मर्यादाके सम्बन्धमें कुछ विवेचन करना अनुचित न होगा ।

अपने पूज्य या स्नेही जनोंके स्मारकके रूपमें मूर्ति या प्रतिमा रखनेकी भावना अैसी अस्वाभाविक या सदोष नहीं है कि अिस्लामकी तरह अुसका बिलकुल निषेध करनेकी जरूरत हो । मूल पुरुषके प्रति जो पूजा या स्नेहभाव होता है, वह अुसकी प्रतिमाके लिअे भी अंशतः हो, तो यह स्वाभाविक है । परन्तु यह प्रतिमा है अिस बातको भूल कर, अुसमें चेतनाकी भावना रखकर अुसे षड्‌ऊर्मियुक्त कल्पना करके जो पूजा-विधि रची जाती है, अपार आडंबर रचा जाता है, अुसका आग्रह रखा जाता है और अुसके निमित्त लड़ाअी-झगड़े किये जाते हैं, यह विवेकका अतिरेक है — अतिक्रमण है ।

सम्भवतः योगाभ्यासीको ध्यानके आलम्बन रूपमें मूर्तिकी अुपयोगिता प्रतीत हुअी होगी । फिर चंचल चित्तको सदैव मूर्तिका अनुसंधान करानेके लिअे अैसा सुबहसे शाम तकका कार्यक्रम बना होगा,

जिसमें सारा दिन मूर्ति सम्बन्धी विविध क्रियायें करनी पड़ें। किसी योगाभ्यासीको जो व्यवसाय अभ्यासकी दृष्टिसे अुस समयके विचारके अनुसार ठीक या आवश्यक प्रतीत हुआ, वह आगे चलकर अैसे लोगोंके लिअे भी जीवनका महत्वपूर्ण व्यवसाय बन गया जिन्हें कभी स्वप्नमें भी योगाभ्यासका खयाल न आता हो। जो चीज किसी समय साधनके रूपमें स्वीकार की गअी थी, वही अब साध्य बन बैठी। धीरे धीरे अुसका महत्व अितना बढ़ गया कि मूर्ति-पूजा भक्तिमार्गका अेक आवश्यक अंग जैसी बन गयी, अथवा मूर्ति-पूजाको ही 'भक्तिमार्ग' नाम प्राप्त हुआ, और अुन्नतिके अेक स्वतन्त्र साधनके रूपमें महत्व मिल गया।

सच पूछिये तो योगाभ्यासीको भी मूर्तिपूजाके खटाटोपकी जरूरत नहीं है और दूसरोंके लिअे तो वह महज अन्धश्रद्धा, वहम, अबुद्धि, कृत्रिम क्रियाकाण्ड और अीश्वर या धर्मके नाम पर झगड़ा करानेवाली वस्तु हो गअी है।

कुछ लोग कहते हैं कि मूर्ति-पूजा मनुष्य स्वभावके साथ ही जुड़ी हुअी है, और वह फिर किसी दूसरे रूपमें आकर सामने खड़ी हो जायगी। परन्तु वैसा तो अस्पृश्यताके सम्बन्धमें भी कहा जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि वह दूसरे रूपमें आवेगी या नहीं। प्रश्न अितना ही है कि आज वह जिस रूपमें हमारे सामने खड़ी है, वह अनिष्ट है या नहीं? फिर जब कभी वह नये रूपमें आवेगी और अनिष्टता दिखावेगी, तब अुस समयके लोगों पर अुसके अुस वेशको छीन लेनेकी जिम्मेदारी आयेगी। हम तो आजका अुसका विकृत वेश अुतार डालें तो बस है।

८

सद्भाव और सत्संग

अूपर कह चुके हैं कि जिसके लिअे हम अपना जीवन समर्पण करना चाहते हैं अुसके हम भक्त होते हैं, और निरतिशय तथा अहैतुक प्रेम ही भक्तिका हार्द है।

भक्ति, प्रेम आदि भावोंके मूलमें अेक जीवके प्रति दूसरे जीवका सद्भाव है। अिस सद्भावके अुत्तरोत्तर अुत्कट स्वरूपको हम प्रेम, भक्ति आदि नाम देते हैं। अैसे सद्भावके अेक दूसरे प्रकारका भी जीवनमें स्थान है और अुसका भी योग्य स्वरूप जान लेना अुचित है। बहुत बार अिसके लिअे भक्ति शब्दका प्रयोग किया जाता है, परन्तु अूपर भक्तिका जो अर्थ हमने किया है अुसको देखते हुअे वहाँ 'भक्ति' शब्द औपचारिक ही समझना चाहिये। अतअेव यहाँ हम अिसे सद्भाव या संतभाव कहें तो ठीक होगा।

अेक अुदाहरण देकर अिसे समझाता हूँ। रामके साथ हनुमान है, अंगद भी है और दूसरे अनेक लोग भी हैं। अब हनुमानकी रामके प्रति भक्ति और परायणता खास तरहकी है। अंगद अुस कोटि तक नहीं पहुँच सकता। अुसकी प्रकृतिकी रचना जुदा प्रकारकी होनेसे अथवा अुसके संस्कार, शक्ति या परिस्थिति भिन्न प्रकारकी होनेसे यह हो सकता है कि अंगद किसीकी भी भक्ति अिस प्रकारसे न कर सके। अतः अंगद हनुमानके अनुकरणका प्रयत्न न करेगा। और अिस कारण वह अपनेको हनुमानका अुपासक न कह सकेगा। फिर हनुमानके ही लिअे जीवन-समर्पण करनेका अुसका संकल्प न होनेसे वह अुसका भक्त भी नहीं है। फिर भी हनुमानके पूर्व निर्दिष्ट शीलके कारण अंगदके हृदयमें अेक अैसे प्रकारका भाव जाग्रत रहता है जिससे हनुमान अुसे सदा सप्रेम आदरणीय लगे, वह हमेशा अुसके लिअे कुछ कष्ट सहन कर लेनेके लिअे अुत्सुक रहे, और अैसा अवसर मिलनेपर वह अपनेको धन्य माने। यह हनुमानके

अेक खास तरहके शीलके प्रति अंगदका सद्भाव है, और वह तब तक रहनेवाला है जब तक अुसे अुस शीलकी वैसी ही प्रतीति आती रहे।

अिस प्रकारके सद्भावमें रामके साथ अंगदका भी सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। अुदाहरणके लिअे, फर्ज कीजिये कि आगे चलकर खुद रामके साथ अंगदका विरोध पैदा हो जाय। फिर भी हनुमान जिस भक्तिभावसे रामका अनुकरण करता है, अुसकी बदौलत हो सकता है कि वह हनुमानको पूजे और अुसके लिअे कष्ट अुठानेमें आनन्द माने।

अिसी तरह कोअी व्यक्ति खुद चाहे मातापिताका भक्त न हो, और हो भी न सकता हो; खुद साधु चरित न हो और होनेका ठीक प्रयत्न भी न करता हो, फिर भी किसी दूसरे सत्पुत्र या साधु पुरुषके प्रति आदरभाव रखे और अुसके लिअे जो कुछ करना पड़े वह करनेमें आनन्द माने, तो यह सन्तभाव या साधुताके प्रति कदरदानी या आदरभाव है।

अिस प्रकारकी सन्तभक्तिका जीवनमें अुपयोगी स्थान है। परन्तु अिसमें भी जब किसी कामना-सिद्धिका भ्रम प्रवेश कर जाता है अथवा अुसे प्रदर्शित करनेके प्रकारमें अविवेक होता है, तो वह सदोष हो जाती है।

जिसके प्रति हमारे मनमें सद्भाव हो अुसके योग्य व न्याय्य कार्यमें सहायता करना, अुचित मर्यादामें रहकर अुसका आतिथ्य-सत्कार करके अुसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करना योग्य ही है। परन्तु अैसी भक्ति यदि केवल अनुचित महिमा या वहमका रूप धारण कर ले, अिसके मूलमें किसी कामना-सिद्धि या पुण्य-प्राप्तिकी आशा हो, तो वह सदोष है।

कभी कभी सन्तपूजा प्रदर्शित करनेकी रीति अैसा स्वरूप ले लेती है कि जिससे वह मनुष्य जिस सिद्धान्तपर अपना जीवन चलाना चाहता हो अुसीका भंग हो जाता है। अैसी रीत अविवेकपूर्ण है। जैसे, फर्ज कीजिये, मैं मांसाहार या मद्यपान करके जीवनको टिकाना नहीं चाहता अथवा किसी खास सिद्धान्त पर चलनेके कारण राज्य या समाजकी ओरसे मुझे तकलीफ दी जानेकी संभावना है। अैसे समयमें मेरे प्राण बचानेके लिअे मुझे धोखा देकर शराब-मांस खिलाया जाय या मुझे कष्टसे बचानेके लिअे अिधर-अुधर कोशिश की जाय, तो सद्भाव प्रदर्शित करनेकी यह रीति अविवेक युक्त है। क्योंकि अिसमें जिन सिद्धान्तोंको मैं पालना

चाहता हूँ अुन्हींका अुच्छेद होता है, और अिसलिअे मेरे प्रति वह सत्ता-कृत्य नहीं हो सकता। अिस प्रकारसे सद्भाव प्रदर्शित करनेवालेके मनोभावोंका पृथक्करण करें, तो मालूम होगा कि मेरे सिद्धान्तोंके प्रति अनास्था होनेके कारण वह मुझे कृपापात्र स्थितिमें आ गया मानता है, किन्तु मेरी साधुताके प्रति आदर होनेसे किसी भी तरह मुझे बचा लेनेके लिअे तैयार होता है। अिसमें सद्भाव गौण है, कृपाभाव विशेष रूपसे है। परन्तु चूँकि अिस कृपाभावका मैं अिच्छुक नहीं हूँ, अिसलिअे अुसे अिस तरह दर्शाना अविवेक युक्त है।

साधुचरित जनोंके सहवासमें जो प्रसन्नता या शान्ति मालूम होती है अुसका कारण यह है कि हम जितने समय अुनके सहवासमें रहते हैं अुतनी देर हमारे हृदयमें अुदात्त और कोमल भावनायें अुमड़ने लगती हैं। अुस समय शुभके प्रति अपने जीवनको लगानेके संकल्प अुठते या पुष्ट होते हैं। यह लाभ प्रत्यक्ष है, और जिन्हें अुनके प्रति आदर हो अथवा जो अुनकी साधुता देख सकते हों, अुन्हींको वह मिलता है। परन्तु अुनके चरण पड़नेसे घरमें धन-दौलत आ जायगी, सट्टेमें फायदा हो जायगा, वेतन बढ़ जायगा; अिनके चरण-स्पर्शसे भ्रष्ट लड़का, अुनके प्रति मनमें आदर-भाव न रहनेपर भी, सीधे रास्ते आ जायगा, अथवा किसी स्त्रीको सन्तान प्राप्ति हो जायगी, या बीमार आदमी अच्छा हो जायगा, अथवा सारे जीवन भर अुल्टे-सीधे काम किये हों तो भी मरण समयमें बेहोशीकी हालतमें भी कराअी गयी अुनकी पूजासे अुसे 'सद्गति' मिल जायगी — अिस प्रकारकी भक्ति या श्रद्धाकी निष्ठा गलत या भ्रमपूर्ण है। अैसी सिद्धियाँ किसीके पास हों तो भी अुनका अुपयोग कर लेनेकी लालसा भी अशुद्धि-पोषक है और अिसलिअे अिस प्रकारकी सन्तभक्ति प्रोत्साहन देने योग्य नहीं है।

सन्त-समागमका अेक और भी अविचारी स्वरूप देखनेमें आता है। जो भी कोअी मनुष्य साधु, सद्गुरु, मौलियाके नामसे पूजा जाता हो, अुसके पीछे दीवाना बने रहनेका कअी लोगोंको अेक व्यसन ही हो जाता है। अिनमेंसे किसीके भी अुपदेशका विचार करके अपनी विवेक-बुद्धिसे अुसकी छानबीन करनेका वे प्रयत्न नहीं करते; जो योग्य मालूम हो अुसके

अनुसार चलनेका या अुसके अनुसार प्रयत्न करनेका विचार नहीं रखते। न तो वे किसी अेक पर पूरा विश्वास ही रखते हैं, न किसी पर अविश्वास करनेकी हिम्मत करते हैं। प्रत्येकको वे आश्चर्यवत् देखते हैं, आश्चर्यवत् सुनते हैं, प्रत्येकके विषयमें आश्चर्यके साथ बोलते हैं और अितना होते हुअे भी किसीको समझनेका प्रयत्न तक नहीं करते। अिनमें अेक बड़ा वर्ग तो कामनिक लोगोंका ही होता है, और अेक बिलकुल बुद्धिहीन होता है। अिन दोनों वर्गोंके लोग यदि धोखा ही खाते रहें तो कोअी आश्चर्य नहीं। फिर कुछ लोग प्रत्येकके अभिप्रायों व रायोंको तोतेकी तरह अपने दिमागमें ठूँस लेते हैं और बुद्धिको अिस तरह कुण्ठित कर लेते हैं कि फिर वे स्पष्ट विचार करनेके लायक ही नहीं रहते। अैसे सन्त-समागमकी कोअी कीमत नहीं। पिछले खण्डमें 'श्रद्धायुक्त नास्तिक' नामक प्रकरणमें जिस वृत्तिका वर्णन किया गया है, अुससे मिलती-जुलती ही यह वृत्ति है।

९

भक्तिके प्रकरणोंका तात्पर्य

अपनेसे जो विशेष मालूम हो अुसके प्रति पूज्यताकी व प्रेमकी भावना और अुसे पूजनेकी अिच्छा मनुष्य हृदयमें स्वाभाविक होती है। अिस अिच्छा और भावनामें दोष नहीं है, यही नहीं बल्कि अुसके बिना चित्तका विकास भी असम्भव है।

अिन प्रकरणोंका अुद्देश्य यह नहीं है कि भक्ति-भाव या पूजनेकी अिच्छाका निषेध किया जाय, बल्कि अिनका अुद्देश्य तो अिस बातका विचार करना है कि अिस भक्ति-भावके फल किस तरह प्रत्यक्ष जीवनमें प्राप्त किये जा सकते हैं, अुसके प्रकार किस तरह मनुष्यके सहज जीवनमें अुपजाये जा सकते हैं, और कृत्रिम रीतियोंको पैदा किये बिना या जीवनको सहज प्राप्त सम्बन्धोंसे अलग करके कृत्रिम या काल्पनिक सृष्टिमें प्रेरित किये बिना किस तरह अुसके सब लाभ अुठाये जा सकते हैं।

वर्णाश्रमके विषयमें लिखे गांधीजीके लेखकी भाषामें थोड़ा परिवर्तन करके कहूँ तो:

'भक्ति अेक मनुष्य-द्वारा निर्मित भावना नहीं है, बल्कि अुसकी पहचानी हुअी अेक वृत्ति है। अिससे अुसका नाश होना असम्भव है। अिसके गुप्त रहस्य और शक्तियोंकी खोज होनी चाहिये और समाजके कल्याणमें अुसका अुपयोग होना चाहिये।'

जिस श्रद्धा, आदर, मृदुता और प्रेमसे मनुष्य जड़ मूर्ति, क्रॉस या काबाको नमन करता है, अुसकी आराधना करता है, बहुत बार अुसीको जीवन समर्पण करता है, अन्य अनेक रीतिसे अुसकी प्रतिष्ठा बढ़ानेकी कोशिश करता है, और कअी बार अुसके नामपर सचेतन प्राणियोंका संहार भी करता है, अुसका त्याग करके, यदि अुसका दशांश भी प्रत्यक्ष जीवनमें लाकर, अपने मनुष्य बंधुओं और प्राणियोंके प्रति अुसे प्रदर्शित करे, तो संसारका स्वरूप बहुत कुछ बदल जाय।

सूर्य, अग्नि, पर्वत, या नदी भव्य है, गगनगामी मन्दिर और मसजिद भव्य है। परन्तु अेक छोटी सी चींटी अुससे भी अधिक विभूतिमान है, अिसको क्या हम समझ सकेंगे?

जो गुरु-पंथी अिस बातको समझ सके हैं, वे अेक प्रकारकी जड़तासे तो अूपर अुठ गये हैं, परन्तु दूसरे प्रकारकी जड़ता, पाखण्ड, अन्ध-श्रद्धा, कृत्रिम पूजा और कर्मकाण्डके जालमें फँस जाते हैं। अिसका नतीजा यह हुआ है कि जड़, पिशाच, अुन्मत्त, अघोरी, विलासी, व्यसनी, व्यभिचारी सब प्रकारके लोग हमारे देशमें **गुरु : साक्षात्परब्रह्म** हो सकते हैं। पागलोंके अस्पतालमें जिस प्रकारकी विचित्रतायें देखी जाती हैं अुस तरहकी सब विचित्रतायें — यदि अुनके साथ वेदान्तकी परिभाषाकी जोड़ मिल जाय तो — आश्चर्यवत् देखी जाती हैं, सुनी जाती हैं और पूजी जाती हैं और बड़े बड़े पदवीधर, अध्यापक और महोपाध्याय अुनकी जूठन खानेमें धन्यता मानते हैं। अिसमें कोअी शक नहीं कि यह केवल अबुद्धि ही है। यह कहना अनुचित नहीं है कि हर किसीके शिष्य बन जानेके बनिस्बत वे लोग अधिक सलामत हैं, जो यह कहते या मानते हैं कि सद्गुरु मिलना असम्भव ही है।

जीवन-शोधन

[शोधनका अर्थ है अज्ञातकी खोज करना और ज्ञातका संशोधन करना]

खण्ड ४

प्रकीर्ण विचारदोष

१

वैराग्य

वैराग्य श्रेयःप्राप्तिका अेक महत्वका साधन है। परन्तु अिसके सम्बन्धमें अपने देशमें बहुत विचित्र कल्पनायें फैली हुअी हैं। अिन सब विचित्रताओंमें दो तत्व आम तौर पर दिखाअी देते हैं:

१. सगेसम्बन्धी, कुटुम्बी, समाज, आदि विषयक स्वाभाविक प्रेमको तोड़कर अुनके प्रति अपने कर्तव्योंके सम्बन्धमें अुदासीन हो जाना; और

२. जितनी हो सके अुतनी वस्तुओंका त्याग करना।

जड़भरतका चरित्र अिस वैराग्यका आदर्श माना गया है। जड़-भरतने घरबारसे मुक्त होनेके लिअे अुन्मत्त-वृत्ति धारण कर ली। जो कुछ काम अुसे सौंपा जाता, वह अुसे जानबूझकर बिगाड़ डालता। आखिर घरवालोंने अुकता कर अुसे घरसे निकाल दिया और जहाँ जी चाहे चले जानेकी अिजाज़त दे दी। तब जड़भरत जंगलमें अकेला रहने लगा और वहाँ अुसने अपरिग्रहकी पराकाष्ठा की। यह जड़भरत — पौराणिक कथाके अनुसार — पिछले जन्ममें भरत नामका राजा था। वानप्रस्थ होनेके बाद वनमें अेकान्त जीवन व्यतीत करते हुअे अुसने अेक मरते हुअे हरिणके बच्चेको दयासे बचाया और पाल-पोस कर बड़ा किया। अुसके साथ जड़भरतका अितना वात्सल्य प्रेम हो गया कि अुसके वियोगसे अुसे बहुत दुःख हुआ। मरते समय अुस मृगके चिन्तनसे भरतकी वृत्ति मृगमय हो गअी और अिससे अगले जन्ममें अुसे मृगका शरीर मिला। अुसके बादके जन्ममें वह जड़भरत हुआ; और पूर्व जन्मकी स्मृति रहनेसे अुसने निश्चय किया कि अब किसी पर दयासे भी स्नेह न करूँगा। फिर वह अूपर कहे अनुसार व्यवहार करने लगा।

पहले तो हमें अैसी बातोंको अैतिहासिक वृत्तान्त माननेकी भूल ही न करनी चाहिये। यह अेक कल्पित कथा है जिसे पुराणकारने वैराग्यका आदर्श अुपस्थित करनेके लिअे रची है। परन्तु अिसे ज्योंकी

त्यों सच मान लें, तो भी भरतने दयासे हरिणको बचाया असमें कोअी अविवेक नहीं था; असके स्वावलम्बी होने तक असका पालन-पोषण करनेमें भी अविवेक नहीं हुआ। परन्तु असके स्वावलम्बी होनेके बाद भी असके स्वभावके अनुसार असे आज़ाद न छोड़नेमें और असकी आसक्ति युक्त चिन्ता करनेमें जरूर अविवेक हुआ। परन्तु अपनी अितनी ही भूलको देखनेके बदले जड़भरतने यह सोचा कि मैंने अितनी दया की, अिसीसे तो यह आसक्ति पैदा हुअी ! अतः अब दया, स्नेह आदि भावोंको हृदयमें कतअी स्थान न देना चाहिये। परन्तु यह भी दूसरे छोरका अविवेक ही था। योग्यता और अयोग्यताकी हद — तारतम्य — समझने और असके पालन करनेकी जगह असने अुन्मत्त (पागलके जैसी) वृत्ति धारण कर ली।

परन्तु यह चरित्र हमारे देशमें वैराग्यका आदर्श बन बैठा है। आज भी जब कोअी मनुष्य साधु बननेका अिरादा बतलाता है, तो अपना शिष्यमण्डल बढ़ानेकी लालसा रखनेवाले साधु असे जड़भरतका आख्यान सुनाते हैं और जानबूझकर अैसा व्यवहार करनेका अुपदेश देते हैं कि जिससे घरके लोग असुसे अुकता अुठें। यह मैं अपनी जानकारीके आधार पर लिख रहा हूँ।

फिर, यदि कोअी मनुष्य अपने घरमें अपने माँ-बाप या किसी दूसरे कुटुम्बीके अत्यन्त बीमार होने पर भी अुनकी तरफ आँखें मूँद कर मन्दिरमें या साधुओंके पास बैठा रहे और यदि अुनकी बीमारीका हाल पूछने पर वह जवाब दे कि 'खटियाका पाया टूट जाय तो असका क्या करते हैं ? चूलेमें ही तो जलाते हैं न ? असी तरह यह हड्डियोंकी खटिया है, टूट जायगी तो बहुतेरे लोग हैं जो जाकर जला आवेंगे। अुनकी क्या चिन्ता की जाय ! माँ-बाप और सगे-सम्बन्धी तो चौरासी लाख योनियोंमें जहाँ कहीं हमारा जन्म हुआ, वहाँ मिले हैं और मिलेंगे। परन्तु अैसा साधु-समागम कहीं बार बार मिलनेवाला है ?' — तो यह समझा जाता है कि असके वैराग्यका घड़ा लबालब भर गया है, और साधु लोग अैसे अविवेकीको प्रोत्साहन देते हैं।

विशाल समाजके हितार्थ व्यक्तियोंके अपने निजी और कुटुम्बियोंके सुख, सुविधा, स्वार्थ और जीवनको भी बलिदान कर डालनेके अुदाहरण प्रत्येक देशमें मिलते हैं। अुनके नाम सब जगह आदरपूर्वक लिये जाते हैं। किन्तु अिन सबमें वे दो भिन्न वर्गोंके प्रति अपने कर्तव्योंमें किसको महत्व दें, अिसका विचार शामिल रहता है। परन्तु पूर्वोक्त वृत्तिमें तो वैराग्यके नाम पर अेक मनमानी और गैर-जिम्मेदार स्वच्छन्दता है। मनुष्य अपने मनके किसी आवेगकी पुष्टिके लिअे यदि कुछ शारीरिक कष्ट या असुविधा सहन कर ले, तो अिसे वैराग्य नहीं कह सकते। धन, यात्रा, विषयेच्छा, साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान आदि किसी भी बातका जब किसीको शौक लग जाता है, तो वह बहुत खुशीसे अैसे कष्ट और अिससे भी अधिक बड़ी जोखम अुठा लेता है। परन्तु अिन सबको कोअी विरागी नहीं कहता। अुसी तरह अिसको भी अेक दूसरे प्रकारका साहित्य, संगीत, कला या विज्ञानका शौक लग गया है; अुसे साधुओंके पास मन्दिरोंमें या अेकान्तमें पोषण मिलता है, अितना ही फर्क है।

तब वैराग्यका स्वरूप क्या है? साधारणतः मनुष्य मानता है कि अपने धन, सम्पत्ति, वैभव, अधिकार, कुटुम्ब, परिजन आदिकी बदौलत वह बड़ा और सुखी होता है; ये अगर चले जायँ तो वह छोटा और दुःखी हो जायगा। मामूली तौरपर मनुष्य विपत्तिमें धीरज खो बैठता है, और कुटुम्बियोंके वियोगको शान्त चित्तसे सहन नहीं कर पाता।

परन्तु विचारशील मनुष्य यह सोचता है कि धन, वैभव, अधिकार आदि अुसके आसपास आकर अेकत्र हुअे हैं; अिनके केन्द्रमें वह स्वयं है। वह खुद है तो यह सब कुछ है; अतः यह सब अुसके अधीन है।* धन, वैभव, अधिकार आदिसे खुद अुसकी शोभा नहीं बढ़ती, बल्कि अुन्हींकी

---

* योगसूत्रमें वैराग्यकी व्याख्या अिस प्रकार दी है —

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ (१-१५)

मैं अिसका अर्थ अिस प्रकार करता हूँ: अिन लोक या परलोकके विषयमें अुदासीन मनुष्यकी जो यह प्रतीति होती है कि ये विषय मेरे वशमें हैं, वह वैराग्य है।

बढ़ती है। फिर विचारशील मनुष्य यह समझता है कि बुढ़ापा, मरण, रोग, प्रिय वियोग और अप्रिय योग — ये पाँच विपत्तियाँ अनिवार्य हैं; कभी न कभी अिनका मुक़ाबला किये विना छुटकारा नहीं होता, और यह सोचकर जब विपत्तियाँ आती हैं तब धीरज नहीं छोड़ता। अिस तरह जो अपने दिलको मजबूत बना रखता है, अैसा कह सकते हैं कि वह वैराग्यवान है।

यह वैराग्य न तो कर्तव्यभ्रष्ट है, न प्रेम-विहीन, और अिसमें पागल जैसा दिखावा करनेकी भी जरूरत नहीं। यह वैराग्य मनका कोअी अैसा आवेग नहीं है कि जिसके अधीन होकर मनुष्य अपने परिजन या परिग्रहको देखकर घबरा जाता हो और हर तरहसे अुनको छोड़नेके लिअे अुतावला हो जाता हो। यदि कर्तव्यके सिलसिलेमें अुसे किसी प्राणीके पालन या पदार्थके परिग्रहकी आवश्यकता हो, तो अुसका अुससे विरोध नहीं; अुसी प्रकार यदि कर्तव्यका पालन करते हुअे अुनका बलिदान करनेकी आवश्यकता हो जाय, तो यह वैराग्य अुसके अनुकूल होता है। वह न त्याग करनेके लिअे अधीर या अुतावला है, और न अुनका वियोग होने पर अुनके लिअे छटपटाता ही है।

२

जगत्‌के साथ सम्बंध

हमारे देशमें अेक गलत कल्पनाने अपना आसन जमा लिया है। वह यह है कि श्रेयार्थी पुरुषको दुनियाके व्यवहारोंसे कोअी सरोकार नहीं। 'जगत् अपना देख लेगा,' या 'जिसने दुनिया बनाअी है वह खुद अुसे सँभाल लेगा,' अिसमें —

"हुं करुं, हुं करुं अे ज अज्ञानता, शकटनो भार जेम श्वान ताणे।"*

अैसी भावनाको दृढ करनेकी तरफ 'श्रेयार्थी' आदमीका झुकाव होता है।

ऋषि-मुनि हमारे देशमें आदर्श पुरुष माने जाते हैं, और वे तो समाजको छोड़कर जंगलमें जा बसते हैं, अैसी हमारी कल्पना है।

अैसी मनोदशाका परिणाम यह होता है कि जिन पुरुषोंके आश्रय अुच्च होते हैं, और अिसलिअे समाजका हित साधनेमें जो सबसे अधिक योग्य होते हैं, अुन्हींके ज्ञान, अनुभव, चरित्र अित्यादिके लाभसे वञ्चित रहनेका दुर्भाग्य समाजको प्राप्त होता है। और जनताको बहुत समयसे पवित्र वृत्तिवाले मनुष्योंका अिस प्रकारका रुख देखनेका अनुभव होनेसे अुसका भी यह खयाल बन गया है कि जो मनुष्य पवित्र वृत्तिवाले हैं, अुन्हें समाजके व्यवहारमें दखल न देना चाहिये। और यदि कोअी मनुष्य अैसा करते हुअे दिखाअी देते हैं, तो अुनके प्रति वह साशंक दृष्टि रखती है।

परन्तु अिस मान्यता पर विचार करनेकी जरूरत है।

प्रश्न यह है कि 'श्रेयार्थी' अथवा सीधी-सादी भाषामें कहें तो तीव्र पवित्र वृत्तिवाला व्यक्ति दूसरे लोगोंके बनिस्बत किस बातमें विशेषता रखता है?

विचारशील और पवित्र वृत्तिवाले मनुष्योंमें हम और लोगोंकी अपेक्षा अधिक निःस्वार्थ भाव, सत्य-प्रियता, न्यायवृत्ति, करुणा, मेहनती स्वभाव

* मैं करता हूँ, मैं करता हूँ यही अज्ञान है, जैसे गाड़ीके नीचे चलनेवाला कुत्ता यह समझता है कि मैं ही गाड़ी खींच रहा हूँ।

आदि गुणोंकी अपेक्षा रखते हैं; और अुनके अिन गुणोंकी अधिकतासे ही संसारमें प्रचलित नीच स्वार्थ, पाखण्ड, अन्याय, निर्दयता, आलस्य आदिसे ज्यादातर वे अूब जाते हैं। अिस तरह अुकताकर वे समाजसे दूर जानेका प्रयत्न करते हैं। 'प्रयत्न करते हैं' अैसा कहता हूँ, क्योंकि सच पूछिये तो समाजका समूचा त्याग तो कोअी कर ही नहीं सकता। यदि हम यह कहें कि जो पुरुष जंगलमें स्वतन्त्र कन्द मूल फलपर रहते हैं, और दिगम्बर रूपमें विचरते हैं, अुन्होंने समाजका त्याग कर दिया है, तो अिस हद तक बहुत ही कम श्रेयार्थी जा सकते हैं। और आगे चलकर हम अिस बातको भी देखेंगे कि अैसा जीवन आत्मोन्नतिके लिअे आदर्श भी नहीं है।

बहुतेरे श्रेयार्थी तो समाजका सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकते। अपने भोजन-वस्त्र और स्थानके लिअे तो अुन्हें बहुत कुछ समाज पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अुनकी यह सारी व्यवस्था चाहे कुटुम्बी करें, मित्र करें या कोअी दानशील सज्जन करें या फिर किसी दानशील गृहस्थके अन्नक्षेत्र, मन्दिर या धर्मशाला करें; परन्तु यह निश्चित है कि समाजके ही किसी भागपर अुनके जीवनका भार पड़ता है। अतअेव जहाँ तक अुनके भरण-पोषणसे सम्बन्ध है, वे समाजका त्याग किसी हालतमें नहीं कर सकते।

तब अिसमें समाजका त्याग, अर्थात् समाज विषयक किस सम्बन्धका त्याग होता है? समाजके साथ अुनका जो स्वार्थ लगा हुआ है अुसका तो नहीं ही, क्योंकि अुनका स्वार्थ तो समाजके द्वारा ही सिद्ध होता है। अच्छा, तो फिर क्या समाजके प्रपंच और कूट-कपट आदिका त्याग होता है? सो भी नहीं; क्योंकि जिस धन आदिसे अुनका निर्वाह होता है, वह किस बुरी तरह प्राप्त होता है अुसे जाननेका अुन्हें मौका ही नहीं मिलता, न अुसकी जाँच ही होती है। तो त्याग होता है सिर्फ समाज सम्बन्धी अुनके खुदके कर्तव्योंका! जिस समाजमें खुद पैदा हुआ व अुसने परवरिश पाअी, थोड़ा-बहुत शिक्षा-लाभ किया और जबतक आसक्ति रही तबतक अुपभोग भी किया, अुसके प्रति अपनी तमाम जिम्मेदारीका,

अुस ऋणको अदा करनेके अपने कर्तव्यका, अपने निजी सुखकी आसक्ति कम हो जाने पर, वह त्याग करता है। जिस प्रकार देनदार अपना देना चुकानेसे अिनकार करता है, लेनदारोंसे जान-पहचान भी कबूल नहीं करता, अुसी प्रकार अिस तरहका श्रेयार्थी कहता है — 'दुनियाके साथ मेरा क्या रिश्ता है? दुनिया खुद अपना निपट लेगी।'

विचार करनेसे मालूम होगा कि कोअी भी व्यक्ति आत्मोन्नतिके अथवा किसी दूसरे बहाने समाजसे सदाके लिअे अलहदा होनेका विचार न्यायपूर्वक नहीं कर सकता। बालक बचपनमें, विद्यार्थी अध्ययन कालमें, अपंग त्रुटि रखने तक, रोगी बीमार रहने तक, और वृद्ध बुढ़ापेमें समाजपर अवलम्बित रहें। परन्तु कोअी व्यक्ति सदाके लिअे समाजसे अलहदा नहीं हो सकता और न तत्सम्बन्धी अपनी जिम्मेदारीसे ही अिनकार कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्तिको और खासकर श्रेयार्थीको यह समझ लेना चाहिये कि व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध यावज्जीवन है। किन्तु हमारे देशमें दुर्भाग्यसे समाज सम्बन्धी अपने ऋणको याद रखनेका संस्कार बहुत क्षीण है। अिसमें फिर श्रेयार्थी प्रज्ञावादके चक्करमें आकर अुस स्वाभाविक ऋणबुद्धिको भी निर्मूल करनेका प्रयत्न करता है, जो समाजके प्रति अुसके प्रेमकी या अुच्च संस्कारकी बदौलत अुसमें मौजूद रहती है। परिणाम यह कि व्यवहारमें साधारण रूपसे श्रेयार्थीका सीधा-सादा अर्थ यह हो गया है कि समाजके खर्च पर, समाज-जीवनसे सम्बन्ध न रखनेवाली अपनी अिसी रम्य कल्पनाके पीछे जीवनका सर्वोत्तम भाग जो खर्च कर डालता है, वह श्रेयार्थी है। अिनमेंसे कुछ श्रेयार्थी तो अैसी रम्य कल्पनाके साथ अेकरस होनेके बाद फिरसे समाजमें आकर मिल भी जाते हैं। परन्तु वे समाज-जीवनको किसी तरह अधिक सरल या सचमुच अुदात्त बनानेके लिअे नहीं, बल्कि दूसरोंको अपनी रम्य कल्पनाका चसका लगाकर अुन्हें अुस विषयमें अुस अंश तक सहज जीवनसे अलग कर देनेके लिअे।

'दुनिया अपना निपट लेगी' — यह भावना मानो जगत्के प्रति अपने ऋणसे अिनकार करना है। अतः यह भावना अन्याय मूलक है

और वह व्यक्ति, जो अपनेको श्रेयार्थी कहलाता है, अैसी वृत्तिको अपनावे तो मुझे नम्रताके साथ कहना होगा कि वह कल्याणमार्गसे गिरता है।

अिसी तरह "जिसने दुनिया बनाअी है, वह अुसे सँभालनेके लिअे मौजूद है ही; अुसमें 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञानता'"—यह विचार भी सदोष है। हम संसारका यह नियम देखते चले आ रहे हैं कि सृष्टिकी रचना और पोषण जगत्के प्राणी और पंच महाभूतोंके द्वारा ही हो सकते हैं। मनुष्य जातिमें या अन्य प्राणियोंमें जो कुछ सुधार, विकास, अुन्नति या सुखसाधन बढ़े हैं, वे सब अुच्चाभिलाषी पुरुषोंके पुरुषार्थ द्वारा ही हुअे हैं। जगत्को 'रचने या सँभालनेवाला' मनुष्य जातिका श्रेय बारिशकी तरह आकाशसे नहीं बरस पड़ता। अिसलिअे अैसे श्रेयार्थी पुरुषमें तो साधारण लोगोंकी अपेक्षा भी अधिक तीव्रतासे यह जाननेकी अभिलाषा होनी चाहिये कि अैसे श्रेयकी वृद्धिमें अुसका किस तरह अुपयोग हो सकता है। हाँ, यदि अपनेसे कोअी अैसा काम बन पड़े, तो अुसके अहंकारसे अपनेको बचानेके लिअे वह 'मैं करूँ मैं करूँ, यही अज्ञानता' अिस वचनका सहारा ले, और जो कुछ हुआ है अुसका श्रेय अुस 'रचयिता या पोषणकर्त्ता'को दे तो बात दूसरी है। परन्तु यदि वह अपनी जिम्मेदारीसे बचनेके लिअे अिस सूत्रका सहारा या बहाना ले, तो अिसमें दोष है। और समझना चाहिये कि अुस अंश तक अुसकी श्रेयःसाधना विषयक अभिलाषामें भी कमी ही है।

३

अुपाधि

जीवनकी किसी आकांक्षामें असफलता मिलनेसे या दूसरे किसी कारणसे जो व्यक्ति संसारके जंजालसे घबराने लगता है, अपने दैनिक कार्योंको अेक अुपाधि मानने लगता है, अुसको हमारे देशमें अैसा भ्रम होने लगता है कि वह श्रेयार्थी हो गया है, और निर्वासनिक होता जाता है। और अेक बार जहाँ अैसा भास होने लगा कि फिर वह अपने प्रत्येक कार्य व कर्तव्यको माया, अुपाधि या बन्धन आदिके रूपमें देखने लगता है और अुससे पिण्ड छुड़ानेकी ओर प्रवृत्त होता है। समर्थ रामदास जैसोंने भी कह दिया है कि:

— संसारे दुःखवला । त्रिविध तापे पोळला ।

तो चि अेक अधिकारी जाला । परमार्थासि ॥ (दासबोध ३-६-७)

(जो संसारसे दुःखी हुआ है, त्रिविध तापसे दग्ध हुआ है, वही अेक परमार्थका अधिकारी होता है।)

अिससे बहुतेरे श्रेयार्थियोंको ज्यों त्यों करके निरुपाधिक होना, सिर पर किसी प्रकारकी जिम्मेदारीका न होना, चिन्ता न रखना, अिस तरह जीवन बिताना जिससे किसीके साथ संघर्ष या घर्षणमें न आना पड़े, यह आदर्श स्थिति मालूम पड़ती है। और फिर यह निरुपाधिक होनेकी अिच्छा अिस हद तक आगे बढ़ जाती है कि भोजन बनानेकी झंझटसे बचनेके लिअे भिक्षा माँग लेना, कपड़े पहनने व अुन्हें साफ सुथरे रखनेकी आफतके बनिस्बत लँगोटी पहन लेना या दिगम्बर ही रह लेना, अपने रहनेकी जगहको झाड़ू-बुहारा देकर साफ रखना पड़े अुसकी अपेक्षा किसी झाड़-पेड़के नीचे ही पड़े रहना वे बेहतर समझते हैं।

अब यदि किसी दूसरी जगह चित्त लगा हुआ हो, किसी योगाभ्यास या भजन-भक्तिके भावमें चित्त रंग गया हो, और अुतने समयके लिअे मनुष्य निरुपाधिकता चाहे तो यह जुदी बात है। किन्तु वहाँ भी यह विचार तो करना ही पड़ेगा कि अिस निरुपाधिकताकी हद क्या होनी

चाहिये, और अैसे रंगमें कहाँ तक रंग जाना अुचित है। परन्तु अभी यहाँ अिसका विचार नहीं करेंगे। यहाँ तो सिर्फ अुन्हीं लोगोंकी कल्पनाका विचार किया जायगा, जो यह समझ बैठे हैं कि अैसी स्थिति ही जीवनका वास्तविक ध्येय है।

कर्मप्रवृत्ति व ज्ञानमें शंकराचार्यने रात और दिन जैसा विरोध माना है और अपना यह मत प्रदर्शित किया है कि ज्ञानी पुरुषसे कर्मप्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।

अेक समय था जब कि 'कर्म' शब्दसे कामनार्थ किये जानेवाले यज्ञ-यागादि कर्म ही समझे जाते थे। सम्भव है कि शंकराचार्यने अिसी अर्थमें 'कर्म' या 'प्रवृत्ति' शब्दोंका प्रयोग किया हो। और यदि अैसा ही हो, तो अुनका कथन समझमें आ सकता है। किन्तु अिसके विपरीत अुनके भाष्यों तथा कितने ही स्तोत्रोंसे यह भी सूचित होता है कि ज्ञानीको सभी सामाजिक कर्तव्योंसे दूर रहना चाहिये और भिक्षा माँगनेके अुपरान्त हर तरह निष्क्रिय रहना चाहिये। यदि सचमुच अुनका यही अुपदेश हो, तो मुझे नम्रतापूर्वक कहना होगा कि वह भ्रमपूर्ण है। खुद अुनका जीवन तथा दिग्विजयके लिअे, अपनी दृष्टिके अनुसार हिन्दू-धर्मकी पुनःस्थापनाके लिअे, चारों दिशाओंमें मठोंकी स्थापनाके लिअे, और अद्वैत वेदान्तके समर्थनके लिअे अुन्होंने जो कुछ परिश्रम किया वह सब अिस अुपदेशका विरोधी है। ये प्रवृत्तियाँ यदि अुनके द्वारा समत्व भावसे और अनासक्ति पूर्वक हुअी हों, तो नहीं कह सकते कि अुसमें कुछ बुराअी थी।

यदि 'मुक्ति' सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थका फल हो, तो यह स्पष्ट ही है कि अुसे प्राप्त करनेमें अधिकसे अधिक श्रम और अुपाधि होगी ही। जो व्यक्ति श्रम, अुपाधि, जंजाल, झंझटसे पीछा छुड़ाना चाहता हो, वह अुस फलका अधिकारी हो ही नहीं सकता। अत्यन्त आशावान, धीर, और निश्चयी व्यक्ति ही अिस मार्गमें कदम बढ़ा सकता है। जो व्यक्ति निराश हो गया है, और अिसलिअे अपनी धीरज खो बैठा है, वह अैसे निर्णय पर अधिक समय तक टिक ही नहीं सकता कि 'मैं मुक्त हूँ — स्वतन्त्र हूँ — मेरे स्वरूपभूत तत्व पर सत्ता चलाने वाला दूसरा कोअी तत्व संसारमें है ही नहीं।'

जीवनका मार्ग सरल नहीं है। प्रत्येक कार्यमें कुछ न कुछ विघ्न पैदा होते ही रहते हैं। छोटी बड़ी विपत्तियाँ आया ही करती हैं। अैसे समयमें वे सब विकार — हर्ष-शोक, काम-क्रोध, आदि — जिन्हें हम जीतना चाहते हैं, प्रकट हो आते हैं। परन्तु अुनसे घबराकर यह कहना कि ‘अुपाधियोंसे छूटो’ गलत है।

कुछ लोगोंको दूसरोंकी लड़ाअियाँ भी अपने सिर ले लेनेका शौक होता है। अिसकी हमेशा जरूरत नहीं है। परन्तु खुद जिस समाजमें और जिन परिस्थितियोंमें जन्मा है और कुछ समय तक अपनी खुशीसे रहा है, अुस समाजके प्रति अपने कर्तव्यभारको कोअी विचारशील व्यक्ति नहीं छोड़ सकता। अपने देश, काल, वय, वित्त, जाति, शील, संस्कार, शिक्षण आदिका विचार करके जिस जिस प्रकारके कर्मोंकी सहज अपेक्षा रखी जा सकती है, और जिन कर्मोंको टालनेसे अुसके आसपासके समाजको संकटग्रस्त रहना पड़ता हो, अुन कर्मोंको, अुनमें आनेवाली अुपाधियोंको, विघ्नोंको, तथा कष्टोंको वह टाल नहीं सकता। हाँ, वह अुन कर्मोंकी न्याय्या-न्याय्यता और धर्म्याधर्म्यता जरूर देखे। अुनकी सिद्धिकी शक्याशक्यताका खयाल भी जरूर करे। अपनी योग्यताका विचार करे, अन्य कर्तव्योंकी तुलनामें अुसका स्थान देखे, अुसके अमलमें निःस्वार्थता, प्रामाणिकता, अुदारता, समाजकी रूढ़ रुचि-अरुचिसे विलगता या परता और चित्तकी समतोलता रखने तथा कुशलता दिखानेके लिअे जितना हो सकता है प्रयत्न करे, विकाराधीन न होनेकी सावधानी रखे, असफलताकी दशामें धैर्य और हिम्मत रखे। अैसे प्रयत्नोंमें अुसकी श्रेयःसाधना — ‘मुमुक्षुता’ — समाअी रहती है। कर्मके त्यागसे या अुसका आरम्भ ही न करनेसे सिद्धि नहीं मिलती।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३–४)*

* कर्मका आरम्भ ही न करनेसे पुरुषको निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती। न अुसके त्यागसे ही सिद्धि मिलती है।

४

संन्यास

जिस जमानेमें कर्मकाण्डकी या अुपनयनादि संस्कारोंकी विधियोंको अितना महत्त्व दिया जाता था कि जो मनुष्य अुनका पालन न करे, वह समाजमें निन्दा या दण्डका पात्र माना जाता था, अुस जमानेमें जो व्यक्ति यह समझता हो कि ये कर्मकाण्ड जीवनके वास्तविक ध्येयकी प्राप्तिके लिअे निरर्थक या बाधक भी हैं और अिसलिअे अुनके पालन करनेमें अुसे श्रद्धा न हो, अुसे समाजसे अलग होनेका अुपाय निकालनेकी जरूरत थी। अिससे अुस समाजको, जो कर्मकाण्डके यथाविधि पालनको ही महत्त्व देता हो, तथा अुस व्यक्तिको भी सुविधा होती थी। अिस तरह संन्यासी अपनेको समाजके बाहर रखकर अपना मार्ग सरल कर लेता था और समाजको भी अपने सनातन पथ पर चलनेमें दिक्कत नहीं होती थी। अिस दृष्टिसे कह सकते हैं कि संन्यासमार्ग हमारे देशमें अेक समय आवश्यक था।

परन्तु आज तो जमाना बदल गया है। आज शिखा-सूत्र धारणका या दूसरे संस्कारोंकी विधियोंका या कर्मकाण्डके पालनका या पंक्ति-भोजनका अितना महत्व नहीं रहा है कि संन्यास लिये बगैर अुनका त्याग नहीं किया जा सकता। बल्कि आज तो संन्यासकी प्रथा सत्यकी अुपासनाके अेक महत्वपूर्ण साधनको रोकनेमें कारणीभूत हुअी है। क्योंकि वह 'श्रेयार्थीका समाजसे कोअी नाता नहीं' अैसे संस्कारको दृढ़ कराती है, तथा अनावश्यक या असत्य भासित होनेवाली रूढ़ियोंको तोड़कर समाजको आघात पहुँचाने तथा समाजका दण्ड सहन करके भी समाजमें रहकर सारे समाजको आगे बढ़ानेका कर्तव्य टालती है।

मनुष्य जिसे सत्य समझता है, अुस मार्ग पर समाजसे अलग रहकर चले, और यह समझावे कि सत्यशोधकको समाजसे दूर रहकर ही सत्यके मार्ग पर चलना चाहिये, तो अिस सत्याचरणसे समाजको कोअी लाभ नहीं हो सकता। जिस प्रकार लोग व्यक्तिगत या खानगी तौर पर

होनेवाले दुराचारकी अुपेक्षा करते हैं, अुसी तरह अैसे सदाचारकी भी अुपेक्षा कर देते हैं — और अपने मार्गपर चलते रहते हैं। अिससे समाजकी पुरातनता तो रक्षित रहती है, परन्तु प्रगति रुक जाती है।

गेरुअे वस्त्रोंका पहनना और नाम परिवर्तन करना ये संन्यास ग्रहण करनेके बाह्य चिह्न हैं। षोडश संस्कारोंका तथा होमादिकका त्याग अुसका अेक अुद्देश है। किन्तु पूर्वोक्त कारणोंसे, अिस अुद्देशके लिअे वेषान्तर या नामान्तर करनेका कोअी अुचित या सबल कारण नहीं है। फिर संन्यासकी बदौलत जो जीवन परिवर्तन होता है, तथा आम तौरपर संन्यासीमें चारित्र्यकी विशेष पवित्रताका जो दर्शन बारम्बार होता है, अुससे अिस आश्रम तथा अिस वेषके प्रति लोगोंमें आदरभाव बना है और यह आदरका संस्कार अितना बलवान हो गया है कि बहुतेरे श्रेयार्थियोंको अिस काषाय वेषका आकर्षण हुआ करता है।

बुद्धिमें तो लगभग सभी अिस बातको मानते हैं कि अैसा नहीं कि गेरुअे वस्त्रमें ही पवित्रताका निवास है, या अुसके बिना ज्ञान अथवा शान्तिकी प्राप्ति असम्भव है या अेक सुन्दर भावपूर्ण नाम धारण कर लेनेसे चित्त भी शुद्ध व सुन्दर हो जाता है। काषाय वेष, दण्ड-कमण्डलु, व ब्रह्मवाचक नाम धारण करनेवालोंमें भी पामरता रह सकती है और संसारी लोगोंके नाम रखनेवालोंमें पवित्रताका रहना अशक्य नहीं है। फिर भी बहुत समयके संस्कारसे नाम और वेषने अेक प्रकारका अैसा जादू पैदा कर रखा है कि लगभग प्रत्येक पवित्र वृत्तिवाले आर्यके मनमें यह भाव आता ही रहता है कि संन्यास लिये बिना जीवन अधूरा रह जाता है।

नाम व वेषके प्रति यह आदर आज अप्रासंगिक ही है। लोग अिसकी अन्धपूजा करनेके आदी हो गये हैं और अिसका फल यह हुआ है कि अपनी मनुष्यताके कारण जो पूजाके पात्र नहीं हैं अैसे लोग भी कपड़ा रंगकर पूज्य बन जाते हैं। जो पुरुष वास्तविक पवित्र वृत्ति रखते हैं, अुनके लिअे अुसका अुपयोग नहीं। और पाखण्डी पुरुषोंके लिअे वह अेक अनुकूल साधन बन जाता है।

जो सच्चा साधक होता है वह आदर-मानसे दूर भागता है। अपनी योग्यतासे अधिक आदर मिलनेसे खिन्न होता है। अतअेव जब वह देखता है कि अुसका आदर महज अुसके कपड़ेके रंगकी बदौलत ही होता है, तो वह रंग अुसे अप्रिय लगना चाहिये।

अिन सब कारणोंसे श्रेयकी अिच्छा रखनेवाले पुरुषोंको — खास कर अुन्हें जो कर्ममार्गको ही स्वाभाविक साधनमार्ग समझते हैं — संन्यास 'धारण करने'का मोह अब छोड़ना चाहिये। गेरुआ पहनकर व नाम बदलकर जीवनपरिवर्तन करनेकी रूढ़िको कायम रखनेका अब कोअी कारण नहीं रहा। और जिस बातके लिअे अुचित कारण नहीं रहता, अुसे कायम रखनेसे हानि ही होती है।

गलतफहमी न हो अिसलिअे मैं फिर स्पष्ट कर देता हूँ कि संन्यासके मूलमें रही हुअी त्याग, अपरिग्रह, सादगी, अनासक्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, शान्ति, नम्रता तथा तप और आत्मज्ञानके लिअे व्याकुलता आदि वृत्तियोंका मैं निषेध नहीं करता हूँ। अिन पर तो मैं जोर देना चाहता हूँ। लेकिन अिसके लिअे संन्यासीके नामवेशकी जरूरत नहीं है।

५

भिक्षा

बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, स्वामी रामदास, आदिने श्रेयार्थके लिअे जीवन-निर्वाहके साधनके रूपमें भिक्षावृत्तिको स्वीकार किया है; यही नहीं, बल्कि कअी लोगोंने तो अुसकी खूब महिमा भी गाअी है । अुपनिषद्में भी अुसके लिअे आधार मिलता है ।

अुद्यम करके अपनी जीविका न चलाना, बल्कि समाजसे पेट-पूर्तिके लिये माँग लेना और अिस तरह जो कुछ मिल जाय अुसी पर सन्तोष मान लेनेकी आदत डाल लेना, श्रेयःसाधनका अेक अंग माना गया है ।

जिस जमानेमें यह प्रथा शुरू हुअी अुसमें कदाचित् अुसकी आवश्यकताके प्रबल कारण रहे होंगे, अथवा यही अुपाय अुन्हें दिखाअी दिये होंगे । अुसके अितिहासमें जानेकी यहाँ जरूरत नहीं है । किन्तु आजके जमानेमें श्रेयार्थीके लिअे भीख माँगकर जीवन बितानेका विचार अनुचित है । अुसमें अुसका या समाजका कोअी हित नहीं है ।

अेक साधारण नियमके तौर पर यदि साधक यह विचार करे कि मैं जिस तरह हर छोटी-बड़ी बातमें अपना जीवन बिताता हूँ अुसी तरह यदि कोअी व्यक्ति, जो मेरे अितना विचारशील नहीं है, या कोअी आलसी या जड़ मनुष्य, या समाजका अेक बड़ा भाग अपना जीवन बिताने लगे, तो अुससे अुस व्यक्ति या समाजका हित होगा या अहित, — तो यह समझनेमें जरा भी देर न लगेगी कि भिक्षावृत्ति वर्तमान युगमें त्याज्य ही है ।

प्रत्येक देशमें बालकों, स्त्री-वर्गका कुछ भाग, वृद्धों और अपंगोंका पालन-पोषण दूसरोंको करना ही पड़ता है । फिर कितने ही लोग अैसे होते हैं, जो दूसरोंको चूसकर वाजिबसे अधिक पोषण अपने लिअे प्राप्त कर लेते हैं । पहली बात तो लाजिमी है, किन्तु दूसरी अनिवार्य न होने पर भी अैसी है जो आसानीसे दूर नहीं की जा सकती । अैसी स्थितिमें अुन लोगों पर, जो अुद्यम कर सकते हैं, यह कर्तव्य आ पड़ता है कि वे

अितनी कमाअी कर लें जिससे कि पहले (आश्रित) वर्गका पोषण हो जाय और जबतक दूसरे (शोषक) वर्गके अन्यायको दूर न किया जा सके तबतक अुनके शोषणके बावजूद अपना गुजर हो सके। अिसके अलावा अुन्हें राष्ट्रके निर्वाहकी तथा सामाजिक कार्योंको चलानेकी भी जिम्मेदारी अुठानी पड़ती है। अिस कारण अेक अैसे वर्गका निर्वाह अिनके अुद्यमके द्वारा होता है, जो सीधे तौर पर अुत्पादक श्रम नहीं करता।

अिनके अतिरिक्त हमारे देशमें ब्राह्मण, भाट-चारण, आदि जातियोंका भिक्षा ही अेक सम्मानयुक्त पेशा हो गया है। साधु-संन्यासी भी अुद्यम करनेमें धर्मभ्रष्टता समझते हैं; यद्यपि अिसके फलस्वरूप जो सुविधायें अुन्हें मिलती है, अुन्हें ग्रहण करना अधर्म नहीं समझा जाता।

वर्तमान कालमें अिन भावनाओंको पुष्ट करना निश्चित रूपसे अधर्म है। फिर यह भी देखनेमें नहीं आता कि जो व्यक्ति भिक्षा पर अवलम्बित रहता है, वह सर्वथा अपरिग्रही ही रहता है। शंकराचार्यने तो कहा है कि — "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः",* परन्तु हम देखते यह हैं कि कौपीन धारी भी अुसी अर्थमें भाग्यशाली बननेका प्रयत्न करते हैं, जिस अर्थमें आमलोग अपनेको भाग्यशाली समझते हैं।

पिछले प्रकरणोंमें अबतक जो कुछ विवेचन किया गया है, समाजके प्रति व्यक्तिका जो कुछ ऋण सम्बन्ध पहले बताया गया है, अुससे यह अितना स्पष्ट है कि मुझे यहाँ विस्तारसे लिखनेकी कोअी आवश्यकता नहीं है। जो अपना अभ्युदय चाहते हैं, अुनके लिअे भिक्षाका आश्रय लेना मैं पाप समझता हूँ।

अिसका अर्थ कोअी यह न लगावे कि श्रेयार्थी केवल अुत्पादक श्रम ही किया करे, या खूब कमानेमें ही मशगूल रहे, या अेक बार ज्यों त्यों करके खूब धन-दौलत जमा कर ले और फिर जिसे वह श्रेयःसाधन समझता हो अुसमें जुट जाय, या वह किसी मित्रसे कभी सहायता न ले।

यदि वह केवल अुत्पादक श्रम ही करे, तो अिसमें कोअी बुराअी नहीं। परन्तु यदि वह अैसा न कर सके, तो भी वह समाज-जीवनके धारण-पोषण या सत्व संशुद्धिके लिअे आवश्यक किसी भी कार्यको न्याय्य

---

* कौपीन (लंगोटी) धारी ही सच्चे भाग्यवान् हैं।

रीतिसे करते हुअे अुसके द्वारा अपने लिअे न्याय्य आजीविका प्राप्त कर सकता है। हाँ, अुद्यम करते हुअे भी न्यायसे अधिक अुसका बदला न प्राप्त करना, जान-बूझकर गरीब रहना अवश्य अुसके लिअे श्रेय:साधक है।

यदि कोअी यह सोचने लगे कि मैं दिनभर काम करके महीनेमें अेक हजार रुपया कमा लेता हूँ, और मेरे लिअे १००) बस हैं, तो मैं १ घण्टा काम करके १००) ले लूँगा और शेष समय अपनी किसी साधनामें लगाअूँगा, तो यह निश्चयपूर्वक गरीबी तो है, किन्तु न्यायोचित नहीं है। क्योंकि १ घण्टा काम करके १००) प्राप्त करनेकी जो अनुकूलता है, वह न्याय्य परिस्थितिका परिणाम नहीं है।

परन्तु सारा दिन काम करते हुअे भी सौ ही रुपये लेनेकी सीमा (स्टैण्डर्ड) रखना अपेक्षाकृत न्यायोचित बदला और संकल्पपूर्वक स्वीकृत गरीबी है। जीवनके लिअे अैसी अेक सीमा (स्टैण्डर्ड) बनाना खुद ही अेक प्रकारका श्रेय:साधन है।

कभी अैसी परिस्थिति भी आ सकती है कि मनुष्यको किसी शुभ व हितकर हेतुकी सिद्धिके लिअे अपना जीवन अिस तरह रचना पड़े कि वह अपनी गुजर भी न कर सके। अैसे समयमें निजी मित्रोंकी सहायता लेना ही अेक सभ्य मार्ग हो सकता है। किन्तु अैसी सहायता भी अुतने ही समय तक ली जा सकती है, जबतक अुस अुद्देश्यकी सिद्धिके लिअे वह आवश्यक हो। अिस प्रकार ही जीवन बिताना जीवनका नियम नहीं बना सकते। क्योंकि दूसरों पर अवलम्बित रहना साधनाका अंग नहीं है, बल्कि हेतु-सिद्धिके लिअे अुत्पन्न अेक विशेष परिस्थिति मात्र है।

भिक्षाके पक्षमें ये दलीलें पेश की जाती हैं कि भीख माँगनेसे या दूसरोंकी धर्म-भावना पर जीवनका अवलम्बन रहनेसे साधकमें नम्रता रहती है, समाजके प्रति आदर-भाव रहता है, आदि। परन्तु अिनमें आत्म-प्रतारणा है। नम्रता या समाजके प्रति आदर तो भिक्षावृत्तिके बिना भी विवेकी पुरुषमें आ सकता है; और भिक्षुओंमें ये गुण अवश्य ही पाये जाते हैं, अैसा देखनेमें नहीं आता। बल्कि अिससे बहुत अनर्थ हुआ है, निरभिमानताके नाम पर अधमता, क्षुद्रता, कृपणता आदि दोषोंका पोषण हुआ है। अतः श्रेयार्थीके लिअे यह त्याज्य ही है।

६

अपरिग्रह

कुत्ता रोटी, हड्डियाँ आदि भविष्यके अुपयोगके लिअे रख छोड़ता है। दूसरे कोअी बड़े प्राणी, टोलियाँ बना कर रहते हैं तो भी, किसी किस्मका परिग्रह करते हुअे दिखाअी नहीं देते। चींटी, दीमक और मधुमक्खियाँ भोजन-सामग्रीका संग्रह खूब करती हैं। दूसरे सूक्ष्म जीव अैसा परिग्रह करते हुअे जान नहीं पड़ते। परन्तु मनुष्य विविध प्रकारका व अधिकसे अधिक संग्रह करनेवाला प्राणी है।

संसारके अनुभवी व वृद्ध पुरुष कहते हैं कि जीवधारियों पर बुढ़ापा, रोग, दुर्भिक्ष, अकाल, मृत्यु आदि आपत्तियाँ अेकाअेक आ जाती हैं। अैसे समय मनुष्यके लिअे निर्वाहके साधन प्राप्त करना कठिन होता है। पहलेसे ही अिन आपत्तियोंका विचार करके जो धन-धान्यादिका संग्रह कर रखते हैं वे तथा अुनके परिवारके लोग दुःखके दिन काट सकते हैं, किन्तु जो अैसी दीर्घ दृष्टिका परिचय नहीं देते वे बहुत दुःख पाते हैं और कभी कभी तो समूल नाशको भी प्राप्त हो जाते हैं। फिर परिग्रही चींटियों, दीमक व मधुमक्खियोंके निवासोंमें जितनी प्रजा-वृद्धि दिखाअी देती है और कायम रहती है, अुतनी किसी भी दूसरे जीव-जन्तु या प्राणीमें न तो दिखाअी देती है और न टिकती है। अिन्हीं जन्तुओंकी बस्ती बारह मास रहती है। मनुष्योंके सम्बन्धमें भी अैसा ही अनुभव है। अिसीलिअे व्यास व विदुर जैसे ज्ञानियोंने भी धर्मपूर्वक अर्थ-संग्रह करनेका अुपदेश दिया है। वे कहते हैं कि बुद्धिमान् मनुष्यको दिनमें अिस तरह रहना चाहिये कि जिसमें रातको निश्चिन्त होकर सो सके; चौमासेमें अिस तरह रहना चाहिये कि जिससे आठ महीने सुखसे खा-पी सके; जवानीमें अिस तरह रहना चाहिये कि जिससे बुढ़ापेमें आराम पा सके। संक्षेपमें भविष्यकालकी चिन्ता रखनेकी सलाह अुन्होंने दी है।

अिसके विपरीत सन्तोंने अपरिग्रहका अुपदेश किया है। पंच महाव्रतोंमें अिसकी गणना है।

"अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका यों कहे, सबके दाता राम॥"

अैसे अुद्‌गार सभी देशोंके सन्तोंकी वाणीमें मिलेंगे। बुद्ध, महावीर, अीसा और मुहम्मद चारों धर्म-प्रवर्तकोंने अपरिग्रह पर जोर दिया है। ब्रह्मचर्यके साथ अपरिग्रहव्रतके तीव्र पालनके कारण ही किसी नव प्रचलित पन्थके साधु जन-साधारणके आदरपात्र हो जाते हैं, और पुराने पंथोंमें परिग्रह बढ़ जानेसे ही मलिनता और निर्वीर्यता घुसी हुअी तथा अुनकी प्रतिष्ठा घटी हुअी मालूम पड़ती है।

अिस तरह अेक ओरसे सन्तोंने अपरिग्रहकी महिमा गायी है और अुसपर चलनेका प्रबल प्रयत्न किया है, तो दूसरी ओरसे संसारके अनुभवी लोग समझते हैं कि परिग्रह वृत्तिमें बुद्धिमानी है।

फिर यह नहीं देखा जाता है कि किसी भी पन्थमें अपरिग्रही रहनेका कठोर आग्रह अधिक समय तक कायम रहा हो। दिगम्बर साधुओंकी जमातें, यह मत रखते हुअे भी कि बदन पर लँगोटी तक न रखना चाहिये, दूसरा अपार परिग्रह रखती हुअी दिखाअी देती हैं। अिस तरह परिग्रहकी वासना अथवा अुसकी अुपयोगिताके प्रति श्रद्धा मनुष्य स्वभावमें अितनी गहरी जड़ डाल चुकी है कि कोअी भी मनुष्य आगेपीछे अुसके प्रयत्नमें फँसे बिना रह नहीं सकता।

अिस कारण यह सवाल पैदा होता है कि अपरिग्रहका सिद्धान्त सच्चा है या परिग्रहका। अिस सम्बन्धमें मेरी राय अिस प्रकार है:

पहले तो परिग्रह और स्वामित्वके बीच भेद समझ लेना अुचित है। किसी चीजको जुटाना व अुसे सम्भालकर रखना और जब जिसे अुसकी जरूरत हो तब अुसे अुसका अुपभोग करने देना — यह परिग्रह है; किन्तु अिसके साथ मुमकिन है कि निजी स्वामित्वका दावा न हो।

परन्तु मनुष्य आम तौर पर सिर्फ अिसी दृष्टिसे परिग्रह नहीं करता। किसी वस्तुका संग्रह वह महज़ अुसे सँभाल रखनेके लिअे ही नहीं करता, बल्कि अुस पर वह अपने स्वामित्वका भी दावा करता है। अर्थात् वह खुद ही भविष्यमें अुसका अुपभोग करना चाहता है या अपने ही लोगोंको करने देना चाहता है। अिसके अलावा यदि दूसरे कोअी लोग विपत्तिमें

पड़े हों और अुस समय वे अुसका अुपयोग करना चाहें, तो भी वह अुन्हें रोकनेका भरसक प्रयत्न करता है। यह स्वामित्व चाहे किसी व्यक्तिका हो, कुटुम्बका हो या किसी संस्था अथवा वर्गका हो, अिन सबमें पदार्थके केवल संग्रह और रक्षणका भाव नहीं है बल्कि स्वामित्वका भी भाव या दावा है। दूसरे शब्दोंमें आप-पर भाव है, पक्षापक्ष है और विषम दृष्टि है। और जिस अंश तक यह सब है, अुस अंश तक अुसमें अीश्वरके प्रति अश्रद्धा भी है।

अिस प्रकार अेक मालिकाना हक रखनेका नतीजा यह होता है कि 'धनाढ्यके यहाँ तो आवश्यक चीजें भरी रहती हैं, पड़ी पड़ी सड़ा करती हैं, किन्तु अुन्हींके अभावमें दूसरे करोड़ों लोग बेहाल रहते हैं, भूख और जाड़ेमें मरते हैं . . . करोड़पति अरबपति बनना चाहता है, तो भी अुसे सन्तोष नहीं होता। अिधर कंगाल करोड़पति होना चाहता है; कंगालको पेटपुरता ही मिलनेसे सन्तोष होता दिखाअी नहीं देता। . . . '*

अिसके बाद, जैसा कि हमने स्वामित्व व परिग्रह-सम्बन्धी भेदको देखा, वैसे ही हमें परिग्रहके प्रकार-भेदको भी समझ लेना चाहिये।

खानेपीनेके पदार्थ, अींधन, स्याही, पेन्सिल, साबुन, दन्तमंजन, आदिका संग्रह अेक प्रकारका है। ये पदार्थ अैसे हैं कि यों ये भले ही बहुत दिनों तक रखे रह सकें, किन्तु जिस दिन अिन्हें अिस्तेमाल करेंगे अुसी दिन अिनका कुछ भाग सदाके लिअे कम हो जाता है। अेक रोटी अेक ही बार खाअी जा सकती है, अेक साबुनकी टिकिया अेक बार घिस गयी, सो घिस ही गयी। ये सब चीजें अेक ही बारमें खतम हो जानेवाली हैं। यह संग्रहणीय पदार्थोंका अेक प्रकार हुआ।

घर, साज-सामान, कपड़ा-लत्ता, बरतन-भाँड़े, हल-चरखा आदि औजार, गहने, पुस्तकें आदि वस्तुयें अैसी हैं जो अिस्तेमाल करनेसे घिसती तो जरूर हैं, परन्तु वह घसारा धीमा होता है और सारे पदार्थ पर फैला हुआ होता है। अिससे ये चीजें लगभग समूची ही अेक साथ काम आती हैं, व अेक ही साथ घिसी भी जाती है। अतः वे अेक ही

* गांधीजीके 'मंगल प्रभात'के अपरिग्रह नामक प्रकरणसे।

बार नहीं, बल्कि बर्षों तक काम आती रहती हैं। हम चाहे परिग्रहके सिद्धान्तको मानते हों, चाहे अपरिग्रहका व्रत धारण किये हों, यदि अैसे पदार्थोंके विषयमें हमारी आदतें निश्चित हो गअी हों, तो अुनके सम्बन्धमें हमारी नीति अेक ही रहती है; और वह यह कि ये पदार्थ जिस तरह ज्यादा समय तक अच्छी हालतमें रखे जा सकें वैसे रखकर सावधानीसे अुनका अुपयोग करना। घरोंमें और संस्थाओंमें भी कुछ लोग अैसे होते हैं कि जो चीज वे अिस्तेमालके लिअे लेते हैं, अुसे फिर सँभालकर अुसकी जगह नहीं रखते। अिस आदतको हम अच्छी नहीं समझते, बल्कि लापरवाही कहते हैं। सब बड़े-बूढ़े अुन्हें अैसी आदतोंके लिअे टोका करते हैं। बड़े बड़े सन्त भी, जो अपरिग्रह व्रतका पालन बड़ी कठोरतासे करते हैं, अिस आदतको बुरी ही कहते हैं। अिस्लाममें कहीं पढ़ा है कि हजरत मुहम्मदने अिस बात पर बड़ा जोर दिया है कि चीजोंका अुपयोग हाथ रोककर ही करना चाहिये। दूसरी तरफसे अपरिग्रह व्रतका आदर्श अिस्लाममें जिस तरह वर्णित है, अुस तरह दूसरे धर्मोंमें शायद ही हो। अिस विषयका अधिक विचार आगे किया जायगा।

अब तीसरे प्रकारके संग्रहका विचार करें। सोना, चाँदी आदि धातुओं तथा हीरा, माणिक आदिका संग्रह तीसरे प्रकारका परिग्रह है। वर्षों तक पड़े रहकर भी ये पदार्थ बहुत कम काममें लाये जाते हैं। गहने, बरतन या औजारोंके रूपमें ही ये काममें आ सकते हैं। किन्तु ये चीजें पड़े पड़े बिगड़ती नहीं। अिससे जहाँ मालिकाना हक मान लिया जाता है, वहाँ ये भी मूल्यवान् हो जाती हैं। फर्ज कीजिये कि मेरे पास १० मन अनाज है। मैं समझता हूँ कि शायद मुझे अुसकी जरूरत न पड़े। अिसे मैं अपनी निजी सम्पत्ति समझता हूँ। आपको अिस गल्लेकी जरूरत है। लेकिन आपके पास सोना-चाँदीका संग्रह है। अुसे आप भी अपनी निजकी चीज समझते हैं। मेरा संग्रह आपके संग्रहकी अपेक्षा अधिक नाशवान् है। यदि मैं अपने गल्लेको न निकाल डालूँ, तो अुसके खराब हो जानेका अन्देशा है। अब यदि स्वामित्वका खयाल मेरे मनमें न हो, तो मैं आपसे कहूँगा कि मेरा यह अनाज खराब हो जायगा। फिर या तो मुझे वह जलाना पड़ेगा, या फेंकना

या गाड़ना पड़ेगा। अतअेव यदि आप अिसे ले जावें, तो मुझ पर बड़ी मेहरबानी होगी। परन्तु चूँकि मुझमें स्वामित्वका भाव है, मैं अैसा नहीं करता। बल्कि मैं कहता हूँ कि यह अनाज मेरा है, कोअी अिसे छू नहीं सकता। अगर मैं अिसकी सँभाल नहीं कर सका, तो मैं अिसे जला डालूँगा, या जमीनमें गाड़ दूँगा। यदि आपको अिसकी जरूरत है तो आप अपना सोना-चाँदी अिसके बदलेमें दीजिये तो मैं सोचूँगा। क्योंकि आप खुद भी अैसे ही मालिकाना हकको मानते हैं, अिससे मेरी अिस बातमें आपको कोअी अनौचित्य नहीं दिखाअी देता।

अिस तरह यह स्थिति संसार-व्यवहारका नियम बन गअी है। यदि स्वामित्वका अधिकार और अुससे अुत्पन्न देन-लेनका व्यवहार न हो, लेकिन सिर्फ परिग्रह या संग्रहकी ही भावना हो तो मनुष्य घर, अनाज, कपड़े, बरतन आदिको सँभालकर रखें, अेहतियातसे काममें लें और जो ज्यादा हो अुसे बिगड़ने न दें। फिर भी सोना-चाँदी या सिक्के या पार्टोंसे भण्डार नहीं भरेंगे। देन-लेनके व्यवहारके बिना अिन चीजोंकी खपत बहुत कम — गहने, बरतन या औजारोंके लिअे — ही होती है। और गहने आदि चाहे कितने ही बनाये जायँ, पर अुनकी अेक सीमा तो होगी ही।

अिस प्रकार परिग्रहमें दो भाव मिले हुअे हैं; भविष्यकी आवश्यकताके लिअे संग्रह और हिफाजत, तथा स्वामित्वका हक। श्रेयार्थीकी दृष्टिसे अिन दोनोंमें भेद रहता है।

अब अेक और दृष्टिसे भी हमें परिग्रहका विचार करनेकी आवश्यकता है।

अूपर जो परिग्रहके प्रकार बताये हैं, वे थोड़े या ज्यादा समयमें नष्ट हो जानेवाली किन्तु बाह्य सम्पत्तिके ही हैं। वह सम्पत्ति अैसी है कि परिग्रही स्वयं अुसका अुपभोग न कर सके, तो दूसरे कर सकते हैं। परिग्रही यदि मर जाय तो अुससे परिग्रहका नाश नहीं हो जाता।

किन्तु अिस बाह्य सम्पत्तिके अलावा मनुष्यके पास दूसरी स्वाधीन सम्पत्ति भी होती है; और वह भी अुसके निर्वाह-साधनमें अुतनी ही सहायक होती है, जितनी कि बाह्य सम्पत्ति। यह है अुसका शारीरिक बल, बुद्धि, विद्या, चारित्र्य आदि। अैसी कोअी भी विशेषता जिसके

पास होती है, अुसे अुस अंश तक बाह्य सम्पत्तिके संग्रहका महत्व कम मालूम होता है और यह विश्वास तथा निश्चिन्तता रहती है कि मेरा निर्वाह किसी तरह हो ही जायगा। अेक तरहसे यह सम्पत्ति सोना-चाँदीके संग्रह जैसी है, क्योंकि यह खाद्य वस्तु नहीं है परन्तु अिसके द्वारा खाद्य वस्तु मिल सकती है। दूसरी दृष्टिसे अुसका महत्त्व सोने चाँदीके भण्डारोंसे भी बहुत ज्यादा है; क्योंकि यह बाहरी वस्तु नहीं है, न चोरी जा सकती है, न अुपभोगसे कम ही होती है। तीसरी बात यह कि यह खुद अपने ही काममें आ सकती है, वारिसोंको या दूसरोंको दी नहीं जा सकती।

अिन सबमें भी चरित्र-धन सबसे अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है। क्योंकि शरीरबल वृद्धावस्था और रोगसे नष्ट हो जाता है, बुद्धिको भी बीमारी लग सकती है, विद्याओंके भूल जाने अथवा जमाना बदलते निरुपयोगी हो जानेकी सम्भावना रहती है; परन्तु चरित्र अिन समस्त आपत्तियोंसे परे है।

अब हम फिर अुन सन्त वचनोंका विचार करें, जिन्होंने अपरिग्रहकी महिमा गायी है।

परिग्रहका निषेध करनेमें और अुस पर प्रहार या कटाक्ष करनेमें सत्पुरुषोंकी भूमिका अेक-सी नहीं दिखाअी देती। कहीं अुन्होंने परिग्रहके नाम पर सिर्फ स्वामित्वकी भावनाका ही निषेध करना चाहा है। कभी कभी अतिरिक्त अथवा अमर्याद परिग्रहका निषेध किया है।* कहीं कहीं निर्वाहके लिअे किये जानेवाले श्रमका भी निषेध किया गया है और कहीं तो दिगम्बर दशाका आदर्श अुपस्थित किया गया है।

---

* अुदाहरण : पूर्वोक्त गांधीजीके लेखमें ही अुस अुद्धरणके बाद गांधीजी लिखते हैं — 'कंगालको पेटभर हासिल करनेका अधिकार है और समाजका धर्म है कि अुसे अुतना हासिल करा दे। अतः अुसके और अपने सन्तोषके लिअे धनवानको खुद अिस बारेमें पहल करनी चाहिये। वह यदि अपने 'अत्यन्त' परिग्रहको छोड़ दे, तो कंगालको सहज ही अपने पेटके लिअे आवश्यक मिल जाय।' ('अत्यन्त'को अवतरण चिह्नोंमें मैंने रखा है — लेखक) यहाँ परिग्रहमें कुछ अंश तक स्वामित्वकी भावनाका विरोध है और कुछ अंश तक संग्रहकी अतिशयता पर प्रहार है।

हमें चाहिये कि हम अिन सब वचनोंका महत्व अेक-सा न समझें।

अपरिग्रहके मूलमें यह दृढ़ श्रद्धा रहती है कि परमेश्वर सब प्राणियोंका पालक और पोषक है — 'जब दाँत न थे तब दूध दियो, अब दाँत दिये कहा अन्न न दै है।' फिर अन्न भी वह अितना ही नहीं देगा कि केवल प्राण शरीरमें टिक रहें, बल्कि सब वास्तविक जरूरियात पूरी कर देगा।

गरीब और अमीरका भेद देखकर आम तौरपर हम अैसी शिकायत करते हैं कि समाजमें न्याय-नीति नहीं है। किन्तु अपरिग्रही साधु अिस विषयमें दो प्रकारके विचार प्रदर्शित करते हैं: कुछ तो कहते हैं —

'राम झरोखे बैठ कर, सबका मुजरा लेत।
जितनी जाकी चाकरी, अुतना वाको देत॥'

अर्थात् प्रत्येकको अुसकी पात्रताके हिसाबसे देता है। फिर कअी बार वे यह भी कहते हैं कि परमेश्वर 'चींटीको कन व हाथीको मन' देता है। अर्थात् प्रत्येकको अुसकी आवश्यकताके अनुसार देता है। सारांश यह कि किसीको ज्यादा व किसीको कम मिलता है अुसका कारण परमेश्वरका अन्याय नहीं, बल्कि अुसकी दृष्टिमें अुन व्यक्तियोंकी पात्रता या आवश्यकता अितनी ही है। अधिक अुखाड़-पछाड़ करनेवाला वैसा करके भी अधिक प्राप्त नहीं कर सकता। अिसके विपरीत अैसा भी अनुभव होता है कि जो त्यागका प्रयत्न करते हैं, अुन्हें कअी बार अपनी अिच्छासे अधिक स्वीकारना व भोगना पड़ता है। अिसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वरकी दृष्टिमें किसीकी पात्रता या आवश्यकता अधिक हो, तो वह अुसे जबरदस्ती भी अधिक अुपभोगकी सामग्री प्रदान करता है।

कुछ लोगोंको ये बातें अबुद्धिकी लगेंगी। पर बात यह है कि आम तौर पर लोगोंको यह अन्देशा रहता है कि यदि हम समय पर सम्पत्तिका संग्रह न कर लेंगे, तो कठिनाअीमें पड़ जायेंगे। और अिसलिअे वे अुसे बढ़ानेकी चिन्ता करते रहते हैं। परन्तु कअी मनुष्य अपना यह अनुभव बताते हैं कि अुन्हें परिग्रह-त्यागसे जीवनमें कभी कोअी कठिनाअी नहीं हुअी; जंगल भी अुनके लिअे मंगल बन गया है; अुनकी

जरूरियात अकल्पित रूपमें पूरी हो गअी है; और केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि प्राणी और जड़ सृष्टि भी अुनके अिस तरह अनुकूल हो गअी है, मानो अुनकी सेवा ही करना चाहती हो। अतअेव अुनका यह विश्वास हो गया है कि जो लोग चिन्ता करते हैं और आशंकामें रहते हैं, वे अीश्वरके प्रति अपनी अश्रद्धाके कारण ही दुःख पाते हैं। जो लोग परमेश्वर पर विश्वास रखते हैं, अुनकी चिन्ता वह खुद ही रखता है। किन्तु जो अपनी दीर्घदृष्टि, मितव्ययता, होशियारी, मेहनत आदि पर विश्वास रखते हैं, अुनको भी देता तो वही है, परन्तु अुनके द्वारा कल्पित तरीकेसे देता है। अिससे अुन्हें यह मालूम नहीं पड़ता कि हमें भी परमेश्वर ही देता है। बल्कि यह भास होता है कि हमें यह अपने पुरुषार्थसे मिला है।

चूँकि सन्तोंको परमेश्वरके अिस विश्वम्भरत्वके विषयमें बारम्बार अनुभव हुआ है, अुनके मनमें व्यवहारी मनुष्यकी परिग्रह सम्बन्धी चिन्ताओंके प्रति अनादर रहता है। अिसके विपरीत व्यवहारी मनुष्योंको कठिनाअियों और दुःखोंका बार बार अनुभव होता रहता है, और वे देखते हैं कि जिन लोगोंने अैसे अवसरोंके लिअे परिग्रह रख छोड़ा है वे मजेमें रहते हैं। अतः भक्तोंकी अैसी वाणीमें अुन्हें केवल भावुकता मालूम होती है। अिसके अलावा, कअी बार वे यह भी देखते हैं कि बहुतसे साधु अपने तनका आलस्य ढाँकनेके लिअे ही अैसी बातें कहा करते हैं; क्योंकि वे अपनी जरूरियातके लिअे परिग्रही व्यक्तियोंको तंग किया करते हैं और अुनकी अुदारता पर ही अपनी जिन्दगी बसर करते हैं। अिससे सन्तोंके अैसे वचनों पर अुनकी श्रद्धा जमने नहीं पाती।

परन्तु सच बात तो यह है कि सन्तोंके पास दो प्रकारकी सम्पत्तियाँ होती हैं। अुनकी खुद अुन्हें भी पूरी जानकारी नहीं होती, न परिग्रहवालोंको ही होती है। फिर भी दोनोंको अुनकी थोड़ी-बहुत कल्पना व कीमत भी होती है। ये दो सम्पत्तियाँ हैं — चारित्र्य व संकल्प-बल। मनुष्य खुद चरित्र-वान हो या न हो, परन्तु चारित्र्यके प्रति थोड़ा बहुत आदर व पूज्यभाव लगभग सब लोगोंके मनमें होता है। अतः जब किसी सन्तमें वे सचमुच चरित्र-धन देखते हैं, तब अुनके मनमें अुसकी सेवा करनेकी प्रेरणा अुठती है। सन्तको तो अपने चरित्रका अभिमान है नहीं, अतः वह यह नहीं

मानता कि यह जो मान, पूजा, सुविधायें अुसे मिलती हैं, वें अुसके चरित्रके कारण हैं, बल्कि यह मानता है कि यह सब परमात्माकी दयासे मिल रहा है।

अिस चरित्र-धनको जुटानेमें सन्तोंके पूर्व जन्मका व्यवहार भी अपना महत्व रखता है। या तो अुनका पूर्व जीवन समृद्धिमें बीता होगा और अुसे त्याग करके अुन्होंने गरीबी अखत्यार की होगी, अथवा जब वे भी परिश्रम करके अपनी जीविका चलाते थे तब अतिशय प्रामाणिकता, अुद्योगशीलता और सन्तोष अुनके जीवनके स्पष्ट लक्षण रहे होंगे। फिर जब अुन्होंने स्वयं परिश्रम करके निर्वाह करनेका मार्ग छोड़ा तब आलस्यके कारण नहीं, बल्कि किसी विशेष अुदात्त अुद्देशके लिअे छोड़ा होगा। यह चरित्र-धन तथा अपने अुच्च अुद्देशको सिद्ध करनेका तीव्र संकल्प जीवनकी आवश्यकताओंकी प्राप्तिमें बहुत कारणीभूत होते हैं। क्योंकि, आखिर जीवनकी समस्त प्राप्तियोंका मूल कारण तो आत्मा की सत्य-संकल्पता ही है। अतअेव जहाँ कहीं तीव्र संकल्प है, वहाँ अुसे सिद्ध करनेके लिअे आवश्यक सामग्री निर्माण करनेकी शक्ति भी मौजूद ही रहती है। अिस तरह अपरिग्रही साधुको जो अकल्पित रूपसे अपनी जरूरियातें पूरी होनेका अनुभव होता है, अुसका कारण यह है कि किसी अुदात्त हेतुको सिद्ध करनेका संकल्प वह करता है और अुसके लिअे अिन जरूरियातोंका पूरा होना लाजिमी हो जाता है।

अिस प्रकार साधु पुरुषोंको बाह्य परिग्रहकी या निर्वाहके लिअे मेहनत करनेकी आवश्यकता नहीं दिखाअी देती और अपने अनुभवके बल पर वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जिसकी जो जरूरत होगी, वह अुसे अवश्य मिल जायगी।

तात्पर्य यह है कि संसारी और साधु दोनोंके अनुभवोंमें सत्यांश है। संसारियोंको संग्रहके अभावमें जो विपत्तियोंका अनुभव होता है, वह निर्विवाद है; परन्तु अिससे वे संग्रहका महत्व जरूरतसे ज्यादा समझ बैठते हैं। अिधर सन्तोंको यह स्पष्ट अनुभव होता है कि वे जो चाहते हैं सो अुन्हें जरूर मिल जाता है। अिससे वे परिग्रहकी ही नहीं, बल्कि श्रमकी भी कीमत कुछ नहीं समझते और अिस बातको भूल जाते हैं कि अुनकी जरूरियात

पूरी करनेके लिअे किसी न किसीको परिग्रह और श्रमकी चिन्ता करनी ही पड़ी है।

अधिक सत्यपूर्ण विचार अिन दोनोंके बीचमें है, यानी —

१. परिग्रह और मालिकाना हकमें भेद करनेकी जरूरत है, और श्रेयार्थी पहले तो जितना हो सके स्वामित्वका भाव घटावे, अर्थात् जिसको आवश्यकता हो अुसे अपने परिग्रहका अुपभोग करनेकी अधिक छूट दे। हाँ, आजकी परिस्थितिमें अिस विचारकी कार्य रूपमें परिणति अेक सीमामें ही हो सकती है, परन्तु अिस दिशामें प्रयाण होनेकी आवश्यकता जरूर है।

२. परिग्रह और श्रमका भी भेद समझना जरूरी है। कोअी व्यक्ति अपरिग्रहका आदर्श रखे तो हो सकता है कि अुसमें न तो कोअी बुराअी हो और न समाजको ही कोअी हानि पहुँचे; परन्तु यदि कोअी व्यक्ति अैसा विचार रखे और अुसका प्रचार करे कि 'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम', तो अिससे समाजको अवश्य हानि पहुँचेगी और पाखण्ड तथा आलस्यकी वृद्धि होगी। अिसके विपरीत यह सिद्धान्त कि सिर्फ आजकी ही रोटी कमा लो (अर्थात् मेहनत करके प्राप्त करो) श्रमपोषक किन्तु अपरिग्रहका है अेवं श्रेयःसाधक भी है।

३. फिर परिग्रह और हिफाजतके भेदको भी समझ लेना चाहिये। जो चीज अिस्तेमालसे आज ही घिस या बिगड़ नहीं जाती अुसे जतनसे रखना परिग्रह तो है, परन्तु यह अेक सद्गुण है और आवश्यक है। अैसा न करना दोषमें शामिल है। किन्तु केवल संग्राहक बुद्धिसे अैसी चीजोंका जत्था बढ़ाते ही जाना अतिरेक है। अैसा ही समझना चाहिये कि सन्तोंने जो परिग्रह पर प्रहार किया है, वह अैसे अतिरेक पर है।

४. यह समझ लेनेकी आवश्यकता है कि अपरिग्रह तथा परिग्रह दोनों सिद्धान्त अुड़ाअूपनके खिलाफ हैं। जिस चीजके अुपभोगकी आज जरूरत नहीं है अुसका भी परिग्रह न रखनेकी दृष्टिसे खर्च कर डालना अपरिग्रह नहीं, बल्कि पदार्थों पर अत्याचार है अथवा स्वेच्छा-चारिता है। अिसी तरह अपने अुपभोगके लिअे सृष्टिके समस्त रस-कसको अधिकसे अधिक खींच लेनेकी वृत्ति रखना मनुष्यका प्रकृति पर अत्याचार

है। अपरिग्रहके सूक्ष्म अर्थका विचार करें तो मालूम होगा कि साहूकारोंकी स्थापित सराफेकी दुकानों पर या निजी तिजोरियों पर विश्वास रखनेके बदले अीश्वरके प्राकृतिक बैंक पर विश्वास रखना अपरिग्रहका आचरण है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्यके स्थापित बैंकमेंसे जितना रुपया रोज अुठाया जाय अुतना फिर जमा करनेकी चिन्ता न की जाय, तो फिर अेक दिन अपना खाता वहाँसे अुठ ही जाता है, अिसी तरह अिस प्राकृतिक बैंकसे रोज व रोज जितना हम खींचते हैं अुतना ही हमें जगत्‌की भिन्न भिन्न रूपमें सेवा व श्रमके द्वारा फिर प्रकृतिको लौटा देना चाहिये। जो अैसा नहीं करता है अुसका विश्वास 'अपरिग्रह' के या 'अीश्वर सबका पालन-पोषण करता है' अिस सिद्धान्त पर नहीं बैठ सकता। अतः कुदरतका मितव्ययसे अुपयोग करना परिग्रही या अपरिग्रही दोनोंके लिअे समानरूपसे आवश्यक नियम है। अिससे यह भी समझमें आवेगा कि कुछ साधुओंके अपने हाथमें आअी मनुष्योपयोगी चीजोंको चाहे जहाँ फेंक देने, या हर किसीको देकर अुसको बरबाद करने, या अुसे लुटाकर अपनी धन-सम्बन्धी अुपेक्षा बतानेमें प्रायः अविवेक ही होता है। किसी भी वस्तुका त्याग अुचित रीतिसे और अुचित मात्रामें ही करना चाहिये।

५. चरित्र और अुदात्त संकल्प भी अेक प्रकारका धन ही है। अतअेव हमें यह समझना चाहिये कि केवल बाह्य सामग्री अेकत्र करनेके लिअे किये गये श्रमसे ही निर्वाह नहीं होता, बल्कि अुसके जुटानेमें चरित्र व अुदात्त संकल्प भी कारणीभूत होते हैं, और अिसलिअे अुन्हें बढ़ानेका प्रयत्न करना और अुन पर विश्वास रखना भी सीखना चाहिये।

६. हमारे परिग्रह और भोगोंकी अेक सीमा होनी चाहिये। अपने समयमें अुनकी क्या मर्यादा होनी चाहिये, अिसका विचार सुज्ञ जनोंको स्वयं करते रहना चाहिये। समझना चाहिये कि भोगोंकी विविधता और रसिक वृत्ति जीवनका आदर्श नहीं, बल्कि सादा, मेहनती व अल्पसाधन-युक्त जीवन ही सच्चा जीवन है।

७. सोना, चाँदी, जवाहिरात आदिको अुनकी अुपयोगिताके मुकाबलेमें जरूरतसे ज्यादा महत्व मिल गया है। सिक्केके तौरपर जो अिनका अुपयोग लाजिमी बना दिया गया है, वह बहुत अनर्थोंका कारण हुआ

है। किन्तु यह विषय अर्थशास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। अतअेव यहाँ अुसकी चर्चा ज्यादा नहीं हो सकती। यहाँ तो अितना ही कह सकते हैं कि रसिक पुरुष गहने आदिके रूपमें अिनका व्यवहार करेंगे ही और सम्भव है अिसका कोअी अिलाज हमें न भी मिले; परन्तु सिक्केके रूपमें अिनका अुपयोग लाजिमी कर देना अर्थ व श्रेय दोनोंका विरोधी है। अतः श्रेयार्थीको अिनका परिग्रह करनेके मोहमें न पड़ना चाहिये।

७

बाहरी दिखावा

जो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक अुन्नति करना चाहता है, अुसे अपने चित्तमें साधुताका होना अिष्ट मालूम हो तो यह स्वाभाविक और योग्य ही है। वह चाहता है कि काम, क्रोध, लोभ, अीर्ष्या आदि विकारोंका दमन करना वह सीखे। अितना ही नहीं बल्कि वह अुस स्थिति पर पहुँचना चाहता है, जिसमें अुसे अपने चित्तमें अुनका दर्शन तक न हो और अुनकी जगह क्षमा, शान्ति, दया आदि भावोंसे वह सदैव भरा रहे। भूतकालमें या आज जो साधु पुरुषके नामसे प्रसिद्ध हैं, अुनके आचार-व्यवहार परसे वह साधुओंके बाह्य और मानसिक लक्षणोंकी कल्पना करता है। और अुन पुरुषोंके कअी गुणोंके प्रति अुसके मनमें आदरभाव तो रहता ही है। अिससे वह अुनकी स्थितिके सम्बन्धमें ज्यादा जाँच किये बिना ही अुनकी सभी बातोंको आदर्श माननेकी ओर झुकता है।

आम तौर पर अेक पुरुषके आन्तरिक भावोंमें अेकता न लाअी जा सके, तो भी अुसके बाह्य आचारका अनुकरण करके बाहरी समानता लाना ज्यादा आसान है। गांधीजीकी मनोदशा हम भले ही न प्राप्त कर सकें, परन्तु अुनकी छोटी धोतीका, अुनके बोलने-चालने-बैठने आदिकी खास तर्जका अनुकरण करना सरल है। अुनके जैसा भक्तिभाव हम न अनुभव कर सकें, किन्तु अुनका संगीतका शौक आध्यात्मिक अुन्नतिके आवश्यक अंगके बहाने स्वीकार कर लिया जा सकता है। अुनके खान-

पानके नियमोंमें समाअी हुअी अुनकी वृत्ति हम अपनेमें न साध सकें, परन्तु अुनमें रही सूक्ष्म रसिकता और चट*का अनुकरण किया जा सकता है।

खुद किसी बातका विचार न करके महज श्रद्धा रखकर दूसरोंका अनुकरण करने वाले युवक कअी बार अैसे सत्पुरुषोंकी खास खास टेवोंमें — जो अुनकी न्यूनता या दोष भी हो सकता है — कोअी गुह्य आध्यात्मिक मूल्य भरा है अैसा समझने लगते हैं। बाज लोग यह भी खयाल करते हैं कि साधु पुरुषोंकी वेषभूषा और बाहरी आचार अुस समाजके आम लोगोंसे कुछ भिन्न प्रकारका ही होना चाहिये।

हमारे लोगोंमें व शास्त्रोंमें भी 'ज्ञानी' माने हुअे लोगोंके अैसे बाह्याचार और वेश-भूषाके सविस्तर वर्णन मिलते हैं; जैसे, नहाने-धोनेके सम्बन्धमें लापरवाही, मैले-कुचैले चिथड़ोंकी गुदड़ी या नग्नता, मैला-कुचैला शरीर, बैठनेके लिअे गंदी जगह, खाने-पीनेमें अघोरी वृत्ति या खास चीजोंका ही आग्रह, हाथ-पाँव-अुंगलियोंको यों ही हिलाने या मटकानेकी टेव, आजीवन मौन या कुछ-न-कुछ बर्राते रहने या गाली वगैरा देनेकी आदत—ये कअी बार साधुताके लक्षण माने जाते हैं। और अिन परसे अुनकी आध्यात्मिक महत्ता आँकी जाती है। यहाँ तक कि शास्त्रकारोंने तो 'पिशाचवृत्ति'के 'ज्ञानी'का अेक वर्ग ही अलहदा बना दिया है।

और फिर यह सब पढ़कर या सुनकर कितने ही साधक अपनी अैसी ही दशा बताने और अुसके अनुकूल मनोवृत्ति करनेका प्रयत्न करते हैं; और जब मन अैसी दशाके प्रति अरुचि प्रदर्शित करता है, तब वह यह समझता है कि यह तो मेरी पामरता और संसार-लोलुपताका लक्षण है और अपनी अिस कमीके लिअे दुःखी होता व रहता है।

गीताके १६ वें अध्यायमें ज्ञान और योगमें व्यवस्थितिको दैवी सम्पत्तिका अेक लक्षण कहा है। परन्तु अिसके विपरीत बहुतेरे लोग यह मान बैठे हैं कि पुरुष जितना ही अूँची भूमिकामें होगा, अुतना ही अुसके बोलने-चालने, वेश-भूषा आदिमें व्यवस्थितता और सुघड़ताका अभाव होना चाहिये।

---

* व्यवस्थाके बारेमें अत्याग्रह—fastidiousness.

बाहरी दिखावा

सामान्य संसार-व्यवहारोंमें जब हम किसी मनुष्यके बोलने-चालने या वेश-भूषामें अव्यवस्थितता देखते हैं तो अुसे फूहड़पनका लक्षण समझते हैं, और सुघड़ तथा सभ्य व्यक्तिसे अिस विषयमें व्यवस्थितताकी आशा रखी जाती है। परन्तु न जाने किस विचित्र धारणाके कारण यह समझा जाता है कि साधु पुरुषके लिअे व्यवस्थितताका आग्रह मानो अुसकी साधुतामें खामी है। बहुतेरे लोगोंका अैसा खयाल है कि साधु पुरुष जैसे-तैसे बेढंगे कपड़ोंसे अपना बदन ढँकनेवाला और रीत-भात, शिष्टाचार आदिमें असंस्कारी बालककी तरह अज्ञान बतलानेवाला होना चाहिये। दुनियादारीमें अगर कोअी मनुष्य दो अलग किस्मके टुकड़ोंका जैसे-वैसे सिया हुआ, छोटी-मोटी बाँहोंवाला कुरता पहने हुअे हो, तो अच्छा नहीं समझा जाता। सुघड़ और व्यवस्थित आदमी वैसा कपड़ा न पहनेगा। लेकिन सुघड़ और व्यवस्थित लोग भी साधुके लिअे वैसा ही कपड़ा होना योग्य समझते हैं। अितना ही नहीं, बल्कि मानते हैं कि वही अुसे शोभा देता है, और अपनी सुघड़ताको वे असाधुताकी निशानी समझते हैं।

मेरे कहनेका यह आशय नहीं है कि जो लोग साधारण जन-समूहसे भिन्न प्रकारका बाह्याचार और वेश-भूषा रखते हैं, वे आध्यात्मिकता या साधुताकी दृष्टिसे किसी प्रकारकी योग्यता ही नहीं रखते। परन्तु यह धारणा गलत है कि अुनकी विशेषताका मूल अुनके बाह्याचार और वेश-भूषामें है। मेरा खयाल है कि कअी बार तो यह लोकोत्तरता विचार-सम्बन्धी खामीकी भी सूचक होती है।

अिससे ठीक अुलटी दिशामें होनेवाला अेक दूसरा आचार है। वह भी अितना ही गलत है। फिर वह महज मामूली साधुओंके लिअे नहीं, बल्कि 'ज्ञानकी पराकाष्ठा'को पहुँचे हुअे साधुओंके लिअे 'सुरक्षित' रखा गया है! जो व्यक्ति अपने लिअे यह शोहरत फैला सकता है कि वह अिस अुच्च दशाको पहुँच चुका है, अुसके लिअे स्वेच्छाचारके सब दरवाजे खुल जाते हैं। वह केवल सुघड़ता ही नहीं, बल्कि रसिकता भी प्रदर्शित कर सकता है और अुसका यह विलास

'ज्ञानकी अलिप्तता' अथवा 'अवशिष्ट प्रारब्धका भोग'—अिन नामोंमें दरगुजर हो जाता है।

जिनके हृदयमें अैसे भोगोंके प्रति आकर्षण रहता है, अुनमेंसे कअीको 'ज्ञानकी अिस भूमिका'को पहुँचनेके लिअे लालच हो जाता है। और जब अिस लालचमें वे फँस जाते हैं, तो अुसे ढाँकनेके लिअे 'ज्ञानप्राप्ति' हो जानेका ढकोसला रचते हैं।

साधुके लक्षण-सम्बन्धी ये दोनों विचार भ्रम पूर्ण हैं। वास्तवमें खुद जिस समाजमें हम रहते या विचरते हों, अुससे भिन्न पहनावा या भाषाका रखना साधुता प्राप्त करनेके लिअे आवश्यक नहीं है। यदि अिसमें कुछ परिवर्तन करना हो तो वह अुन्हें अधिक व्यवस्थित, अधिक सादा और अधिक शुद्ध बनानेके लिअे हो, जिससे समाजके अन्य लोगोंको वह ग्रहण करने योग्य मालूम हो। यदि अुनमें किसी किस्मकी नवीनता लानी हो तो वह महज अिसलिअे हो कि जिससे समाज-व्यवहारमें अधिक सुविधा हो, या समाजस्थितिमें जो परिवर्तन हो चुका हो अुसके अधिक अनुरूप हो जाय। लेकिन यह खयाल बिलकुल गलत है कि अिस तरहकी नवीनता या अव्यवस्थितता साधुताका कोअी चिह्न है।

८

स्वाभिमान

साधुओंके लक्षणके सम्बन्धमें अेक और गलत कल्पना फैली हुअी है । और अुसका सम्बन्ध मानापमानकी भावनासे है । साधु ‘मानापमानमें तुल्य रहे’ अिसका आशय कथाकारोंने यहाँ तक चित्रित किया है कि यदि साधुको रास्ते जाते हुअे कोअी बिलावजह गालियाँ दे, मारे, अुसपर थूँक दे, यहाँतक कि अुसपर मल-मूत्र डाल दे, तब भी वह सहन कर ले । भागवतके ११वें स्कन्धमें कदर्युका आख्यान, जैन ग्रन्थोंमें महावीरका चरित्र आदि अनेक स्थानोंमें निरभिमानताकी भावनाको कहाँ तक बढ़ाया जा सकता है, अिसका आदर्श चित्रित किया गया है । अिस परसे शास्त्र-ग्रन्थों पर श्रद्धा रखनेवाले अर्थार्थीका अुस आदर्श तक पहुँचनेका यत्न करना स्वाभाविक है ।

अैसी दशामें, अिस आदर्शके अनुसार तो साधु पुरुषमें स्वाभिमान जैसी कोअी भावना होना योग्य नहीं है ।*

किन्तु साधुताके आदर्शके सम्बन्धमें यह अेक बड़ी भूल है । दूसरे देशोंमें भी साधुजनोंके आदर्श चित्रित किये गये हैं, किन्तु जनताने अुन्हें अपनाया नहीं है । अिस गलत आदर्शका खास तौरपर हमारे देशमें यह परिणाम हुआ है कि साधुओंको ‘मुमुक्षु’ नामक व्यक्तियोंके सिवा दूसरे लोग महज पूज्य मानते हैं, किन्तु अनुकरण करने योग्य नहीं समझते । वह यह कहकर कि ‘साधुओंकी बातें ही और हैं, अुनके अधिकार अलग हैं, वे जो कुछ करें सभी ठीक है’ — ‘समरथको नहीं दोष गुसाअीं’ । अुन्हें या तो देवताकी श्रेणीमें या अवतार श्रेणीमें बिठा देते हैं और मनुष्य जातिसे खारिज कर देते हैं ।

---

* कोअी वेदान्ती शायद अिसका यह जवाब दे कि साधु तो आत्माके स्वाभिमानी — अर्थात् आत्माभिमानी — होते हैं । चूँकि वे सर्वत्र अपनेको ही देखते हैं, अिसलिअे अुन्हें किसी तरह मानापमानका अनुभव नहीं होता । परन्तु यह महज पाण्डित्य है और विपरीत कल्पनाके पोषणका परिणाम है । मेरा मतलब यहाँ अुसी स्वाभिमानसे है, जिसे आप लोग ‘स्वाभिमान’ मानते हैं ।

लेकिन अुन्हें अिस तरह खारिज करनेके प्रयत्नके बावजूद शास्त्र-ग्रन्थोंमें चित्रित अैसे चित्रों व फुटकर दृष्टांतोंका असर समाज पर पड़े बिना नहीं रहता। क्योंकि अैसे पुरुष भी, जो अपनेको 'मुमुक्षु' में नहीं खपा सकते, बल्कि 'बद्ध' में जिनका समावेश होता है, जान या अनजानमें थोड़ा बहुत अुनका अनुकरण कर जाते हैं। अिससे हिन्दू-समाजमें कोअी सैकड़ों वर्षोंसे स्वाभिमानका भाव ही लोप हो गया है। 'हम तो बनिये ठहरे, हमारी मूँछ नीची है तो साढ़े सात दफा नीची।' 'मारा घप्पा तो कहेंगे कि अच्छा हुआ धूल अुड़ गअी।' यह हालत तबसे होने लगी है, जबसे हमारे मनमें स्वाभिमानका भाव लुप्त होने लगा। अिससे अुल्टी वृत्ति "मियाँजी गिरे तो कहेंगे, नहीं, देखो मेरी टँगड़ी अभी अूँची है'— अिसमें है।

'मानापमानमें तुल्य' के अर्थ पर हम बादमें विचार करेंगे। अुससे पहले हमें यह जान लेनेकी जरूरत है कि निर्मान, निरहंकार, अगर्व आदि जैसे दैवी सम्पत्तिके गुण हैं, वैसे ही तेजस्विता भी दैवी सम्पत्ति ही है। श्रेयार्थीको जिन जिन गुणोंको प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, अुनमें समस्त दैवी सम्पत्तियोंका समावेश होता है। किसी अेकाध गुणकी ही बेहद अुपासना करनेसे मनुष्यमें सच्ची मनुष्यता भी नहीं आती है, तब श्रेयः-सिद्धिकी तो बात ही दूर रही। मनुष्यमें अनेक अुदात्त गुणोंका अुचित मात्रामें सम्मेलन होना चाहिये, और जिस अवसर पर जिस गुणकी जरूरत मालूम हो अुस समय अुसका सविवेक अुपयोग करनेका ज्ञान होना चाहिये।

'मानापमानमें तुल्य' का अर्थ यह नहीं है कि कोअी मनुष्य यदि दुष्टतासे किसी साधुका अपमान या अुपहास करे, तो अुसे चुपचाप सहन कर लेना अुसका धर्म है; अथवा अिस भावनासे कि दुष्ट भी ब्रह्म स्वरूप या आत्म स्वरूप ही है, अतअेव किसने किसका अपमान किया, यह सोचकर खामोश हो रहनेकी आदत डालना अुसका धर्म है। जो अपने तेजोवधको सहन कर लेता है अुसे साधुता या सात्विकता प्राप्त नहीं होती, बल्कि पशुता या तमोगुणकी तरफ़ अुसकी गति होती है। सब आत्मोन्नति चाहने वालोंसे मेरी विनय है कि वे अिस बातको हमेशा याद

रखें। वे चाहें रामके जीवनको लें, या कृष्णके जीवनको या किसी भी दूसरे तेजस्वी पुरुषके चरित्रको देखें, अुन्हें कहीं भी यह नहीं दिखाअी देगा कि अुन्होंने अपना तेजोवध कभी सहन किया है।

तब सवाल यह होता है कि 'मानापमानमें तुल्य' का मतलब क्या है? बाज लोग मान-सम्मान मिलनेसे फूल जाते हैं, हर्षोन्मत्त हो जाते हैं, व अपमानसे कुम्हला जाते हैं, विषादकी खाअीमें गिर पड़ते हैं; मान व अपमानका प्रभाव अुन्हें बेकाबू बना देता है; वे मनोभाव पर अुस समय अंकुश नहीं रख पाते; अुस समय अुनकी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है; अुनके लिअे विवेकयुक्त व्यवहार करना असम्भव हो जाता है। परन्तु 'मानापमानमें तुल्य' पुरुष न मान-सम्मानसे फूल ही अुठता है, न अपमानसे शोकमें डूब जाता है। वह दोनोंको हजम कर गया होता है। परन्तु वह पागल नहीं होता, अिसका अर्थ यह नहीं कि वह मान व अपमानका भेद भी नहीं समझ सकता; और चूँकि वह भेद समझ सकता है, अिसलिअे सम्मानको सम्मान मानता है व सम्मानकर्ताके प्रति अुचित भाव प्रदर्शित करता है और अपमानको अपमान मानकर अपमानकर्ताके प्रति भी अुचित व्यवहार करता है।* अिन दो व्यवहारोंसे छुट्टी पाते ही वह अपने स्वाभाविक कर्ममें शान्तिके साथ प्रवृत्त हो जाता है, मानो कोअी खास घटना घटी ही न हो। अुसे न तो सम्मानका नशा चढ़ता है, न अपमानसे ग्लानी ही आती है। जैसे कोअी कुशल खिलाड़ी खेलकी अैन रंगत पर और कोअी कुशल सेनापति या नाविक बड़े खतरेके अवसर पर बिना घबराये या डाँवाडोल हुअे शान्तिपूर्वक अपना काम यथावत् करता रहता है, वैसे ही साधु पुरुष कहिये या संयमी पुरुष कहिये — मानापमान या दूसरे हर्ष-शोक आदिके अवसरोंपर अपनी बुद्धि और वृत्तियोंको स्थिर रखकर जिसके प्रति जो व्यवहार अुचित है, वह शान्ति, निश्चय तथा आत्म-विश्वास पूर्वक करता है। अिस प्रकारसे जो 'मानापमानमें तुल्य' वृत्ति प्राप्त कर लेते हैं, अुनमें नम्रता व तेजस्विता दोनोंके दर्शन होते हैं।

---

* अपमानकारीको वह प्रेमसे हरावे या दूसरी तरहसे, यह जुदी बात है। परन्तु जो 'मानापमानमें तुल्य' रहता है, वह अपमान करनेवालेको जीतेगा तो जरूर ही।

हाँ, यह हो सकता है कि तेजस्वी सन्त किसी हल्के आदमी द्वारा किये गये अपमानको जान-बूझकर सहन कर ले। परन्तु अुसकी अिस सहनेशीलतामें ही अुसकी अेक प्रकारकी तेजस्विता व स्वतंत्र स्वभावका परिचय मिलता है। अैसे अपमान सहन कर लेनेमें अुसकी दीनता किसी प्रकार नहीं दिखाअी देगी, बल्कि अैसा भाव प्रतीत होगा मानो वह अपमान करनेवालेके प्रति दया दिखाता हो या अुसपर अनुग्रह कर रहा हो। जैसे कोअी पहलवान बालकको कुश्ती खिलाता है और अुसके हाथसे हार खा जाना दिखाता है, वैसे ही यह अपमानको दरगुज़र समझना चाहिये। अिस तरहका अपमान सहन करना अेक दूसरी ही बात है।

९

स्वाद-जय—१

हमारे शास्त्रोंमें स्वाद-जय पर बहुत जोर दिया गया है, और स्वाद-जयकी महिमामें कहा गया है कि जिसने रसको जीत लिया अुसने सारा जगत् जीत लिया। अिस कारण स्वाद-जयके निमित्त साधकोंने अनेक प्रकारके प्रयोग अपने अूपर किये हैं, अनेक प्रकारके व्रत निकाले हैं, अनेक धार्मिक संस्थाओंमें अिसी दृष्टिसे आहारके नियम बड़े परिश्रमपूर्वक बनाये गये हैं। अुदाहरणके लिअे, स्वामीनारायण-सम्प्रदायके साधुओंमें यह प्रथा थी कि सब प्रकारके भोज्य पदार्थोंको अेकत्र करके अुसमें पानी डाल कर फिर खाया जाय। बिना नमकका तथा नमकको छोड़कर बिना मसालेका भोजन करनेपर गांधीजी जोर देते हैं। पाँच ही चीजें नित्य खाना गांधीजीका व्रत है। चातुर्मासमें अथवा कुछ विशेष समय तक विशेष प्रकारके ही भोजनका नियम स्वादको जीतनेकी अिच्छासे ही लिया जाता है।

मेरी नम्र रायमें स्वाद-जयकी रीतियोंके प्रयोग गलत दिशामें हैं। अिन विविध प्रयोगोंके मूलमें स्वाद-जय-सम्बन्धी कुछ गलत कल्पनायें हैं। बाज लोग समझते हैं कि जब जीभ अैसी बन जाय कि वह स्वादको परख ही न सके, तब समझा जाय कि स्वाद-जय सिद्ध हुआ। कुछ

लोग मानते हैं कि बेस्वाद या कुस्वादु भोजन भी जब सन्तोषसे खा लिया जा सके तो कह सकते हैं कि स्वाद-जय सिद्ध हुआ और अिसी दृष्टिसे वे स्वादु या रुचिकर भोज्य पदार्थोंको कृत्रिम रीतिसे बिगाड़कर खानेका प्रयत्न करते हैं।*

किन्तु जीभको स्वाद न परखने योग्य तो बधिर करके ही बनाया जा सकता है। कहते हैं कि कुछ औषधियाँ अैसी हैं जिनके प्रयोगसे थोड़ी देरके लिअे जीभ बधिर बनाअी जा सकती है। अुसी तरह कहते हैं कि कुछ प्रकारके योगाभ्याससे भी अैसा ही परिणाम लाया जा सकता है। परन्तु यह बधिरता स्थायी नहीं होती। परन्तु यदि जीभको सदाके लिअे बधिर बना देनेकी कोअी विधि हो तो भी अुससे अुसे वशमें नहीं किया जा सकता। अुलटा अिससे यह भी परिणाम निकल सकता है कि जिस चीजका हम प्रत्यक्ष अुपभोग न कर सकें, अुसका मनमें चिन्तन होता रहे और अुसीके स्वप्न आते रहें। फिर, स्वादु वस्तुके स्वादको बिगाड़कर, अुसे कुस्वादु बनाकर खानेसे स्वाद-जयकी आशा करना व्यर्थ है। हमारी अिन्द्रियोंकी किसी बातके आदी हो जानेकी शक्ति अितनी प्रबल है कि थोड़े ही समयमें खराब चीजोंकी खराबी भी वे भूल जाती हैं। रोज दूधकी तरह सफेद धुले कपड़े पहननेके जो आदी हैं अुन्हें मैले कपड़े पहननेका या मैले-कुचैले कपड़े पहननेवाले लोगोंको देखनेका बार बार प्रसंग आवे तो अुन्हें भी थोड़े ही समयमें बिना घृणाके मैले कपड़े पहननेकी टेव पड़ जाती है और अुनका सफेदीका माप कम हो जाता है।× अफीम, तमाखू आदिका स्वाद बहुत मधुर या सौम्य नहीं

* मुझे रोटी बहुत मीठी लगने लगी तब मैंने अेकबार अुपरोक्त धारणाके वश हो, आटेमें कुनैन मिलाकर खानेका प्रयोग किया। परन्तु भूख जोरोंसे लगती थी अिसलिअे कड़वी रोटी भी मजेसे खा जाता और जीभको अुस कड़वे स्वादकी भी आदत पड़ गअी!

× प्राणी अेक भूमिकाको लाँघकर दूसरी भूमिकामें बहुत समय तक रहा हो तो भी जब किसी कारणसे अुसे यह विश्वास हो जाय कि मेरी पहली भूमिका ही ठीक थी तो अुसे अुसमें अुतर आना कठिन नहीं मालूम होता। मनुष्यका प्रयाण हिंसासे अहिंसाकी ओर, गंदगीसे सफाअीकी ओर, स्वार्थसे परमार्थकी ओर, अधर्मसे धर्मकी ओर,

है, फिर भी अिनके व्यसनी अिन्हें रुचिके साथ खाते-पीते हैं। अघोरी कितनी ही गन्दी और घृणली चीजोंको बड़े आनन्दसे खा जाते हैं, यह बहुतोंने सुना होगा। और अिस अघोरी-पन्थमें कुलीन ब्राह्मण कुटुम्बमें पले-पुसे व अधिकार भोगे हुअे लोग भी सुने जाते हैं। यह अिस बातको साबित करता है कि मनुष्यकी रुचिमें कितना व कैसा फर्क पड़ जाता है। परन्तु यदि अैसी आदत पड़ जानेसे ही अिन्द्रिय-जय होता हो, तो फिर जिन लोगोंको दुनियामें खराब चीजें ही अिस्तेमाल करनी पड़ती हैं वे अवश्य ही अिन्द्रियजित् हो जायेंगे।

फिर, स्वाद-जयके बारेमें दो प्रकारकी लोलुपताकी बहुत बार खिचड़ी कर दी जाती है। खानेकी लोलुपता व स्वादकी लोलुपता। बाज़ लोगोंको बार बार खानेकी अिच्छा हुआ करती है। कितना ही खा जायें तो भी वे अघाते नहीं। परन्तु अिन्हें पदार्थके अस्वाद-स्वादकी विशेष परख नहीं होती। कअी लोगोंको खानेकी तृष्णा तो कम होती है, परन्तु जो कुछ खाते हैं अुसकी स्वादुताका बड़ा आग्रह रखते हैं।

स्वादके विषयमें अुपेक्षा भाव होते हुअे भी यदि खानेकी तृष्णा बनी ही रहती हो, तो यह विशेष तामस स्थिति – जड़ताका चिह्न – है। अिससे अैसा हो सकता है कि खानेकी तृष्णा कम होने पर रसनेन्द्रिय अधिक जाग्रत हो जाय। क्योंकि ज्यों ज्यों ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है त्यों त्यों अुसके भेदोंको परखनेकी शक्ति भी बढ़ती है और अुससे रस-वृत्तिका पोषण होता है। परन्तु अिसमें पहिली बातकी अपेक्षा अधिक विकास है: अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंकी विशेष सूक्ष्मता है।

अव्यवस्थासे व्यवस्थाकी ओर, कामनासे निष्कामनाकी ओर और असंयमसे संयमकी ओर हुआ है। अहिंसा, स्वच्छता, परमार्थ, धर्म, व्यवस्था, निष्कामव्रत, संयम अित्यादिकी टेव या संस्कार चाहे कितने ही समयसे दृढ़ होते हुअे चले आये हों, अनेक पीढ़ियोंके अनुशीलनका परिणाम भले ही हो, तो भी यदि किसी कारणसे अिनके सम्बन्धमें हमारा आग्रह कम हो जाय तो हम थोड़े ही समयमें अिससे पहली भूमिकामें पहुँच सकते हैं। अहिंसा, स्वच्छता, व्यवस्था आदि संस्कारोंको श्रमपूर्वक पोसना और जाग्रत रखना पड़ता है। अतअेव अिन श्रमसाध्य संस्कारोंका नाश कदापि अुचित नहीं। हाँ, अिनमें जो अेकांगिता या अविवेक-दोष आ जाता है सिर्फ अुसे ही दूर करना चाहिये।

भोजनकी तृष्णा जठरकी लोलुपताकी बदौलत और स्वादकी तृष्णा जीभकी लोलुपताकी बदौलत होती है, अतअेव खानेकी तृष्णाका नियमन मिताहारके विषयमें सावधान रहनेसे हो सकता है। परन्तु जब मिताहारकी टेव पड़ जाती है तब, जैसा कि अूपर कहा है, स्वादेन्द्रियके तीक्ष्ण हो जानेका अनुभव होता है। अुपवास व अल्पाहारसे तो अुसका और भी अधिक तीक्ष्ण होना संभव है।* जठरकी लोलुपता हटानेका भी अुचित अुपाय अुपवास या अल्पाहारके व्रत नहीं हैं। क्योंकि जब अुपवास या व्रत समाप्त होता है तब जठर बहुत बार दूनी कसर निकाल लेता है, और जीभ, जोकि अिसी घातमें बैठी रहती है, अधिक तीव्रतासे स्वादका अनुभव करती है।×

अब मनुष्य बिना देखे, बिना सुने या बिना सूँघे तो जी सकता है, किन्तु खाये बिना नहीं जी सकता। और खानेका सवाल आया तो जीभ बीचमें आये बिना रहती नहीं। फलतः किसी न किसी प्रकारका आस्वादन होता ही है। वैसे तो ठेठ जन्तु दशासे जीभको स्वादका भान हो जाता है। अैसी दशामें अन्य अिन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेकी अपेक्षा जीभकी आदतोंको ठीक करने या अुसपर विजय प्राप्त करनेमें अधिक कठिनाअी मालूम होना कोअी आश्चर्यकी बात नहीं है।

तो अब यह सवाल है कि स्वाद-जयका वास्तविक अुपाय क्या है? अगले प्रकरणमें हम अिसीका विचार करेंगे।

---

* भागवतमें भी कहा है —

> अिन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
> वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥ (११-८-२०)

अिन्द्रियोंको अुनके आहार न देकर, विचारी पुरुष जीत लेते हैं; किन्तु जीभ अिसमें अपवाद है। अुपवाससे वह अधिक बलवान् होती है।

× मैंने यहाँ आरोग्यकी दृष्टिसे, या काम, क्रोध, शोक, अनुताप आदि विकारोंके आवेगको अथवा आवेगकी पुनरावृत्तिको रोकनेके लिअे किये जानेवाले निराहार या अल्पाहार अथवा अन्य अुपभोगकी वस्तुओंके त्यागकी चर्चा नहीं की है। अैसे अुपाय रोगीको रोगमुक्त करनेके पथ्यकी तरहके हैं, और जब तक अुनकी आवश्यकता प्रतीत हो, तब तक अुनके पालनेकी जरूरत हो सकती है।

१०

स्वाद-जय—२

अिस प्रकरणमें हमें स्वाद-जयके ध्येय और विधिके सम्बन्धमें विचार करना है। अिसमें सबसे पहली बात तो यह है कि स्वाद-जय, अिन्द्रिय-जय, मनोजय, आदि शब्दोंके 'जय' शब्दका अर्थ क्या व कितना है? क्योंकि कअी बार विविध अर्थोंके पोषक शब्दोंका प्रयोग हमें विविध प्रकारकी भूलोंमें डाल देता है।

'जय' शब्दका प्रयोग शत्रुके लिअे दो तरहसे होता है। शत्रुको वश कर लेने या नाश कर देने दोनों अवसरों पर यह कह सकते हैं कि अुसे जीत लिया। 'जय' के अैसे दो अर्थोंके कारण अिन्द्रियों पर जो जय चाहते हैं वे अिन्द्रियोंका नाश करके अुनपर विजय प्राप्त करनेके चक्करमें पड़ जाते हैं और हमारे देशमें तो अिन्द्रियों पर रोष करके अुनका छेदन, ताड़न या दूसरी विचित्र पद्धतियोंसे अुनका दमन करनेकी विधियाँ भी हम अक्सर सुना करते हैं। अिन विधियोंके मूलमें सद्‌हेतु भले ही हो, फिर भी ये हैं तो आसुरी — तामसी — अशुद्धियुक्त ही।

मन या अिन्द्रियोंके प्रति शत्रुताका भाव रखना गलत है। फिर, अुन्हें वशीभूत करनेके लिअे 'जय' शब्दका व्यवहार किया जाता है और अुसने तो अिस भ्रममें और भी वृद्धि कर दी है।

यदि हम अेक ओर तो पुरुष अथवा जीव और दूसरी ओर देह, अिन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि प्रकृति अिस तरह दो तत्त्वोंकी कल्पना करें, और यदि अिन दोनोंमें किसी प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना करनी ही पड़े, तो यही समझना अुचित होगा कि देहादिक सब अिस जीवके आवश्यक साधन — औजार — हैं। यदि अिन साधनोंका नाश कर दिया जाय तो खुद जीव ही अपंग हो जाय व वह अेक भी पुरुषार्थ न साध सके। साथ ही यदि वह अिन साधनोंका सविवेक अुपयोग न कर सके, अिन पर काबू न पा सके, तो अुसकी गति अुस मनुष्यकी तरह होगी जो साअिकल पर

चढ़ना तो जानता है, किन्तु अुसे रोकना या अुस परसे अुतरना नहीं जानता। अिसका यह अर्थ हुआ कि यह अिन्द्रिय-जय या मनोजय शत्रु पर होनेवाले जयकी तरह नहीं, बल्कि साअिकल सवारका साअिकल पर प्राप्त किये हुअे जयकी तरह है: अर्थात्, अिन्द्रियोंपर काबू पाना, अुन्हें अपने अधीन कर लेना।

अिन्द्रियोंके अधीन न होना, बल्कि अिन्द्रियोंका नियामक होना यही अिन्द्रिय-जय है। विचारशील साधकका ध्येय न तो अिन्द्रियोंका नाश होना चाहिये, न निष्कारण दमन ही, वह तो अुनका नियमन होना चाहिये।

अिस तरह देखें तो स्वाद-जयका अर्थ है तरह तरहके स्वादपर जो मन चला करता है अुसका संयम। खस्ता चीजोंके लिअे, या मिठाअी-मिष्टान्नके लिअे बहुत लोगोंकी लार टपका करती है; और ये चीजें मिल जाती हैं तब अुन्हें यह होश नहीं रहता कि कितना खावें। बस, माल अुड़ानेमें न तो अुन्हें तन्दुरुस्तीका खयाल रहता है, न कअीबार स्वाभिमानका ही। अिस लोलुपताका नाश ही स्वाद-जय है।

अिसके लिअे सहजप्राप्त भोजनको छोड़नेकी या अुसे कृत्रिम रूपसे बिगाड़कर खानेकी जरूरत नहीं है। यदि वह अच्छा बना है तो अच्छा मालूम होगा और बुरा बना है तो बुरा मालूम होगा अिसमें कोअी बुराअी नहीं है। अिससे यह अन्देशा रखनेकी जरूरत नहीं है कि जीभ गलत रास्ते जा रही है। अिसके बरखिलाफ यदि चीज अच्छी बनी हो तो अुसे ज्यादा खा लेना, खस्ता या मिठाअी आदि दिलपसन्द चीजोंको खास तौरपर हासिल करनेकी कोशिश करना, जीवनके दूसरे जरूरी कामोंको करते हुअे अैसे भोज्य पदार्थोंके पानेके मौके पर ही सदैव दृष्टि रखना जीभके अधीन हो जानेके लक्षण हैं। अिस मनोवृत्तिको जीतनेका समय अुसी क्षणमें है। अुसी समय मन पर काबू रखकर जीभको वश करनेकी सावधानता रखनी चाहिअे। अिसी तरह अिस बातका भी अेहतियात रखना चाहिये कि जो चीज हमारे लिअे हानिकारक है अुसे न खावें, और न किसी तरहकी चाट या व्यसनके ही अधीन हो जायँ। भले ही आप अेक साल तक विविध प्रकारके व्रत-नियम करते रहे हों, परन्तु यदि अैन भोजनके वक्त आप अितना अेहतियात न रख सकें या किसी हानिकारक

टेवको छोड़नेकी शक्ति न दिखा सकें तो आपका सारा स्वाद-जयका प्रयत्न व्यर्थ ही समझना चाहिये।

मनुष्यका चित्त जब किसी खास विषयमें संलग्न न हो तब अुसे विविध प्रकारके विषय भोगनेकी अिच्छा हो आती है। चिन्ताग्रस्त मनुष्यको अिस बातका विचार करनेकी फुरसत नहीं रहती कि क्या खाया, क्या न खाया। अतअेव अिन्द्रिय-जयके लिअे जो दूसरी आवश्यक वस्तु है वह है चित्तको सदैव किसी अुदात्त विषयमें निमग्न कर देना। यदि किसी अुदात्त व वास्तविक ध्येयकी प्राप्ति चित्तको हो जाय तो अिन्द्रियोंकी लोलुपता कम हो सकती है।

अिन्द्रिय-जयके यत्नमें अेक और भूल यह होती है कि जिस अिन्द्रियका जय हम चाहते हैं अुसीका दिनरात विचार किया करते हैं। भले ही हम शत्रु भावसे चिन्तन करें परन्तु चित्तकी यह खूबी है कि वह चिन्तनके विषयके साथ तदाकार हो जाता है। हमारी बुराअियोंके सम्बन्धमें यह बात अधिक सच साबित होती है। अतअेव अितना ही काफी है कि हम अेक बार अुस विषय पर पूरा विचार करके अुसके सम्बन्धमें अेक ध्येय निश्चित कर लें। अुसके बाद तो हम अुस विषय या वस्तुका जितना ही विचार करेंगे अुतना ही अुसे हमारी स्मृतिके सामने हम ठहराते रहेंगे। अिसका फल बहुत बार अुलटा अनिष्ट होता है। जैसे, यदि हमें मीठी चीजोंमें अधिक रुचि हो और हमने यह तय कर लिया हो कि यह मोह अनुचित है तो हमें यही चाहिये कि हम मनको दूसरे कामोंमें लगाये रखें व मिष्टान्नको भूलनेका प्रयत्न करें। अिस मोहको मिटानेका यही कारगर अिलाज है। अुसके बजाय यदि हम दिनभर अिसी बातका विचार करते रहें कि 'मिठाअीके चस्केसे मैं कैसे छूटूँ?' और अिस तरहकी भावना द्वारा कि 'अन्तमें तो यह विष्ठा हो जाने-वाला है, अतः अिसमें मैं क्यों मन लगाअूँ?' अुसके प्रति अरुचि अुत्पन्न करनेका प्रयत्न करेंगे, तो अुससे अिष्ट फल न मिलेगा। क्योंकि अैसे विरोध-भावसे किये गये चिन्तनसे अुस मिष्टान्नका विस्मरण नहीं होता; और यदि अन्न-मात्रका लहू, मांस, विष्ठा आदिमें रूपान्तर होनेके

विचारसे अन्न या स्वादके प्रति घृणा अुत्पन्न हो सकती तो फिर विचारशील जीवन और आरोग्य — ये दोनों सर्वदा अेक दूसरेके विरोधी ही रहते। *

जब चित्त किसी व्यवसायमें लगा होता है तब वह अिस बातकी चिन्ता नहीं करता कि क्या खाया व क्या पिया! अुसी तरह यह भी याद रखना चाहिअे कि जिसका चित्त कार्यव्यस्त है वह मनुष्य यदि अच्छे स्वास्थ्यवाला हो तो अुसे किसी खास चीजके खानेकी अिच्छा नहीं होती। मामूलके माफिक घरमें जो कुछ पका हो वही यह आम तौरपर खुशीके साथ खा लेता है। जब स्वास्थ्य खराब होता है या कोअी दूसरा अुदात्त व्यापार चित्तके लिअे नहीं रहता तभी वह तरह तरहके भोज्य पदार्थोंसे मनको बहलाना चाहता है। जब जब हमें अैसी अिच्छा हो तब तब हमें यह भी सोचना चाहिये कि अिसमें शारीरिक कारण किस अंश तक है।

अैसी अिच्छाका स्वरूप जाँचते समय अेक और बात भी याद रखनी चाहिये। यदि कोअी मनुष्य सरदीमें कपड़ा पहननेकी या गरमीमें अुन्हें निकाल डालनेकी अिच्छा करता है अथवा सरदियोंमें मोटा कपड़ा व गरमियोंमें महीन कपड़ा पहनना चाहता है तो अैसी अिच्छामें कोअी बुराअी है अैसा हम न समझेंगे। न अिस कारण हम अुस मनुष्यको स्पर्शलोलुप ही कहेंगे। क्योंकि यह अिच्छा स्वाभाविक — कुदरतके

---

* जो लोग ब्रह्मचर्य पालनका प्रयत्न करते हैं अुन्हें भी यह बात याद रखनी चाहिये। स्त्रीके लिअे, 'हड्डीका ढाँचा' 'नागिन' 'बाघिन' आदि भावोंको दृढ़ करने या ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी बहुतेरी पुस्तकें पढ़नेसे अुल्टा अब्रह्मचर्यके दोष बढ़नेकी ही अधिक सम्भावना है। अेक बार यह निश्चय कर लिया कि 'हमें ब्रह्मचर्य सिद्ध करना है' तो फिर अिस बातकी चिन्ता व सावधानी तो रखनी चाहिये कि अुसमें विघ्न डालनेवाले बाहरी कारणोंसे हम बचे रहें और फिर चित्तको सदैव किसी अुदात्त व्यवसायमें ही लगाये रहें जिससे अुसे अिस बातकी याद ही न आवे कि विषय-भोग अैसी कोअी चीज दुनियामें है। 'स्त्री-निन्दा' या 'स्त्री-महिमा' दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारके लेख पढ़नेकी जरूरत ब्रह्मचर्यके साधकको नहीं है। अितना ही नहीं, बल्कि यह मार्ग अुसे कभी तरहसे हानिकारक होना ही विशेष सम्भव है। यह बात स्त्री व पुरुष दोनों पर ही घटती है।

नियमोंके अनुसार — है। यदि सरदियोंमें ओढ़नेके लिअे वस्त्र न मिले और अिससे दुखी होकर वह अपना धैर्य खो बैठे तो भी अुसके प्रति हम सहानुभूति ही रखेंगे। ज्यादासे ज्यादा हम यह कहेंगे कि वह स्थितप्रज्ञ नहीं है; परन्तु हम यह नहीं मानेंगे कि वह काल्पनिक दुःखसे पीड़ित है।

रसनेन्द्रिय पर भी यही बात घटनी चाहिअे। जिसने अपनी जीभको दुरुपयोग कर करके बिगाड़ नहीं डाला है अुसकी स्वादवृत्ति अुसके आरोग्यकी पोषक होनी चाहिये। हाँ, यह बात सच है कि आम तौरपर अैसा अनुभव नहीं होता। साधारणतः तो मनुष्य अपने आरोग्यके प्रतिकूल ही खानेकी अिच्छा किया करता है और अुसकी पूर्तिके फल स्वरूप अधिक बीमार हो जाता है। परन्तु दूसरी ज्ञानेन्द्रियोंकी तरह जीभ भी आरोग्यके अनुकूल स्वाद ही चाहे और अुतनी ही मात्रासे सन्तुष्ट रहे जितनी माफिक हो, तो अैसी स्थितिका लाना अशक्य नहीं है। और अेक अैसे सज्जनसे मैं परिचित हूँ जिनकी जीभ बराबर अिस नियमके अनुसार चलती है। अिनकी जीभ स्वादके सूक्ष्म भेदोंको भी परख सकती है; परन्तु सामान्यतः अिन्हें किसी खास स्वाद या भोज्य पदार्थके प्रति विशेष रुचि या पक्षपात नहीं देखा जाता। अिनके आरोग्यके अनुकूल सादा अतीव्र स्वादका खाना, जो अुन्हें माफिक आ गया है, मिलता रहे तो बस। परन्तु किसी कारणसे जब वे बीमार हो जाते हैं तो तबीयत दुरुस्त होते समय नीबू खानेको अुनकी तबीयत बहुत चाहती है और देखा गया है कि डाक्टरोंने भी अुन्हें अुस समय खटाअी खिलानेकी सलाह दी है। थोड़े दिन नीबू खानेसे तबीयत भर जाती है और पहलेकी तरह मामूली खुराक लेने लगते हैं।

विचार करनेसे मालूम होगा कि मनुष्यकी स्वाभाविक स्थिति अिसी प्रकारकी होनी चाहिये। जैसे आँख, कान, नाक आदि दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ शरीरके धारण, पोषण व चित्तके अभ्युदयके लिअे हैं व हो सकती हैं, अुसी तरह जीभ भी अैसी ही अुपयोगी अिन्द्रिय होनी चाहिये। अुसका अस्तित्व शरीरके नाशके या चित्तकी अवगतिके लिअे नहीं हो सकता। आज यदि अैसी स्थिति न हो तो अुसका कारण यही समझना चाहिये

कि या तो पहले अुसका दुरुपयोग हो चुका है जिससे अुसकी अुपयोगी शक्तिका ह्रास हुआ है अथवा वह विकृत मार्गमें प्रवृत्त हो गअी है।

यदि अिस विचारधारामें कोअी दोष न हो, तो हमारी जीभ आरोग्य-पोषक और चित्त-संशोधनमें सहायक हो सकती है। अिस दशाको प्राप्त करना विचारशील पुरुषका ध्येय होना चाहिये।

जिस तरह आँखको चकाचौंध करनेवाला प्रकाश दिखाते रहना या घोर अंधकारमें रखे रहना, दोनों अुसकी शक्तिको नष्ट करनेके मार्ग हैं, अुसी तरह अति मीठे, तीखे आदि तीव्र स्वादयुक्त या मिट्टी अथवा राखकी तरह बेस्वाद अथवा कुस्वादवाले भोजन दोनों अुसकी शक्तिके विघातक हैं। जिस प्रकार विकारोत्पादक दृश्य आँख द्वारा चित्तको अवनतिकी ओर ले जा सकते हैं, अतः अुनका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना ही पड़ता है, अुसी प्रकार खाने-पीनेके विकारोत्पादक पदार्थोंको भी छोड़ना ही पड़ता है। परन्तु विकारोत्पादक दृश्य ही आँख द्वारा ज्ञान या मनोरंजनके साधन नहीं हैं, अुसी प्रकार विकारोत्पादक रस ही जीभ द्वारा ज्ञान या मनोरंजन-प्राप्तिके साधन नहीं हैं।

अेक ओर तो हमारे देशमें अिन्द्रिय-जयके विषयमें जितना विचार किया गया है अुतना किसी दूसरे देशमें किया गया नहीं जान पड़ता। अिस विचारधाराकी विरासत हमें दे जानेके लिअे हम अपने पूर्वज ऋषि-मुनियोंके ऋणि हैं। परन्तु दूसरी ओर देखनेसे पता लगता है कि जीवनको सहज-प्राप्त कर्म-मार्गमें रखकर अभ्युदयका क्रम सिद्ध करनेके बजाय अुसे कृत्रिम भक्ति, कृत्रिम योग आदि मार्गोंमें प्रवृत्ति करनेकी रीति हमारे यहाँ अैसी चल पड़ी कि जिससे अिन्द्रिय-जय कठिन या अशक्य हो गया है, अुसके ध्येयके सम्बन्धमें भ्रामक कल्पना अुत्पन्न हो गअी है, और मनुष्यके अभ्युदयकी दृष्टिसे अिस विषयको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व मिल गया है। अेक जगह यदि अिन्द्रियदण्डनकी हद तक अिन्द्रिय-जय सम्बन्धी विचार जा पहुँचा है तो दूसरी जगह भक्ति, प्रसाद या अन्य किसी काल्पनिक भावके आरोपण द्वारा भोग-मात्रको पवित्र माननेकी हद तक जा पहुँचा है। अब जो अिन्द्रिय-दण्डन करना चाहता है वह प्रत्येक अिन्द्रियको तो दण्डित कर ही नहीं सकता, अतः अुसका परिणाम

यह होता है कि किसी अेक अिन्द्रिय पर अधिक कठोरता करके दूसरी अिन्द्रियोंको अधिक लाड़ लड़ाता है। अिसके सम्बन्धमें तीन विचार प्रवर्तित हैं: (१) अिन्द्रियोंके विषयों द्वारा चित्तकी प्रसन्नता अनुभव करना ही पाप वासना है; (२) विकारका अनुभव किये विना अिन्द्रियोंको प्राप्त सहज भोगोंसे चित्तकी तृप्ति हो ही नहीं सकती; (३) कुछ भोग पवित्र ही हैं अैसा मानकर अुस दिशामें अिन्द्रियोंकी वृत्तिका बेहद पोषण करना। मेरी नाक़िस रायमें ये तीनों विचार भ्रमपूर्ण हैं।

जब चित्त किसी तीव्र व्यवसायसे खाली होता है तब बहुतेरे मनुष्योंकी कोअी अेकाध कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय विशेष जाग्रत हो जाती है। वही समय अुसके लिअे सावधान रहनेका है। अुस समय अिन्द्रिय जिस प्रकारके भोगकी अभिलाषा रखती है अुसकी सदोषता, निर्दोषता और मात्रा निश्चित करनेकी आवश्यकता प्रस्तुत होती है। अुस समय जो मनुष्य अुचित व्यवहारका नियम विवेकपूर्वक ठहरा सकता है वही अिन्द्रियोंका स्वामी हो सकता है। अुस समय यदि वह विवेकको भूलकर अुसके अधीन हो जाता है तो फिर दूसरे समय किया गया तीव्र दमन भी निरुपयोगी होता है। अुस समय यदि वह अविवेकतासे अिन्द्रियोंको निर्दोष रंजन भी न करने दे तो वह अिन्द्रियजयकी चिन्तासे कभी मुक्त नहीं होता और अुसके लिअे अिन्द्रियजय स्वाभाविक होनेके बजाय अेक अलंघ्य पहाड़ जैसा हो रहता है। अैसे समय यदि वह निर्दोष रंजनकी ही अुचित मात्रा कायम न रख सके तो दूसरी तरफ अुसके कर्तव्यभ्रष्ट अथवा अविवेकी होनेका अन्देशा रहता है।

अतअेव किसी तीव्र व्यवसायके अन्तमें सादगीसे, स्नेहसे, स्नेहियोंके अलावा दूसरे पर श्रमका बोझ डाले विना, समाजके प्रति अन्याय किये विना, किसीको कष्ट या त्रास पहुँचाये विना, किसीके अीर्ष्यापात्र हुअे विना अिन्द्रियों व चित्तको निर्दोष रंजन करने देनेमें कोअी बुराअी नहीं। वह दोष तब जरूर हो जाता है जब वही हमारे लिअे अेक महत्त्वपूर्ण व मुख्य व्यवसाय बन बैठता है। यदि अत्यन्त सावधानी न रखी जाय तो यह दोष होना सहज है। परन्तु अिससे यह न समझना

चाहिये कि अुसका आत्यन्तिक निषेध भी कायम रह सकेगा। अतअेव जोखिम रहते हुअे भी विवेकका मार्ग ही सच्चा है।

हमारी अिन्द्रियों तथा चित्तके ठीक ठीक शिक्षित न होनेका यह फल है जो हमें खूब तीखे मिर्च-मसालेवाला या खूब मीठा हुअे बिना कोअी पदार्थ लज्जतदार नहीं मालूम होता, अैसे किसी अेकाध पदार्थसे ही तृप्ति नहीं होती, कोअी अेक मधुरपद या आलाप ही काफी नहीं मालूम होता, कोअी अेक ही मित्र या काव्य अेक समयके लिअे बस नहीं होता, फूल अपने पेड़पर ही रहकर जो सुगन्ध फैलाता है अुससे हमारी नाक प्रसन्नताका अनुभव नहीं करती। यह अिन्द्रियोंकी जड़ता है, जाग्रति नहीं। फिर अिन सब सामग्रियोंको अनेक गुना रचकर व सजाकर हम अपनी रसिकता प्रदर्शित करनेका दावा करते हैं।

यदि आप सम्प्रदाय-प्रवर्तकोंके जीवन चरित्रोंको पढ़कर देखेंगे तो मालूम होगा कि अिन त्याग, वैराग्य और संयमके अुपदेशकोंके जीवन-चरित्रमें सबसे अधिक पन्ने भिन्न भिन्न स्थानोंपर हुअे भोजों तथा मिष्ठान्नों, सुन्दर वस्त्रों तथा आभरणों, अित्र तथा फूलमालाओं, संगीत तथा भजनों और बाजोंकी बहारमें जो समय गया अुसके वर्णनसे ही भरे मिलेंगे। जो शिलोंछवृत्तिसे रहता है, अुसे जैसे मिट्टीसे अनाजके कण बीनना कठिन होता है, अुसी तरह अिन वर्णनोंमेंसे अिन प्रवर्तकोंके चारित्र्य और जीवन-कार्यके मौलिक प्रसंगोंको खोज निकालना कठिन हो जाता है। यह स्थिति करुणाजनक तो है ही, पर अिससे यह भी दिखाअी देता है कि अिन्द्रियजयका अविवेकके साथ किया गया प्रयत्न किस तरह मयव्याजके अपना बदला चुका लेता है।

सारांश कि स्वादजयके अिच्छुकको चाहिये कि:

(१) अैसा ही भोजन प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे जो समाजमें प्रचलित हो, सादा व आरोग्यप्रद हो, व जिसमें कमसे कम हिंसा होती हो तथा जो समाजपर बोझकी दृष्टिसे कमसे कम दोषयुक्त हो। अिससे अुसके श्रेयार्थीपनमें किसी तरहकी बाधा नहीं आती। अिस तरह यदि जीभको सादा और सौम्य स्वाद सहज रूपसे मिल जाय तो अुससे अुसे दुःखी होनेकी भी आवश्यकता नहीं है।

(२) किन्तु मिताहारके लिअे वह अवश्य प्रयत्नशील रहे। स्वादिष्ट वस्तुओंकी लालसा अुसे छोड़ देनी चाहिये। अैसी चीजें यदि अनायास प्राप्त हो जायँ, तो स्वादके वशीभूत हो अुन्हें अधिक खाना अनुचित है। अुसी मौकेपर यदि वह सावधान न रह सके तो फिर स्वादजयके लिअे किये गये सारे व्रत व्यर्थ हैं। और यदि अैसी सावधानी रख सकें तो फिर अुसे व्रतोंकी आवश्यकता नहीं।

(३) स्वाद अथवा दूसरी अिन्द्रियोंकी लोलुपता पर काबू पानेके लिअे अुनके विषयोंका वैरभावसे या दोषभावसे चिन्तन करनेमें वक्त न गवाँना चाहिये। सच्चा मार्ग तो यही है कि चित्तको किसी अुदात्त व्यवसायमें मशगूल रखे जिससे कि अिन्द्रियोंके विषय अपने-आप निर्जीव बन जायँ।

११

कर्मवाद

कर्मवादके सम्बन्धमें यदि हम सविस्तर चर्चा करेंगे तो वह बहुत लम्बी हो जायगी। परन्तु 'कर्म'-विषयक अैसी विचित्र कल्पनायें हमारे समाज में रूढ़ हो गअी हैं, और हर बात को पूर्व-कर्मपर ही नहीं, बल्कि पूर्वजन्म के कर्मपर थोप देने की प्रवृत्ति अितनी आम हो गअी है कि 'पूर्व-कर्म' शब्द हमारे सब प्रकारके अज्ञान, आलस्य और अकर्मण्यता को छुपानेका अेक सुविधा-जनक साधन हो गया है। फलाँ बहन बालविधवा है, अमुक स्त्रीको उपरातली बच्चे पैदा होते हैं, कोअी स्त्री या पुरुष बीमार है, देशमें पराधीनता है, दरिद्रता है, अस्पृश्यता है, बालमृत्यु होती है, बाढ़ आ जाती है, अकाल पड़ते हैं— तो अिन सबके लिअे हमारे पण्डित या अर्धपण्डित कहते हैं, 'जिनके जैसे कर्म' और अितना कह देनेमें अपने कर्तव्यकी समाप्ति मान लेते हैं!

अिधर जो पुरुष 'ज्ञानी' समझे जाते हैं अुन्हें अपनी भोगवासनाकी पुष्टिके लिअे भी 'प्रारब्ध'वाद अच्छा सहायक हो जाता है। 'ज्ञानी'को

भी प्रारब्ध भोगे विना छुटकारा ही नहीं है अिस ढाल्के सहारे संन्यासी मजेमें शाल-दुशाले ओढ़ सकते हैं, बेशकीमती कपड़े व गहने पहन सकते हैं तथा दुष्कर्म भी कर सकते हैं।

किन्तु सच पूछिअे तो 'पूर्वकर्म' का अर्थ अितना ही है कि हमारी कोअी भी वर्तमानस्थिति दुलारसे विगड़े किसी स्वच्छन्दी बालकके जैसे अीश्वरकी मनमानी खिलवाड़का परिणाम नहीं है, बल्कि बहुतांशमें समाजके ही किये हुअे पूर्व दोषोंका परिणाम है। हमारी वर्तमान स्थिति हमारे भूतकालके आचरणका ही फल है। फिर, जन-साधारणकी कल्पनामें पूर्वकर्मका अर्थ और भी संकुचित हो गया है। 'पूर्वकर्म'का अर्थ अिसी क्षणके पहलेका कर्म नहीं, बल्कि अेकदम ठेठ पूर्वजन्मका कर्म समझा गया है। यह बात समझनेमें हमें देर नहीं लगती कि हमारा आजका अजीर्ण हमारे कलके या दोचार दिनके खान-पान का परिणाम है। और सच पूछिअे तो यह पूर्व कर्मका ही नतीजा है। परन्तु फिर भी यह समझा व समझाया जाता है कि मेरी कोअी पुरानी बीमारी अिस जन्मके कर्मका नहीं, बल्कि पूर्वजन्मके कर्मका परिणाम है। यदि अपनी स्त्रीके साथ घरमें पटरी नहीं बैठती, लड़का सपूत न हुआ, व्यापारमें नुकसान बैठ गया, मनोरथ सफल न हो, किसी भी बातका यदि निश्चित कारण समझमें न आवे तो वह फौरन यही मान लेता है कि पूर्वजन्मका कोअी पाप ही बाधक हो रहा है।

इस प्रकार जीवनके तमाम अनुभवोंको पूर्वजन्मके कर्मके साथ ही झटसे बाँध देनेकी जरूरत नहीं है। अिनमेंसे बहुतेरे अनुभवोंके कारण हम अपने इसी जन्मके कर्मों या संकल्पोंकी छानबीन करके निश्चित कर सकते हैं। और इस जन्मके कर्मों या संकल्पोंका पता लगाये विना अेकबारगी पूर्वजन्मके अनुमान पर कूद पड़ना गलती है।

फिर, सामान्य व्यवहारमें हम कहा करते हैं और मानते हैं कि विना दो हाथके ताली नहीं बजती। यह कहावत सुख-दुःखके अनुभवों पर भी लागू पड़ती है। आज हम जिस परिणामको सहन कर रहे हैं अुसका कारण सदा हम अकेलेका ही पूर्वकर्म नहीं होता, हमारे सिवा औरोंका भी पूर्वकर्म हो

सकता है। और असे प्राकृतिक — आधिदैविक — वलोंका भी प्रभाव हो सकता है, जो हमारे काबूमें नहीं है — जैसे कि बाढ़, बिजली, भूकम्प, अनावृष्टि आदि।* हो सकता है कि कभी इस परिणामको लानेमें हमारा स्वकर्म ही बलवान हुआ हो, और कभी परकर्म अधिक प्रबल हुआ हो; कभी दोनोंका समान बल हो, और कभी कोअी आधिदैविक कारण जोरदार हो गया हो।

हमारा देश जो सदियोंसे दूसरी जातियों व देशोंसे शासित व पीड़ित होता चला आया है अुसमें जैसे हमारे पूर्वजोंकी अधोगति वैसे ही दूसरी जातियोंकी महत्वाकांक्षा भी कारणीभूत है।

अेक लड़की बालविधवा है, तो इसमें अुसका पूर्वकर्म बहुत हुआ तो इतना ही कहा जायगा कि वह बिना समझेबूझे सप्तपदीमें बैठ गई; इसके अलावा तो अुसे जो यह फल भोगना पड़ रहा है वह ज्यादातर उसके माँ-बापके कर्मकी बदौलत ही है।

मैं रेलमें सवार होअूँ यह मेरा पूर्वकर्म है। परन्तु यदि रेल अुलट जाय तो अुसमें गार्ड, ड्राइवर, स्टेशन मास्टर आदिके कर्मकी ही प्रबलताका प्रभाव ही कहा जायगा।+

---

* गीताकार भी कहते हैं, 'अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न भिन्न अिन्द्रियाँ, विविध व्यापार और दैव — अिन पाँच कारणोंसे कर्म होता है।' (अ० १८ : १४–१५)। फिर सहजानंद स्वामीका 'वचनामृत' देखिये : ग. प्र. ७८ देश, काल, क्रिया, संग, मंत्र, देवताका ध्यान, दीक्षा और शास्त्र, ये आठ कारण मनुष्यों पर प्रभाव डालते हैं और ये पूर्वकर्मके अुपरान्त हैं। ये सब पूर्वकर्मके अधीन नहीं हैं। क्योंकि 'यदि पूर्वकर्मके कारण देशादिक आठ प्रभाव डालते हों तो फिर मारवाड़में जो कअी पुण्यवान् राजा हो गये हैं अुनके लिअे सौ हाथ गहरा पानी अुथला नहीं हो गया; और यदि देश पूर्वकर्माधीन हो तो फिर पुण्यकर्मी लोगोंके लिअे पानी अूपर आ जाना चाहिये और पापियोंके लिये नीचे चला जाना चाहिये। किन्तु अैसा होता नहीं। . . . अतअेव देशादिक पूर्वकर्मके फिराये नहीं फिर सकते।

+ यदि वह अीमानदारीसे अैसा मानता हो कि प्रत्येक मनुष्य अपने ही पूर्वकर्मके कारण सुखदुःख भोगता है तो फिर कोअी हिन्दू रेल्वे कम्पनी पर हरजानेका दावा ही नहीं कर सकता।

संसारमें कोअी भी घटना बिना द्वंद्वके — अर्थात् कमसे कम दो बलोंके बिना — नहीं हो सकती। बादलोंमें चाहे कितनी ही बिजली — शक्ति — छुपी पड़ी हो परन्तु वह प्रकाशित तभी हो सकती है जब द्वन्द्व रूपमें हमारी पकड़में आती है। अब यह प्रश्न है कि किसी परिणामके लिअे दोमेंसे किसके कर्मको जिम्मेदार समझा जाय? तो यह कह सकते हैं कि अुस कर्मका संकल्प जिसने किया हो अुसीको अुसका कारण समझना चाहिये। जैसे, वैधव्य शादीसे अुत्पन्न होनेवाला अेक परिणाम है। अतः अिसका जिम्मेदार वही शख्स है जिसने अुस विवाह-क्रियाका संकल्प किया हो। अब बाल-विवाहमें माता-पिता ही विवाहका संकल्प करते हैं अतएव यह अुन्हींके कर्मका परिणाम मानना चाहिये। लड़कीके पूर्वकर्मके पापसे अुसे वैधव्य प्राप्त हुआ अैसा कहना 'पूर्वकर्मवाद'का दुरुपयोग है

अिसपर कोई कहेगा कि यदि माँ-बापके कर्मका परिणाम लड़कीको भोगना पड़े तो यह तो अन्याय हुआ। आप अिसे चाहे न्याय कहिये, चाहे अन्याय, संसारमें अैसा कोई अेकान्तिक नियम नहीं है कि मनुष्यको स्वकर्मके फल भोगने ही पड़ते हों। और अिस भ्रमके दूर हो जानेकी आवश्यकता है। रूढ़ियाँ अटल हैं, अिस धारणाके कारण हम जहाँ तहाँ पूर्वजन्मके ही कर्मको देखते हैं। पर सच बात यह है कि कितने ही परिणाम स्वसंकल्पजनित हैं, कितने ही परसंकल्पजनित और कितने ही अुभयजनित हैं। मनुष्य केवल अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि ब्रह्माण्डके अेक अवयवकी दृष्टिसे विचार करे तो अिसका कारण स्पष्ट रूपसे समझ सकता है। व्यक्ति स्वायत्त भी है और ब्रह्मांडायत्त भी है। अकाल पड़ता है तो यह नहीं कह सकते कि वह अकालपीड़ितोंके स्वसंकल्पसे ही होता है, बल्कि वह ब्रह्माण्डके संकल्पका — अर्थात ब्रह्माण्डकी शक्तियोंका — परिणाम है।

जब अतिवृष्टि, बाढ़ आदि कारणोंसे मनुष्यसमाज पर विपत्ति आती है और अनेक मनुष्योंका संहार हो जाता है, तब कहते हैं कि संसारमें पाप बढ़ जानेसे यह दण्ड मिला है। अैसा माननेकी और हम चाहे अिसे न भी मानते हों तब भी अैसा कहनेकी आदत पड़ गअी है।

दूसरी तरफ अन्य छोटे-बड़े प्राणियोंका संख्याकी दृष्टिसे अिससे भी बढ़कर भयंकर प्रलय रोज हुआ करता है। कितनी ही चीटियाँ रोज मोरीके पानीकी बाढ़में बह जाती हैं और आगमें जल जाती हैं। सृष्टिमें जो कुछ अुत्पात होते हैं वे सब मनुष्यके ही पाप-पुण्यकी बदौलत होते हैं अैसा मानने या कहनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि अुत्पातोंका होना सृष्टिके स्वभाव या नियमके विरुद्ध नहीं है। जैसे रोज छोटे छोटे जन्तुओंके भयंकर संहारका नम्बर आता है अुसी तरह कभी कभी बड़े प्राणियोंकी भी बारी आ जाती है। अिसमें अैसा कहनेकी जरूरत नहीं कि यह दैव-दण्ड है। जगत जब पुण्यशाली बन जायगा तब भी अैसे अवसर आ सकते हैं। अैसे समय, जिनपर अैसा संकट आ जाय, वे अपने कियेका फल भोगते हैं, अतअेव अुन्हें भोगने देना चाहिये, यह कहना शुष्क ज्ञान है। और यह मानकर शोक करना कि यह पापकी बढ़तीका चिह्न है प्रज्ञावाद* है।

हम यह नहीं कहते कि हमारा अपना पूर्वकर्म कारणीभूत होता ही नहीं। अनेक लोगोंपर जब भयंकर आफत आती है और अुसमें अनेकोंका संहार हो जाता है तब यदि अचानक कोअी व्यक्ति बच जाता है अथवा किसी प्राणघातक दुर्घटनासे अकल्पित रूपसे सही-सलामत निकल आता है तब यह माना जा सकता है कि यह जीवन-धारणके किसी प्रबल संकल्पका — अेक प्रकारके पूर्वकर्मका — परिणाम है। परन्तु हर जगह पूर्वकर्म और तिसमें भी पूर्वजन्मके कर्मको सामने खड़ाकर देना गलत है।

* "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।" यह गीताके अर्थमें शोक व प्रज्ञावाद है।

१२

अध्यासवाद – १

शास्त्रमें लिखा है कि जीवको अिस देह तथा अिन्द्रियादिमें अहन्ताकी भावना हो गअी है; अिस अध्यासको छोड़कर यदि वह अैसा अध्यास करने लगे कि 'मैं आत्मा हूँ', तो जीवपन दूर होकर अुसे ब्रह्मपन प्राप्त हो जाय। अैसे अध्यासके लिअे अिली और भ्रमरका दृष्टांत प्रसिद्ध है। वैज्ञानिकोंका अवलोकन कुछ भी हो, परन्तु वेदान्तियोंका यह दृढ़मत है कि अिली भ्रमरका ध्यान करते करते स्वयं भ्रमर बन जाती है। अैसा अध्यास चाहे भयसे हो वा प्रेमसे हो या वैरसे किसी तरह हो अुससे तदाकारता पाना यह नियम ही है।

दृष्टान्त भले ही गलत हो। अिसके वैज्ञानिक सत्यासत्यका हमें झगड़ा नहीं अुठाना है। यह बात भी सच है कि चित्त किसी भी पदार्थका यथार्थ ग्रहण, फिर वह क्षणभरके लिअे भी क्यों न हो, अुसके साथ तदाकार हुअे बिना नहीं कर सकता। तदाकार होनेका अर्थ यह है कि चित्तका स्वामी अुतने समय तक अपना अस्तित्व लगभग भूल जाता है और केवल पदार्थमय बन जाता है। और यह भी सच है कि देह अिन्द्रियों आदिके साथ अुसका अैसा तादात्म्य आम तौरपर रहा ही करता है।

जब तक चित्तकी अैसी तदाकारकी स्थिति रहती है तब तक वह पदार्थका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करते हुअे भी अुसके संबंधमें तटस्थताके साथ निर्णय करनेमें असमर्थ रहता है। तादात्म्यके बिलकुल हट जानेके बाद ही वह अुस पदार्थके स्वरूपका योग्य निर्णय कर सकता है। अतअेव कहना होगा कि पूर्वोक्त शास्त्रवचनमें चित्त-धर्मोंका कुछ हद तक सही ज्ञान है।

परन्तु अिस वचनका अर्थ साधक अैसा समझता है कि जीवपनका ध्यास मिटानेके लिअे 'मैं आत्मा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं सच्चिदानन्द हूँ', 'मैं आनंद हूँ', 'मैं साक्षी हूँ', 'मैं द्रष्टा हूँ', 'मैं देहादिकसे

भिन्न हूँ', 'मैं अलिप्त हूँ', 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्माऽस्मि' आदि सूत्र रटना और अैसी भावना करनी चाहिये ।

अिस विषयमें संत लोग अेक कहानी कहते हैं: अेक किसान किसी सन्तके पास आत्मज्ञानकी अिच्छासे गया । सन्तने पूछा—'तुझे दुनियामें सबसे ज्यादा प्यारी चीज क्या है?' अुसने कहा—'मुझे अपनी भैंस सबसे अधिक प्यारी है' तब सन्तने उसे अेक कमरेमें बिठाकर कहा —'अिस कोठरीमें छह महीने बैठकर अपनी भैंसका ही विचार किया कर। छह महीने बाद मैं आअूँगा।' तदनुसार अुसने छह महीने तक भैंसका ही चिन्तन किया। मियाद खतम होनेपर साधु आये और अुन्होंने किसानसे कहा कि बाहर निकलो । तब अुसने जवाब दिया—'महाराज ये मेरे सींग दरवाजेसे बाहर कैसे निकलेंगे?' तब साधुने समझ लिया कि अिसने यथावत् चिन्तन किया है और फिर अुसे अुपदेश दिया ।

अिस कथाका तात्पर्य कितने ही साधु अिस तरह समझाते हैं, और साधक भी मानते हैं कि अिस तरह यदि साधक ब्रह्मके साथ भी अध्यास करने लगे तो अुसकी वृत्ति ब्रह्माकार हो जायगी ।

अिस दृष्टांतके साथ भी हम झगड़ा न करेंगे परन्तु अिसे चरितार्थ करनेमें और अिसका तात्पर्य समझनेमें बहुत भूल हो जाती है।

पहले तो यह समझ लेनेकी जरूरत है कि देहादिमें अहन्ता केवल अध्यासका परिणाम नहीं है और आत्मज्ञान अध्यासका विषय नहीं है। 'ब्रह्माकार वृत्ति करना,' 'आत्माके साथ तदाकार होना' आदि भाषा ही साध्य विषयक अज्ञान सूचित करती है ।

फर्ज कीजिये कि कोअी बच्चा अपनी धायको माँ ही समझता आया है । अब बहुत बरसके बाद यदि अुसे मालूम हो कि अुसकी माँ तो बचपनमें ही मर गअी थी और अुस धायने ही अुसे पाल-पोसकर बड़ा किया है । अितना समझनेके बाद अुस धायमेंसे माँ-पनके अध्यासको निकाल डालनेमें अुसे कितना समय लगेगा? 'यह मेरी माँ नहीं है' क्या अुसे अैसी रट लगानी पड़ेगी? अिसी तरह अुस किसानका—यदि छह महीनेमें अुसे सदाके लिअे चित्तभ्रम न हो गया हो तो—वह भैंसपनका अध्यास छुड़ानेमें कितना समय लगेगा? क्या यह रट रटकर कि

'मैं भैंससे भिन्न हूँ, केवल भैंसका द्रष्टा हूँ' असे भैंसका अध्यास छोड़ना पड़ेगा? यदि देहमें अहन्ता — मैं-पनका अध्यास — अिस प्रकारका आगन्तुक हो, तो फिर वह चाहे कितने ही अरसेसे क्यों न आया हो, असे छोड़नेके लिअे रटन करनेकी जरूरत न रहेगी। और आत्म-ज्ञान यदि भैंसके जैसे अध्याससे ही प्राप्त होनेवाली वस्तु हो, तो यह अध्यास भी — सदाके लिअे चित्तभ्रम हुअे बिना — सब अध्यासोंकी तरह नाशमान ही रहेगा। तब अिस विषय में सही बात क्या है? अिसकी चर्चा अब दूसरे परिच्छेदमें करेंगे।

१३
अध्यासवाद — २

हमें अेक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि हमें अपने शरीरका या असके किसी अंशका, या जगतका जो कुछ ज्ञान है वह चित्तके द्वारा ही है। जिसकी ओर चित्त आकर्षित हो जाता है और वह जितने भागमें व्याप्त होता है अुतने ही भागका ज्ञान या भान हमें होता है। हवा जितने भागमें भरी जाती है अुस सारेमें व्याप्त हो रहती है। अुसी तरह चित्तकी व्यापकता पदार्थके आकारके अनुसार अल्प या विशाल होती है।

मामूली हालतमें, जाग्रतिमें या स्वप्नमें, चित्त किसी न किसी पदार्थसे संलग्न ही रहता दिखाअी देता है; फिर वह पदार्थ शरीर हो, शरीरका कोअी भाग हो, या बाह्य जगतकी कोअी वस्तु हो। जाग्रतिमें बाह्य वस्तुका ज्ञान चित्तको ज्ञानेन्द्रियोंके स्थिर गोलकों द्वारा अथवा भूतकालमें प्राप्त ज्ञानकी स्मृति द्वारा होता है। स्वप्नमें भी कुछ स्मृतियोंकी जाग्रति होती है।

कागजपर जो शकल बनाअी जाती है असे हम चित्र कहते हैं। अब हमारी आँख न तो कागजको चित्रके बिना, न चित्रको कागजके बिना ही ग्रहण करती है। हम दोनोंको अेक साथ ही देखते हैं। लेकिन कागजपर चित्रके रहते हुअे भी यदि हम केवल कागजका ही विचार करना

चाहें तो अिसमें दिक्कत नहीं होती। अुसी तरह यदि अकेले चित्रका ही विचार करना हो तो भी अुसमें कागज कोअी बाधा नहीं डालता। कागज और चित्र दोनोंमें अन्वय (योग-सम्बन्ध) करके हम अुस सारेको 'चित्र' कहते हैं। कागज और चित्रका परस्पर व्यतिरेक (भिन्नता-सम्बन्ध) करके हम दोनोंको जुदा जुदा पहचानते हैं। परन्तु जब हम दोनोंकी भिन्नता खयालमें लाते हैं तब भी दोनोंका अन्वय दृष्टिके बाहर नहीं रहता, और कागज या शकलको मिटाकरके ही व्यतिरेकताका विचार नहीं करना पड़ता।

अब, जैसा कि पिछले लेखमें बताया गया है, चित्त जब किसी पदार्थके साथ तन्मय हो जाता है तब अुतने समयके लिअे अुसे अुसमेंसे अपने अस्तित्वका भान लगभग लुप्त हुआ प्रतीत होता है। परन्तु जब अैसी तन्मयतासे व्युत्थान — अुठान — होता है तब अुसे अेक तरफ अुस पदार्थका भी भान होता है व दूसरी तरफ खुद अपने अस्तित्वका भी।

हमें जो अपने अस्तित्वका भान होता है अुसे हम अपना 'मैं-पन' कहते हैं। यह मैं-पन — अस्मिता — चित्तकी अेक स्थिति है। अतअेव जितने भागपर चित्त व्याप्त रहता है अुतने ही भागपर अुतने समय तक अुसका अहंकार फैलता है। और अस्तित्वके भानयुक्त चित्त तथा अुससे व्याप्त पदार्थ दोनोंमें कागज और शकलके जैसा अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है। जब हम यह कहते हैं कि मैं भारतीय हूँ, हिन्दू हूँ, वैश्य हूँ, काला हूँ, बहरा हूँ, रोगी हूँ, पुरुष हूँ, विकारी हूँ, अपढ़ हूँ, आदि तब हम अपने अहंकारकी व्याप्ति और संकोच तथा देश, धर्म, वर्ण, शरीर, अिन्द्रिय, प्राण, लिंग, भावना, बुद्धि आदिका अन्वय सम्बन्ध ध्यानमें लाते हैं। परन्तु अस्मिताको अेक ओर रखकर केवल देश, धर्म, वर्ण आदिका विचार करनेमें हमें दिक्कत नहीं आती। अिन सबका हम अपनी अस्मितासे व्यतिरेक कर सकते हैं। और वह व्यतिरेक करते वक्त हमारा भारतीयपन, हिन्दुत्व, वैश्यत्व आदिका नाश नहीं हो जाता।

हमारे शरीरसे बाहरके जो पदार्थ हैं — जैसे कि हमारा कुटुम्ब, वर्ण, देश, आदि — अिनके साथ हमारी अस्मिताका व्यतिरेक करना कठिन

नहीं होता। मेरी भारतीयता औपाधिक है, हिन्दुस्तानमें मेरा जन्म होनेके कारण बनी है, मैं वस्तुतः अुससे अलग हूँ, अिस बातको लक्षमें लानेके लिअे अिस सम्बन्धका विनाश होना ही चाहिये यह हमें आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

परन्तु जैसे अेकाध मनुष्य अैसा हो सकता है, जो चित्रवाले कागजका विचार बिना अुस शकलके नहीं कर सकता, अुसी तरह शरीर और अुसके अवयव, चित्त और अुसके धर्म — भावना, बुद्धि आदि — का व्यतिरेक करके मैं-पनका विचार करना बहुतेरे लोगोंके लिअे आसान नहीं। आम तौरपर हम अुसे किसी पदार्थके साथ अन्वित ही देखते हैं। परन्तु यही तो श्रेयार्थीको सिद्ध करना है। अस्मिताका — अपने मैं-पनके भानका — अत्यन्त व्यतिरेक करना, अन्वित पदार्थोंको अेक ओर करके अुसके सूक्ष्मतम स्वरूपको ध्यानमें लाना ही तो अुसकी शोधका विषय है।

अिस शोधमें, जैसे कि किसानने भैंसका चिन्तन किया था, किसी पदार्थ या जपपर अपना चित्त अेकाग्र करनेकी जरूरत पड़ सकती है। परन्तु यह दूसरी बात है। अपने घरको बिजलीकी झपटसे बचानेके लिअे जैसे अुसपर अेक नुकीला तार लगाके अुसे जमीनमें अुतार दिया जाता है जिससे बिजली अेक केन्द्रमें आकर निश्चित मार्गसे बह जाय; सारे खेतमेंसे जब पानी बहने लगता है, तब खेतकी रक्षाके लिअे किसान अुस पानीका बहाव किसी अेक जगहसे रास्ता काटकर बना देता है, अुसी तरह यह अेकाग्रता चित्तको संशोधनके योग्य बनानेके लिअे अुपयोगी है।

परन्तु अिसमें महत्वकी बात यह है कि यह विषय शोधनका, चित्तकी अस्मिताके परीक्षणका और पृथक्करणका है; और अुसमें स्थिरता प्राप्त करना हमारे चित्तकी शुद्धि और विकासका फल है। अध्यासका — कल्पना करनेका — चित्तको ब्रह्मत्वका रंग लगा देनेका यह विषय नहीं है, और न यह सिर्फ तर्कका अथवा श्रवणसे या वाचनसे समझ लेनेका विषय ही है।

अिस विषयको यथार्थ न समझनेके कारण श्रेयार्थी पुरुषको अिसमें अेक और भी भ्रम पैदा हो जाता है। लेकिन अुसका विचार हम दूसरे प्रकरणोंमें करेंगे।

१४

देहका सम्बन्ध

हमारे शास्त्र कहते हैं—‘तुम्हें जो देहका अध्यास हो गया है, अुसे छोड़ दो और यह समझो कि मैं देहसे भिन्न, देहके सब धर्मोंसे भिन्न धर्मवाला, अविनाशी, अलिप्त, सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ।’ अिसका अर्थ यह समझा गया है कि देहका अध्यास ‘मैं देह नहीं हूँ’ अैसी भावना करनेसे छोड़ा जा सकता है और अैसी भावना करनेसे कि ‘मैं ब्रह्म हूँ’ ब्रह्मत्व सिद्ध किया जा सकता है। अिस तरहके किसी विचारके वश कितने ही श्रेयार्थियोंके प्रयत्नका ध्येय अैसी स्थिति प्राप्त करना बन जाता है कि जिससे चित्तमें कभी जगतका स्मरण ही न हो। और अैसे ही विचारोंकी बदौलत हठयोगके वे सब प्रकार भी अुत्पन्न हुअे हैं जिनसे अैसी स्थितिमें बहुत समय तक रहा जा सके।

परन्तु जब तक देहमें प्राण है, तब तक यह सम्भव नहीं कि देह या जगतका विस्मरण सदाके लिअे किया जा सके। महीना छह महीना या यों कहिये कि हजारों वर्ष तक भले ही वह निश्चेष्ट पड़ा रहे किन्तु ध्यानाभ्यासकी मियाद खतम होनेपर फिर देह व जगतका सम्बन्ध और अुस सम्बन्धके साथ ही भूख-प्यास आदि अूर्मियाँ तथा अब तकके अर्जित विकार जाग्रत हुअे बिना नहीं रहते।

अिससे कितने ही श्रेयार्थियोंका अैसा मत बनता है कि जब तक देह है तब तक केवल आत्म-स्थितिमें रहना अशक्य है। वे मानते हैं कि जहाँ अेक बार देहसे छूटा जा सके तो फिर आत्मा अपनी कैवल्य दशामें ही रहेगा।

अिस विचारसे यह कल्पना पैदा हुअी है कि ‘मोक्षानुभव’ के लिअे देहका नाश आवश्यक है; और दुःख-रूप अिस देहका और अुसके साथ लगी हुअी माया तथा अविद्याका सम्बन्ध टालनेकी अिच्छासे श्रेयार्थियों द्वारा आत्महत्या करनेके अुदाहरण वैदिक तथा बौद्ध साहित्यमें

मिलते हैं। भैरवजप, काशीकरवत आदि आत्महत्या करनेके प्रकार अैसी ही कल्पनाओंसे अुत्पन्न हुअे हैं।

अिस कल्पनाको वासनाक्षयका विचार भी दृढ़ करता है। वासनाक्षयका अधिक विचार हम अगले किसी परिच्छेदमें करेंगे। यहाँ तो अितना ही कहना है कि वासनाके विना शरीरकी अुत्पत्ति नहीं हो सकती और देहका अस्तित्व वासनाके अस्तित्वका चिह्न है — अिस स्थापना परसे साधक यह समझता है कि अिसकी अुलटी स्थापना भी यानी, देहके नाश होते ही वासनाक्षय भी हो जायगा, सिद्ध होती है। अथवा अपने सम्बन्धमें वह कल्पना कर लेता है कि मेरा वासनाक्षय तो हो ही चुका है, फिर भी देहका नाश नहीं होता, अतः अब मैं खुद ही अुसका अन्त कर डालूँ; अथवा देहका नाश करनेकी अिच्छा अुत्पन्न होना ही सूचित करता है कि अब आत्माका 'वियोग' (!) अेक क्षणभरके लिअे भी मुझे असह्य हो रहा है। किन्तु वह अिस बातको नहीं देख सकता कि देहनाशका जो आग्रह अुसे है अुसीमें अुसकी वासनाके मूल बाकी बच रहे हैं। अस्तु। लेकिन यह सारी विचारसरणी देहसम्बन्ध, आत्मसत्ता, वासना आदि विषयक हमारे अतिशय भ्रमका ही परिणाम है।

जरा सोचनेकी बात है कि यदि आत्मज्योति अितनी हद तक मन्द या मलिन हो कि वह देह अथवा मायाके कारण आच्छादित या क्षीण हो जाती है, तो फिर कहना चाहिये कि देह या माया ही आत्मासे अधिक बलवान है। तो फिर अैसी निर्बल आत्माकी खोजसे फायदा ही क्या! यदि सत्य और चैतन्य-रूप आत्मा ही ब्रह्म अर्थात् महान व सर्व शक्तिमान हो, तो फिर मायाका आवरण चाहे कितना ही प्रबल व दृढ़ हो, अुसकी शक्ति अुसका भेदन करनेमें समर्थ होनी ही चाहिये, और हमें अिस आवरणके रहते हुअे भी अुसमेंसे अुसका अस्तित्व ढूँढ़ निकालनेमें समर्थ होना चाहिये। फिर यदि देह ही समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेका साधन है, तो फिर देहके कायम रहते हुअे भी हमें अुनकी प्राप्तिमें समर्थ होना चाहिये। यदि देहके रहते हुअे हम अुसे न पहचान सकें तो फिर देह चले जानेके बाद वह अवश्य मिल रहेगा, अिस श्रद्धाके लिअे कोअी आधार नहीं मिलता। मेरी जानकारीमें अैसा कोअी

शास्त्रवचन भी नहीं है। परन्तु यदि हो भी, तो वह कल्पनाजन्य ही हो सकता है, अनुभवजन्य नहीं।

चित्तकी शुद्धि, अेकाग्रता और निरोध, चित्तमें अुठनेवाले स्पष्ट भावों — सम्प्रज्ञानोंका — पृथक्करण, प्रज्ञाकी सूक्ष्मता, ध्येय प्राप्तिके लिअे अत्यन्त तीव्र किन्तु बुद्धि और अुत्साहयुक्त श्रम व व्याकुलता — अितने साधन आत्मसत्ताकी पहचानके लिअे अुचित हो सकते हैं। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि जो कुछ हासिल करने जैसा है वह हमें देहके रहते हुअे ही करना है। यदि संसारके दूसरे तत्वज्ञानोंसे आर्य-तत्वज्ञानकी कोअी विशेषता हो तो वह अिसी बातमें है कि आर्य-तत्वज्ञान अनुभवकी भित्तिपर रचित है, और अुसका अन्तिम ज्ञेय जीवित अवस्थामें ही साध्य करना है।

'कहिअे करें किस रीतसे दर्शन भला अिस देवके?
'ये बोल हैं अज्ञानसे बिगड़ी हमारी टेवके।
'अणुमात्र भी न जुदा लखो निज पास नित्य मुकाम है।
'करके अनुभव जान लो बस अेक अितना काम है॥'+

(केशवकृति)

\+ मूल गुजरातीका अनुवाद।

१५

वासनाक्षय

वासनाओंकी निवृत्ति करना प्रत्येक साधकका ध्येय होता है; क्योंकि हमारे तत्त्व-विचारकोंको यह प्रतीत हुआ है कि वासना ही बन्धन और जन्म-मरणका कारण है; और असलिअे वासनाओंके त्यागका अुपदेश दिया जाता रहा है।

परन्तु साधक अिस विषयमें बहुत बार चक्करमें पड़ जाता है। जब कभी जीवनसे या जीवन-कर्मोंसे जी अूब जाता है, जीवनमें असफलतायें मिलनेसे जगत या सम्बन्धियोंके प्रति मनमें कुछ अुदासीनता आ जाती है, अकालमें बुढापा आया लगता है, वैराग्यका क्षणिक या अूपरी आवेग आ जाता है, तो अिन सबको देखकर साधक यह खयाल करने लगता है कि अब मेरी वासना निवृत्त होने लगी है और अिसे आध्यात्मिक दृष्टिसे अेक शुभ चिह्न समझता है; और अिस प्रकारकी वृत्तिको दृढ़ करनेका यत्न करता है।

परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो वासनाकी जड़ें अितनी अुथली नहीं हैं कि झटसे अुखड़ जायँ — वासनाक्षय हो जाय। हाथमें लगी मिट्टी जैसे हाथ झटकारनेसे या धो लेनेसे निकल जाती है अुस तरह वासना झटकारी या धोअी नहीं जा सकती। अथवा जैसे किसी पौदेको जड़से अुखाड़ दिया जाता है अुस तरह वासनाका अुच्छेद नहीं किया जा सकता।

कल तक यदि किसीके मनमें शादी करूँ या ब्रह्मचारी बनकर रहूँ, खूब धन-दौलत पैदा करूँ या देश-सेवामें पड़ूँ या फिर संन्यास ले लूँ, विलायत या अमेरिका जाकर खूब अध्ययन करूँ या हिमालयमें जाकर अेकान्त चिन्तनमें जीवन लगाअूँ, अिस तरह दुविधा रही हो और फिर वह किसी मनोवेगके अधीन हो संन्यास लेकर हिमालयमें चला गया तो अिससे यह न समझना चाहिये कि अुसकी वासनाओंका

पूरी तरह अुच्छेद हो गया है। बहुरूपिया जैसे स्वांग बदल बदलकर आता है अुसी तरह वासना नये नये निमित्त पैदा करके नये स्वांग बदलकर आया करती है।

मुझे तो 'वासनाका अुच्छेद' यह शब्द-प्रयोग ही भ्रमपूर्ण मालूम होता है। जैसे पिछले दिनोंमें मिट्टीके तेलकी बदबू निकाल डालनेके लिअे नागरबेलके पान हाथमें मल लिये जाते थे अुसी तरह मलिन व स्वसुख विषयक वासनाओंको संयममें रखके अुनको परोपकारी व शुभ वासनाओंमें रूपान्तर करना, अिन शुद्ध वासनाओंको विवेकसे फिर और शुद्ध करना और अुन्हें अितनी पुष्ट कर लेना कि फिर वे वासनाके रूपमें ही न रहें, बल्कि केवल सात्विक प्रकृतिके रूपमें सहज गुण बनकर रहे और अन्तमें विलयको प्राप्त हो जायँ — यह वासनाओंका अन्त लानेका मार्ग हो सकता है। अतअेव वासनाके अुच्छेदकी जगह 'वासनाकी अुत्तरोत्तर शुद्धि करना' यह शब्दप्रयोग मुझे अधिक अुचित मालूम होता है। अशुभ वासनाओंको दबाकर शुभवासनाओंका पोषण करना, और शुभ वासनाओंको निर्मल बनाते जाना — यह विधि समझमें आने लायक है। जैसे बहुत महीन अंजन आँखमें आँजनेसे चुभता नहीं है, जैसे फूलोंका सूक्ष्म पराग वातावरणको बिगाड़ता नहीं, अुसी तरह वासनाका अत्यन्त निर्मल स्वरूप चित्तके लिअे अशान्तिकर अथवा सत्यकी शोधमें बाधक नहीं होता। यदि निर्वासनिकताके व अिसके बीचमें कोअी अन्तर हो तो वह बहुत ही सूक्ष्म है।*

यहाँ वासना व स्वभावमें जो भेद है वह भी ध्यानमें रखना चाहिये। वासना मनमें अुठनेवाली अेक अभिलाषा है और अुसका प्रेरकबल है हमारे अन्दरकी क्रियाशक्ति। जब अिस वासनाके अनुसार बार बार आचरण किया जाता है तो अिससे अेक वा अनेक गुण दृढ़ होते हैं और धीरे धीरे वे ही हमारा स्वभाव बन जाते हैं। फिर बिना अभिलाषाके भी अिस स्वभावके अनुसार हमसे व्यवहार या कर्म हो जाते हैं। जो

---

* $\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८}+\frac{१}{१६}$ .... के अनवधि तकका जवाब और १ के बीचमें जो फर्क हो सकता है, अुतना कल्पित किया जा सकता है।

अभिलाषायें हमें विवेक-विचारसे सदोष, अशुद्ध, स्वार्थरत, अवांछनीय या परिणाममें तामसी मालूम हों अुनके अधीन न होना व अितना मनोनिग्रह करना कि अुनकी प्रेरणाओंका पालन न हो, सर्वथा अुचित है। परन्तु अिसके साथ ही यदि शुभ अभिलाषाओंका पोषण करके सात्विक प्रकृतिको दृढ़ करनेका अुद्योग विवेकपूर्वक न किया जाय और फिर परिणाममें केवल निष्क्रिय होनेका मिथ्या प्रयत्न ही हमसे होता रहे, तो आगे चलकर वह क्रियाशक्ति विकृत स्वरूप धारण करके कुपित हुअे बिना न रहेगी; फिर चाहे वह क्रियाशक्ति आत्महत्याके यत्नका स्वरूप धारण करे, चाहे तो — शुद्ध वेदान्तका आश्रय करनेसे — स्वच्छन्दतामें परिणित हो जाय, और चाहे तो — चित्तभ्रम पैदा करके — पिशाचवृत्तिका रूप ले ले। ये परिणाम अिसलिअे हो जाते हैं कि मूलतः सात्विकताके अेक अंशसे युक्त साधक अपनी तामस व राजस वृत्तियोंको युक्तिसे ठीक रास्ते ले चलनेका ज्ञान नहीं रखता। यह चित्तके पुष्ट व निरोग विकासकी स्थिति नहीं मानी जा सकती।

हाँ, आत्मशोधनके लिअे चित्तका निरोध अपेक्षित है; अुसके लिअे वासनाबल पर अपना प्रभुत्व रखनेकी कला जानना भी अपेक्षित है; किन्तु आत्मशोधनके लिअे, या किसी प्राकृतिक सत्य-शोधनके लिअे अेक तीसरी चीज भी जरूरी है। लेकिन अुसकी ओर बहुत कम साधकोंका ध्यान गया मालूम होता है। और अिसका कारण है वासना और चित्तवृत्तियोंके परीक्षणकी खामी। वह तीसरी आवश्यक वस्तु है चित्तके पूर्वग्रहोंका त्याग और शोधनीय वस्तुके प्रति निष्कामता — पिछले खण्डमें जो भक्तिका हार्द बताया गया है वैसी वृत्ति।

लेकिन अिस विषयका विचार अब अगले परिच्छेदमें करेंगे।

१६

पूर्वग्रह

प्रायः बहुतसे साधक आत्मशोधनके विषयोंमें अपने पूर्वग्रहोंका त्याग नहीं कर सकते। जिस वस्तुकी शोध करनी है अुसे अुसने खुद देखा नहीं, जाना नहीं, शास्त्रोंने अुसका निषेधात्मक ढंगके सिवा दूसरी तरहसे वर्णन किया नहीं, और अैसा कहा है कि मन और वाणी अुस तक पहुँच ही नहीं सकती, फिर भी सच्चिदानन्द, सत्य, शिव, सुन्दर, आदि बाह्यत: वर्णनात्मक और विधेयात्मक दीखनेवाले शब्दप्रयोगोंके कारण* बहुतेरे साधक आत्माके और आत्म-प्राप्तिके फलोंके सम्बन्धमें कुछ दृढ़ कल्पनायें बना रखते हैं, और फिर अुन्हीं कल्पनाओंके अनुरूप स्थितिको खोजने व पानेका प्रयत्न करते हैं।

अुदाहरणके लिअे शास्त्रोंमें कहा है कि आत्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप है। मनुष्य आनन्द व ज्ञानकी कल्पना कर सकता है। अतः वह अपनी कल्पित आनन्द व ज्ञान-दशामें चित्तको पहुँचानेका प्रयास करता है; और जब कभी वह आनन्दसे विभोर हो जाता है अथवा जो पहले अस्पष्ट थी अैसी कोअी बातका अुसे खुलासा मिल जाता है तो मानता है कि अुस समय वह आत्मस्थितिमें था। अुसी तरह अुसने यह भी कल्पना कर रखी है कि जिसे आत्म-प्रतीति हो चुकी है वह सर्वज्ञ होना चाहिये क्योंकि आत्मा ज्ञान-रूप है। अतअेव अुससे यदि किसी भी विषयमें

---

* शास्त्रकारोंका तो अन्तिम निर्णय यह है कि 'सच्चिदानन्द' शब्द विधेय स्वरूपी नहीं, बल्कि व्यावृत्ति-रूप है। अर्थात् आत्माको जो सच्चिदानन्द कहा है अुसका कारण तो यह है कि अुसे असत्, अचित, या अप्रिय नहीं कह सकते। अिस तरह सच्चिदानन्दका अर्थ अनसत्, अनचित्, और अनप्रिय होता है; परन्तु दुहरे निषेधात्मक शब्दोंकी जगह अुन्होंने अुसे सत्, चित् और प्रिय कहा है।

कोअी प्रश्न किया जाय, तो अुसे अुसका अैसा ही प्रमाणभूत अुत्तर देते आना चाहिये, जैसा अुसने अुस विषयका अध्ययन ही किया हो; अुसे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालका ज्ञान हस्तामलकवत् होना चाहिये । फिर वह यह भी कल्पना करता है कि वह निरंतर आत्मज्ञानके आनन्द-रसकी घूँट पीता रहता होगा । जिसके मनमें करुणा, अनुकम्पा आदि भाव भी अुठते हों वह आनन्दरूप नहीं कहा जा सकेगा ।

शास्त्रोंमें आत्माको सत्य, शिव और सुन्दर भी कहा है । अब मनुष्यके खयालात अिस बातमें जुदा जुदा होते हैं कि शिव क्या है, व सुन्दर क्या है । अतः शिवत्व या सौंदर्य विषयक कोअी अद्भुत और अुदात्त कल्पना करके तदनुरूप वस्तु जहाँ हो वहीं सत्य होना चाहिये । अैसा वह पहलेसे ही निश्चय कर लेता है, और अैसे स्वकल्पित सत्यकी खोजका प्रयत्न करता है; अथवा यह मान लेता है कि अैसी भलाअी व सुन्दरता जहाँ दिखाअी दे वहीं सत्यका निवास है । लेकिन यह याद रखना चाहिये कि ज्ञान व आनन्दके, शैव या सौंदर्यके स्वरूपकी कल्पना करना ही आत्माकी कल्पनातीततासे अिनकार करना है ।

फिर शास्त्रोंमें कहा है कि जो परमात्माको पा लेता है वह अमर हो जाता है व जन्म-मरणसे छूट जाता है । अब आमलोग पुनर्जन्म या अमरताकी जो कल्पना कर सकते हैं वह सामान्यतः यही समझकर करते हैं कि हमारे अिस शरीरमें चैतन्यका जो व्यक्तित्व प्रतीत होता है वह सदा टिकनेवाली वस्तु है । व्यक्तित्वशून्य अमरता और चैतन्य-स्थिति कल्पनातीत वस्तु मालूम होती है । अतअेव जहाँ मरण न हो, किन्तु व्यक्तित्व हो अैसे अमरलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, कैलास, अक्षरधाम, बहिश्त, स्वर्ग, (heaven) आदिकी कल्पना करके यह मान्यता कायमकी गअी है कि वहाँ मृत्युके पश्चात् मुक्तिप्राप्त पुरुष जाते हैं और अुसकी प्राप्ति ही ध्येय बनाया जाता है । फिर अिन धामोंकी रचनाके सम्बन्धमें प्रत्येक पंथ — सम्प्रदाय अपनी अपनी रुचिके अनुसार अुसमें रंग भरते हैं । संक्षेपमें, भाव यह कि जो कल्पनासे परे है अुसे कल्पनाके क्षेत्रमें लाकर परमात्माको तथा अुसकी प्राप्तिको और अुस प्राप्तिके परिणामोंको प्रत्यक्ष करनेके प्रयत्न किये जाते हैं ।

परन्तु यह समझ लेना जरूरी है कि सत्यके शोधकको सत्यकी प्राप्तिसे जो समाधान मिलता है, अुसीमें आनन्द मानना चाहिये। अिसके बदले जो यह कल्पना करता है कि सुख, अैश्वर्य, सिद्धि, ऋद्धि, सौंदर्य, आनन्द आदिसे युक्त जो है वही सत्य है, वह सत्यकी अुपासना नहीं करता, बल्कि अुन विभूतियोंके लिअे अुसके चित्तमें पोषित दुस्त्याज्य वासनाओंकी सिद्धिकी ही तलाशमें वह है।

अिसी प्रकार बाज लोगोंकी यह धारणा होती है कि आत्मनिष्ठ पुरुषको कोअी बीमारी न होनी चाहिये, अुसमें दूसरोंके मनकी बात जान लेनेका सामर्थ्य होना चाहिये, किसी प्रकारकी दुर्घटनाकी बाधा न होनी चाहिये, आदि। अैसे पूर्वग्रहोंके मूलमें भी किसी विभूतिकी सिद्धि या शोधका प्रयत्न है, आत्मतत्वको पहचानने या शोधनेका प्रयत्न नहीं। यह बात सच है कि जिस अंश तक मनुष्य असावधानीसे बीमार पड़ता है, या किसी अकस्मातका शिकार हो जाता है, या अैसी जड़ता प्रदर्शित करता है कि किसीके मनका भाव नहीं समझ पाता, अुस अंश तक अुसे कच्चा समझना चाहिये और अुसमें पूर्णता अभी नहीं आअी है। परन्तु हमें यह भी समझ लेना जरूरी है कि आत्मप्रतीति अेक वस्तु है और पूर्णता दूसरी।

पूर्णताके यदि हम दो सिरोंकी कल्पना करें तो अुसका अेक छोर आत्मप्रतीति है और दूसरा जीवनका परमोत्कर्ष है। अपने अस्तित्वका मूल शोधनेके प्रयासमें आत्म-तत्त्वका परिचय होता है। जीवनके भरण-पोषण व सत्व-संशुद्धिके लिअे सविवेक अुद्योग करनेसे, तत्सम्बन्धी प्रकृतिका संशोधन करनेसे, जीवनकी परमोत्कर्षताके प्रति प्रयाण होता है — हालाँकि आत्मप्रतीतिका प्रयत्न कर सकनेके लिअे भी अेक हद तक जीवनका अुत्कर्ष सिद्ध हो जाना चाहिये। जैसे — अैसा जीवन संयमशील, परोपकारी कोमलहृदय, व भक्तिवान तथा सत्यशोधक होना चाहिये। परन्तु अुसके बाद, यह न समझ लेना चाहिये कि जीवनका परमोत्कर्ष साधना बाकी नहीं रहता। पुरुष आत्मस्थितिमें दृढ़ तभी रह सकता है जब अेक ओरसे आत्मप्रतीति भी हो चुकी हो व दूसरी ओरसे जीवनका परम अुत्कर्ष भी सिद्ध हो गया हो। वही अुसकी पूर्णता है।

संसारकी कोअी भी वस्तु, धर्म या अुसका अेक भी अंग जिसे हमारा मन ग्रहण कर सकता हो, अुस सबका मूल आत्मा है। किसी भी वस्तुको शोधका विषय बनाकर अुसके मूलकी शोधका प्रयत्न किया जाय तो सम्भव है कि सूक्ष्म शोधक अुसके द्वारा आत्मा तक पहुँच जायें, अुसे आत्म-प्रतीति हो जाय। अब यह दूसरी बात है कि जब तक जीवनका अुत्कर्ष अेक हद तक सिद्ध न हो चुका हो तब तक अिस दिशामें मनुष्यका कदम अुठना ही असम्भव है। परन्तु अेक शोधकको आत्म-प्रतीति हो जाने पर भी यदि जीवनके परमोत्कर्षके सम्बन्धसे अुसने परिपूर्ण विचार न कर लिया हो और अुसका पिछला जीवन अिस तरह बीता हो कि वह अैसे अुत्कर्षमें बाधक हो, तो अुसमें अुस सम्बन्ध या दिशाकी अपूर्णता रह जायगी और अुसे अिसके लिअे यत्न करनेकी आवश्यकता बाकी रहेगी। तब तक वह आत्मस्थितिमें टिक नहीं सकता; अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि वह अेक क्षणके लिअे भी कभी मोहग्रस्त नहीं होगा।

अैसी अपेक्षा रखना भूल है कि आत्मप्रतीति हो जानेसे प्राकृतिक नियमोंमें चमत्कार पैदा करनेकी शक्ति आ जाती है। जिस तरह गुरुत्वाकर्षणका नियम मालूम होनेके पहले भी फल जमीनपर ही पड़ते थे, हाँ अुस नियम तक नजर अलबत्ते नहीं पहुँचती थी। अुसी तरह आत्मप्रतीति होनेके पहले भी जड़चिदात्मक प्रतीत होनेवाला यह जगत् आत्मनिष्ठ आत्मामें ही स्थित होता है और जो व्यक्ति आत्मनिष्ठ नहीं समझा जाता वह भी आत्मामें ही स्थित है; परन्तु फर्क यह है कि अुसे अुसका भान नहीं है। संयमी पुरुष अपने ब्रह्मचर्यकी व विषयी अपनी स्वच्छन्दताकी साधना अेक ही बलसे करते हैं। आत्मनिष्ठाकी दृष्टिसे — (आत्म-प्रतीतिकी दृष्टिसे नहीं) — सबकी स्थिति अेक ही सी है। अिसलिअे जिस व्यक्तिको आत्मप्रतीति हो गअी हो वह यदि यह अपेक्षा रखे कि अुसके जीवनका अुत्कर्ष साधनेके लिअे प्रकृतिके नियम अुसके साथ विशेष व्यवहार — पक्षपात — रखेंगे तो यह अुसकी भूल है। यदि रोग दूर करनेके लिअे अुसे दवा-दारूकी जरूरत हो, कसरत करनेकी या शरीरशास्त्र जाननेकी जरूरत हो अथवा मनको मजबूत रखनेकी आवश्यकता हो तो अुसे ये अुपाय

अहतियातके साथ जरूर करने होंगे । यदि पहले ही वह दुःसाध्य रोगके पंजेमें फँस चुका हो तो अुसका फल भोगे ही छुटकारा है। यह खयाल कि आत्मप्रतीतिमें प्रकृतिके नियमोंका अनादर करनेका कोअी गुण है तो यह भी अेक पूर्वग्रह ही है ।

आत्मप्रतीति-युक्त तथा प्रतीति-शून्य व्यक्तिमें अेक मार्केका फर्क है। वह यह कि पहला व्यक्ति अपने आदिकारणके विषयमें भ्रममें नहीं है, वह अैसी श्रद्धाके क्षेत्रमें नहीं है जो बुद्धिकी विरोधक हो। अुसका अेक पाया मजबूत है और अुसे अपने जीवन-निर्माणमें अुस ज्ञानका भरसक लाभ मिल सकता है। अिसके विपरीत प्रतीति-शून्य व्यक्ति अिन विशेषताके लाभोंसे वंचित रहता है ।

१७

जीव-अीश्वर तथा पिण्ड-ब्रह्माण्ड

अिस परिच्छेदमें मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि वेदान्त-निरूपणमें प्रयुक्त कुछ शब्दोंको किस तरहसे समझ लिया जाय तो हम अुनके द्वारा ध्वनित शक्तियोंका यथार्थ रूप ग्रहण कर सकेंगे। अिससे यह भी खयालमें आ जायगा कि अिन शब्दोंके भिन्न भिन्न प्रचलित आशयोंमें कहाँ क्या दोष है और अुनका काल्पनिक अंश भी ध्यानमें आ जायगा ।

पहले यह बात हमें खास तौरपर समझ रखनेकी जरूरत है: जिस तरह सूर्य अेक स्थानमें रहता है फिर भी अुसका प्रकाश दूर दूर तक फैलता है, जैसे लोहचुम्बककी शक्ति लोहेके बाहर भी रहती है, और दूसरी वस्तुको स्पर्श न करते हुअे भी अुसपर अपना प्रभाव डालती है, अुसी तरह मनुष्यका चित्त भी केवल अुसके शरीरके अन्दर ही सीमित नहीं है, बल्कि अुसके बाहर — ब्रह्माण्डपर — भी अुसका व्यापार होता है ।

चित्तका जो व्यापार और विचार अपने शरीर तक ही सीमित रहता है वह अुसका जीव-स्वभाव है; अिसमें अुसे यह ध्यान रहता है कि

मेरा व्यक्तित्व भिन्न है, मैं ब्रह्माण्डसे अलग हूँ। फिर भी अिस प्रकारके भिन्न व्यक्तित्वसे तथा तत्सम्बन्धी आग्रहसे ही पैदा हुआ अुसका अेक और स्वभाव भी है। वह स्वभाव ब्रह्माण्डपर अपने व्यापार तथा विचारका प्रभाव डालनेका प्रयत्न करता है, वर्तमान सृष्टिको अपनी भावनाओंके अनुसार बनानेका यत्न करता है, अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुपातसे सृष्टिके छोटे-बड़े भागपर अपनी शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक सत्ता जमानेका यत्न करता है; अुस भागका स्वयं न्यायदाता, पालनकर्ता या त्राता बनता है और अुस भागके निवासी जीवोंका थोड़ा बहुत नियंता बनता है। अिस तरह प्रत्येक चित्तमें अपनी अेक सृष्टि बनाने, पालने, बदलने और जरूरत हो तो अुसका ध्वंस करनेकी तथा अुसका नियंता बननेकी थोड़ी बहुत प्रवृत्ति रहती है। अिस प्रवृत्तिका मूल अुसके जीव-स्वभावमें है, किन्तु व्यापार ब्रह्माण्डमें होता है। चित्तकी यह वृत्ति ही अुसका अीश्वर-स्वभाव है; और अिस अीश्वर-स्वभावका पृथक्करण करें तो अिसमें अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शंकरका (अुत्पत्ति, पालन व संहारकी प्रवृत्तियोंका) समावेश होता है।*

अिस तरह जीव-भाव व अीश्वर-भाव ये चित्त (अथवा अधिक निश्चित भाषामें महत्) के साथ संलग्न धर्म हैं। प्रत्येकके हृदयमें सर्जना, पालन और संहारकी थोड़ी बहुत भावना रहती है। सिक्केके दो पहलुओंकी तरह ये दोनों भाव अेक ही साथ मिले रहते हैं। जीव-स्वभावके विकासके साथ चित्तके अीश्वर-स्वभावके स्वरूपमें फर्क पड़ता है और अीश्वर-स्वभावमें पड़ा यह फर्क जीव-स्वभावमें फर्क डालता है।

अिसका यह अर्थ हुआ कि कहीं केवल अीश्वर-तत्त्व रहना सम्भवनीय नहीं, न कहीं केवल जीव-तत्त्व ही रह सकता है; प्रत्येक

---

* यहाँ प्रजोत्पत्ति द्वारा अपने जैसे जीवोंको निर्माण करनेकी प्रवृत्ति, तथा ब्रह्माण्डमें अपने मनोनुकूल सृष्टि रचनेकी प्रवृत्तिमें रहे भेदको ध्यानमें रखना चाहिये। पहली प्रवृत्ति जीव-स्वभावका पहलू है, दूसरी अीश्वर-स्वभावका पहलू है। सांख्य-खण्डमें महत्तत्त्वका जो विवेचन किया गया है, अुसमें यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

जीवमें कुछ न कुछ अीश्वर-तत्त्व रहता ही है, और जहाँ हमें यह प्रतीति होती है कि अीश्वर-तत्त्व है, वहाँ जीव-तत्त्व भी अवश्य मिलेगा ही।

आम तौरपर लोग यह कल्पना करते हैं कि जीव व अीश्वर दो भिन्न भिन्न तत्त्व हैं; और फिर अिन दोमें कुछ समानताओंका आरोप किया जाता है: जैसे —

समानता	**जीव सम्बन्धी**	**अीश्वर सम्बन्धी**
अुपाधि	अज्ञानकी	मायाकी
देह	स्थूल	ब्रह्माण्ड
	सूक्ष्म	हिरण्यगर्भ
	कारण	माया
	महाकारण*	मूलमाया*
अवस्था	जाग्रत	स्थिति
	स्वप्न	अुत्पत्ति
	सुषुप्ति	संहार
	साक्षी*	कर्मफलप्रदातृत्व*
संज्ञा	वैश्व	विष्णु, अनिरुद्ध, विराट्
	तैजस	ब्रह्मा, प्रद्युम्न, सूत्रात्मा
	प्राज्ञ	शिव, संकर्षण, अव्याकृत
	प्रत्यगात्म*	सर्वेश्वर-वासुदेव*

अिस परिभाषाको समझानेके लिअे यह कल्पना की जाती है कि यह जगत् (ब्रह्माण्ड) जो दिखाअी देता है, सो मानो अेक बड़ी देह है। अिसके धारण करनेवालेका नाम है विराट्। फिर भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें विविध रीतिसे वासुदेवादिक व्यूह, ब्रह्मादि त्रिमूर्ति, तथा ब्रह्माण्डादि देहोंकी कल्पना विश्वपर बिठाअी जाती है।

* बाज लोग अिस चौथी संज्ञाको नहीं मानते हैं; किन्तु यह महत्त्वकी बात नहीं है।

अब कितने ही साधकोंकी यह कल्पना होती है कि यह सब ठीक ठीक समझमें आवे और अिसी तरह सब दिखाओी दे, तभी ज्ञान हो सकता है; और अिसके लिअे जिस ग्रन्थमें यह सब निरूपण किया गया हो, अुसका अितना पठन किया जाता है कि वह लगभग वरजबान हो जाता है। वस्तुतः अितने पाण्डित्यकी साधकको कोओी खास आवश्यकता नहीं है। यदि यह सब समझमें न आवे, ये कल्पनायें मनमें ठीक ठीक न बैठ सकें या बैठाओी जा सकें, तो अिससे साधककी अुन्नतिमें कोओी रुकावट नहीं आ सकती। बल्कि बहुत बार तो अुसका पाण्डित्य अुल्टा अुसे अधिक झमेलेमें डाल देता है, अुसे तर्क या कल्पना और अनुभवका भेद समझनेमें असमर्थ कर देता है, पाण्डित्यका अभिमान पैदा कर देता है और रम्य कल्पनाओंमें ही रममाण रहनेकी आदत डाल देता है।

'खट दर्शनना जूजवा मता, मांहोमांहे खाधा खता;
अेकनुं थाप्युं बीजो हणे, अन्यथी आपने अदको गणे।'
'बहु शास्त्र धुण्डाळितां वाड आहे, जनीं निश्चयो अेक तो ही न साहे।
मती मांडती शास्त्र बोधें विरोधें, गती खुण्टती ज्ञानबोधें विरुद्धें॥"

(छहों दर्शनोंके भिन्न भिन्न मत हैं; व वे आपसमें ही विरोधी मत रखते हैं; अेक जिस बातको साबित करता है दूसरा अुसका खण्डन करता है, और दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ समझता है।

शास्त्र अनेक हैं और अुनकी थाह लें तो अेकका निश्चय भी टिक नहीं सकता; शास्त्रके परस्पर विरोधी बोधोंसे बुद्धिमें संघर्ष होने लगता है और विरुद्ध ज्ञानके बोधसे गति ही रुक जाती है।)

सत्य-विषयक तीव्र व्याकुलता न हो, तो अिस मायाजालमें अुलझा हुआ साधक शायद ही कभी छूट सकता है।*

* पाश्चात्य विचारकोंने भी अिसी तरहका शब्दजाल अेक दूसरी तरहसे खड़ा किया है। वे समाज-शरीर, समाज-मानस, समाजका आत्मा, आदि जैसे कठिन पारिभाषिक शब्दोंकी सृष्टि करके जो वस्तु आसानीसे समझमें आ सकती है अुसे और कठिन बना देते हैं। और पण्डित लोग जिस बातको कमसे कम समझते हैं, तत्सम्बन्धी शब्द अधिकसे अधिक प्रयोगमें लाते हैं और अैसे शब्दोंका प्रचार करते हैं। समाज-शरीर कोरी कल्पना ही है। बहुतेरे मनुष्योंकी मनोदशा और विकार-

पिण्ड-ब्रह्माण्डकी अेकताके सम्बन्धमें भी यहीं विचार कर लेना ठीक रहेगा। बहुतेरे संप्रदायों और लेखकोंने तात्विक अथवा धर्मोंकी अेकताकी खोज करनेके बजाय स्थूल अेकता देखनेका प्रयत्न किया है। और फिर बाह्य जगत्में दिखाअी देनेवाले सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, वनस्पति, पशु, पक्षी आदिका शरीरके भिन्न भिन्न भागोंमें आरोपण करनेका प्रयत्न होता है, अथवा शरीरके भिन्न भिन्न भागोंके अुपमेय संसारके भिन्न भिन्न पदार्थोंमें खोजे जाते हैं; जैसे कि सूर्य-चन्द्रके लिअे विराट्की आँखें, नदियोंके लिअे अुसकी नाड़ियाँ, पर्वतोंके लिअे हड्डियाँ अित्यादिकी कल्पना की जाती है। यह अेकता बहुधा काल्पनिक है। अतः यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, यह ज्ञान अलबत्ता आवश्यक है कि शरीरमें हमें जिन तत्त्वों या धर्मोंका पता लगता है वही बाह्य ब्रह्माण्डमें भी काम करते पाये जा सकते हैं, और अितने ही की जरूरत भी है। अिसके अुपरान्त अिस बातकी खोज या कल्पना करना वृथा है कि शरीरकी स्थूल वस्तुओंसे मिलती-जुलती कौन चीजें ब्रह्माण्डमें हैं अथवा ब्रह्माण्डकी स्थूल वस्तुओंसे मिलती-जुलती कौन कौनसी चीजें शरीरमें हैं।

वशताका जो अनुभव हमें होता है, अुसे समाज-मानस जैसा नाम देकर सुननेवालेके मनपर अैसा भाव अंकित किया जाता है कि जैसे प्रत्येक व्यक्तिका स्वतंत्र मन है, वैसा ही सारे समाजके किसी केन्द्रमें स्थित पृथक् मन भी है।

अवतारवाद

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥*

(गीता, अ॰ ४, ७–८)

अवतारवादके मूलमें मुख्य मान्यता नीचे लिखे अनुसार है:

जीवात्मासे भिन्न प्रकारका अेक अीश्वरात्मा है; वह सर्वदा साधु-सन्तों व धर्मके प्रति पक्षपात तथा दुष्टों व अधर्मके प्रति वैर रखनेवाला है। वह हमेशा अिस बातको देखता रहता है कि समाजमें कब व कैसे अधर्मका बल बढ़ता है; और जब अुसकी अपेक्षासे अधिक अधर्मकी मात्रा फैल जाती है, तब वह किसी प्रकार शरीर धारण करनेकी तैयारी करता है। जिस प्रकारका कार्य अुसे करना है, अुसी प्रकार वह अपना शरीर मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि कोअी भी योनिमें पैदा करता है। शरीर निर्माणसे लेकर अुसके अन्त तकका अपना सारा कार्यक्रम वह पहलेसे निश्चित कर रखता है। यह अीश्वरात्मा अपनी मर्जीके माफिक प्रकृतिके नियमोंसे स्वतंत्र रह सकता है और अपने जीवनकी अेक अेक तकलीफको पहलेसे जानता है। फिर मामूली आदमी जिन सामाजिक, नैतिक आदि बन्धनोंको मानता है, अुनसे वह परे होता है। और अपने अवतारके हेतुको सिद्ध करनेके लिअे वह किसी भी साधनसे काम ले, तो भी अिससे अुसे कोअी दोष नहीं लगता।

---

* हे अर्जुन, जब जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका अुत्कर्ष होता है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। साधुओंकी रक्षाके लिअे और दुष्टोंके नाशके लिअे, अुसी तरह धर्मकी स्थापना करनेके लिअे बार बार मैं जन्म लेता हूँ।

जिसके सम्बन्धमें अिस प्रकारकी मान्यता रखी जाती है, वह अवतार कहलाता है। यह धारणा अेक अन्तिम और कट्टर अवतारवादीकी है। अिसके कुछ अंशोंको आधुनिक अवतारवादी नहीं मानते। (देखिये — बंकिम बाबूका 'श्रीकृष्णचरित्र', तथा 'धर्मतत्त्व'।) लेकिन अिस मान्यतामें बहुतसी भूलें हैं।

अदृश्यशोधन खण्डमें हमने प्रत्यगात्मा व परमात्माका विचार विस्तारके साथ किया है। फिर जीव व अीश्वर विषयक विचार पिछले परिच्छेदमें ही कर चुके हैं। अुसमें यह समझाया गया है कि जीव-भाव व अीश्वर-भाव किस तरह अेक ही सिक्केकी दो बाजू-जैसे हैं। अिसके अलावा, जिसे हम जीवात्मा या प्रत्यगात्मा समझते हैं, अुससे भिन्न किसी अेक या अनेक अीश्वरात्माको मानना गलत है। अिसके लिअे अनुभवका आधार कहीं नहीं है। जन्म, मरण और जीवन कार्यके सम्बन्धमें हमारे प्रत्यगात्मासे अधिक स्वतंत्र, प्राकृतिक नियमोंसे परे, पहलेसे ही अपने जीवनका नकशा बना रखने या जाननेवाला, अपने जीवन कार्यके सम्बन्धमें जीवात्मासे अधिक निश्चित संकल्प लेकर अवतार लेनेवाला कोअी पुरुष भूतकालमें हो गया है, वर्तमानमें है, अथवा भविष्यमें होगा — यह खयाल गलत है।

परचित्त-प्रवेशके जो कुछ अनुभव होते हैं, अुनके अलावा जीवात्मासे भिन्न प्रकारका कोअी अीश्वरात्मा किसी जीवात्मामें थोड़े समयके लिअे प्रवेश करता है या प्रकट होता है, यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है। और परचित्त-प्रवेशका माध्यम या वाहन बनना यह किसी भी प्रकारसे अभ्युदय-कारक नहीं है।

फिर यह धारणा भी गलत है कि अिस तरह जो व्यक्ति अवतार माने गये हैं, अुनके जीवन-कार्योंकी शुद्धाशुद्धता या योग्यायोग्यताकी सारासार विचारसे निश्चित की हुअी नीतिसे और मानवताके नियमोंसे जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकती। अुसके तो सब कर्म 'दिव्य' ही समझने चाहियें।

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, अीसामसीह, महम्मद या कोअी और व्यक्ति जीवात्मासे भिन्न प्रकारके किसी सत्त्व या तत्त्वसे उत्पन्न हुआ था यह मानना भूल है।

अुन्होंने जो कुछ किया वह पहलेसे ही निश्चित कर रखा था — जैसे कि रामने सीताहरण या रावण-वध, बुद्धने गृहत्याग, कृष्णने शिशुपालादिक राजा, कौरव, यादव आदिका संहार, व्याधके द्वारा मृत्यु, आदि — यह मानना भी गलत है। रामने सीताके लिअे जो शोक किया वह केवल अुनका नाटक ही था, कृष्णने यदि कुछ अपकर्म किये हों तो वे 'दिव्य' ही थे, सहजानन्द स्वामी या स्वामी रामदासने जो व्रत, तप, योगाभ्यास आदि किये वे स्वयं अपनी अीश्वर-प्राप्ति सम्बन्धी व्याकुलतासे नहीं बल्कि श्रेयार्थियोंको मार्गदर्शन देनेके लिअे ही किये — ये धारणायें भी गलत हैं।

वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक जीवात्माके अन्दर सृष्टिमें कुछ न कुछ परिवर्तन करनेकी आकांक्षा — अैश्वर्येच्छा — रहती है। यह अैश्वर्येच्छा अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी हो सकती है; परार्थी भी हो सकती है, स्वार्थी भी हो सकती है। अिनमें अधर्म व अन्यायका नाश करनेकी, दुष्टको दण्ड देनेकी, और धर्मको स्थापित करनेकी वासनायें अच्छी व परहितार्थी हैं; जरासंघ या रावण, नीरो, सिकंदर, जैसेकी वासनायें दुष्ट और स्वार्थमयी हैं। पर हैं दोनों जीवात्माकी ही विभूतियाँ।

राम, कृष्ण, आदि पुरुषोंमें जो कोअी सचमुच हो गये हों, अुन्हें दूसरे सब मनुष्योंकी तरह मनुष्य ही समझना चाहिये। हाँ, वे समर्थ थे, अैश्वर्यवान थे, अुनकी अैश्वर्येच्छा श्रेष्ठ प्रकारकी, महान् आशयोंवाली थी। अपने समयके वे महान् अग्रणी थे। अिनमें कोअी विद्वान थे, कोअी साधु पुरुष थे, कोअी श्रेष्ठ धर्मज्ञ व नीतिज्ञ थे। शिवाजी, वाशिंग्टन, गैरीबाल्डी आदि जैसे वर्तमान समयके अपने अपने देश या जातिके अुद्धारक माने जाते हैं, वैसे ही अुनमेंसे कुछ अपने समयके बड़े राष्ट्रोद्धारक थे। अुनके जन्म-कर्मके सम्बन्धमें अिससे अधिक 'दिव्यता' मानना भूल है।

वाशिंग्टन व गैरीबाल्डीको अुनके देशवासियोंने अीश्वरावतारका पद तो नहीं दिया, फिर भी अमेरिका व अिटलीकी जनता दोनोंके लिअे बहुत आदर-भाव रखती है और लगभग अुन्हें पूजती है। शिवाजीको महाराष्ट्रीयोंके सिवा हिन्दुस्तानके दूसरे लोग अवतार-पद न देते हुअे भी अत्यन्त आदरभावसे प्रायः पूजते हैं। हमारे देशकी भूतकालीन अथवा

वर्तमानकालीन विभूतियोंके प्रति अितना आदर-भाव. रखना अुचित है। अिससे अधिककी आवश्यकता नहीं। अिनके चारित्रमें यदि कोअी भूल या दूषण भी मालूम हों, तो अुनमें दिव्यताका आरोपण करनेकी आवश्यकता नहीं। अिससे अधिक दिव्य शोभा अिनके नामके आसपास खड़ी करके, अिनको काल्पनिक पदपर चढ़ाकर, अिनकी कृत्रिम पूजा करनेसे मनुष्य या समाजको अपने अभ्युदयकी सिद्धिमें कोअी खास लाभ होता नहीं दिखाअी देता; हाँ, हानि अलबत्ता बहुतेरी है।

चूँकि हिन्दू प्रजाका मानस अैसी मान्यताओंको स्वीकार करनेके लिअे तैयार रहता है, अिसलिअे जिन लोगोंका स्वार्थ अैसी मान्यताओंको जँचानेमें रहता है, वे अुसके मानस पर अैसी भुरकी बारबार डालते ही रहते हैं और भोली-भाली जनता अुनके चकमेमें आ जाती है। अिसका अुपयोग पन्थ-प्रवर्तनमें तथा राजनीतिमें विशेष करके होता है। लगभग प्रत्येक सम्प्रदाय-प्रवर्तक अेक या दूसरी पीढ़ीमें अीश्वरावतार बन जाता है। यहाँ तक कि वे अवतारके भी अवतारी थे, — राम व कृष्ण जिनके परिचारक माने जायें अैसे — अैसी धारणा दृढ़मूल होने लगती है। महाराष्ट्रमें शिवाजी लगभग अीश्वर पदपर प्रतिष्ठित हो गये हैं और अुनकी मूर्तिपूजा शुरू हो गअी है। कुछ समय पहले लोकमान्य तिलक भी अुसी स्थितिको प्राप्त करते दिखाअी देते थे, और गांधीजीके लिअे भी अैसी ही सम्भावना दीखती है। जो लोग अैसा करते हैं वे अपनी जाति या समाजकी और — शुरूमें नहीं तो आगे जाकर — खुद अपनी भी अबुद्धिकी ही पुष्टि और वृद्धि करते हैं। अिसमें कल्याण नहीं है।

फिर, अिन धारणाओंसे तत्त्वज्ञानमें काल्पनिक सिद्धान्त तथा ध्येयके विषयमें भ्रम अुत्पन्न होते हैं। अुदाहरण — राम, कृष्ण आदिके साक्षात् दर्शन करनेकी अभिलाषा। और फिर यदि कहीं अैसा कुछ दिखाअी दे, तो अुस अनुभवका वास्तविक स्वरूप समझनेकी असमर्थता भी अुसमेंसे अुत्पन्न होती है।

अिसके अलावा अिस तरहकी धारणायें अैसी मूढ़ अभिलाषायें भी अुत्पन्न करती हैं कि कोअी दूसरा आकर हमारा अुद्धार कर जायगा। और —

‘कहो नाथ, अब कौल मुताबिक आवोगे कब हाँ?’

—अैसी पुकार मचानेकी आदत पड़ जाती है।

फिर भूतकालीन विभूतियोंके सम्बन्धमें जो गलत धारणा हमारी हो जाती है, अुससे हमारे समयकी विभूतियोंको जानने या समझनेकी भी हमारी शक्ति कम हो जाती है और ‘जीते जी न रोटी, मरे पीछे श्राद्ध’ की तरह ही हमारी मनोरचना हो जाती है।*

१९

निर्गुण और गुणातीत

वेदान्तके ये दो शब्द भी मुमुक्षुओंको चक्करमें डालते हैं। वेदान्तने आत्माको निर्गुण बताया है, क्योंकि वह सुख-दुःख, हर्ष-शोक, पुण्य-पाप, धर्माधर्म, न्याय-अन्याय, दया-क्रूरता आदि सब विरोधीभावोंसे परे है; परस्पर विरोधी भावनाओंका भी आधार है; और विरोधी भावोंमें भी आत्मा अेक-रूप व सतत मालूम पड़ता है। अिससे कभी साधक यह कल्पना करते हैं कि चित्तको आत्माके रंगमें रंग देनेके लिअे निर्गुण-दशाको प्राप्त करना चाहिये। अर्थात् आत्माकी दृष्टिसे न्याय-अन्याय, दया-क्रूरता, संयम-स्वच्छन्द, ये सभी अेकसे हैं, और अैसी भेद-दृष्टि मनकी कल्पना है। अतअेव अुन कल्पनाओंको छोड़ देना चाहिये।

अेक पक्ष अिनके त्यागके लिअे सात्विक दिखाअी देनेवाले तमोगुणका आश्रय लेता है। वह जिस तरह हो सके भावनाओंके विषयमें जड़ता धारण करता जाता है; दया आदि भावोंसे प्रेरित कर्मोंको अज्ञानका परिणाम मानकर वह सब कर्तव्योंसे दूर रहकर अिस तरह व्यवहार करता है मानो दुनियाके साथ अुसका कोअी नाता नहीं है। बाज लोग अिनसे भी आगे जाकर अघोरी-वृत्ति धारण करते हैं। विवेक-बुद्धिमें सापेक्षता

---

* अिस विषयका अेक खुलासा लेखककी ‘गीता-मन्थन’ पुस्तकके चौथे अध्यायमें देनेका प्रयत्न किया गया है। यह मान्यता साम्प्रदायिक ही है यह ध्यानमें रखना चाहिये। अिस कहावतका मतलब यह है कि अेक प्राणी जिन्दा हो, तबतक अुसके गुणोंकी कोअी कद्र न करें, और मरनेके बाद अुसका गुणानुवाद करके शोक करें।

और भेद-दृष्टि है और आत्मा तो निर्गुण व निरपेक्ष है, अैसा विचार करके वे विवेक-बुद्धिको ही तिलांजलि दे देते हैं। और यह समझकर कि जड़त्व आत्माके समीपकी स्थिति है, वे दिन व दिन जड़ दशाकी तरफ झुकते जाते हैं।

दूसरा पक्ष अिससे भी भयंकर है। 'जो कुछ शुभ-अशुभ होता है, वह सब आत्माके ही द्वारा या कारणसे होता है और सबका कारक हेतु होता हुआ भी सूर्यकी तरह वह अलिप्त रहता है।' अिसका अर्थ वह यों करता है कि शुभाशुभके सब विचारोंको छोड़कर जिस समय जो अूर्मि अुठ पड़े वह ब्रह्मरूप ही है, अैसा दृढ़ निश्चय करके स्वैर विहार करनेमें हर्ज नहीं। समाजमें पाखण्ड व अनाचार फैलानेवाला यही वर्ग है।

दुर्भाग्यसे हमारे शास्त्रकारोंने पूरा विवेक किये विना अैसे जड़ व स्वच्छन्दी पुरुषोंके वर्गोंको मान्यता दे दी है। और अुसके लिअे कृष्णको कभी अनुचित आचरण न करनेवाला और आदर्श धर्म-परायण पुरुष बतानेके बजाय अुनकी पूर्णताका भाव हृदय पर अंकित करनेके लिअे अुन्हें विविध प्रकारके असत्य, अधर्म व स्वच्छन्द आचरण करनेवाला चित्रित किया है; और फिर अिनमें अुनकी निर्लेपता दिखानेका प्रयत्न किया है। अिस तरह अुस महात्माके चरित्रको हलकेसे हलका चित्रित करके देशके सामने गलत आदर्श अुपस्थित किया है। फिर शास्त्रकारोंने यह खुला परवाना दे दिया है कि ब्रह्मनिष्ठ माना जानेवाला पुरुष चाहे जैसा व्यवहार कर सकता है। योगवासिष्ठके लेखकने स्वच्छन्दी, आसुरी, राक्षसी सब प्रकारके ब्रह्मनिष्ठोंके चरित्र काव्यशास्त्रके विविध अलंकारोंसे सजाकर चित्रित किये हैं और वेदान्तदर्शनको गलत मार्गपर चढ़ानेमें हिस्सा लिया है, और फिर यह सारा ग्रन्थ वाल्मीकिके नामपर रचकर अुसकी प्रामाणिकता स्थापित करनेका प्रयत्न किया है। और यह भी दुर्भाग्यकी बात है कि वेदान्तियोंमें अिस ग्रन्थकी प्रतिष्ठा अतिशय है। अेक दूसरे ग्रन्थमें कहा गया है कि जब तक शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, योग्य-अयोग्यका विचार साधकको स्पर्श कर सकता है, तब तक अुसके लिंग देहका अभिमान नहीं छूटा, वह गुणातीत नहीं हुआ!

निर्गुण और गुणातीत

अिन भ्रान्तियोंके मूलमें यह गलत विचार तो है ही कि ब्रह्मत्व ध्यासका विषय है। परन्तु अिसके अलावा निर्गुण व गुणातीत शब्दोंके अर्थके सम्बन्धमें भ्रामक कल्पनायें भी हैं।

मेरी रायमें यदि आत्माके लिअे निर्गुणकी जगह सर्वगुणाश्रय, सर्वगुणबीज जैसे शब्दोंका प्रयोग हुआ होता, तो अधिक यथार्थ होता। विद्युत्-शक्ति चाहे मनुष्यका वध करनेवाले यन्त्रमें डाल दी जाय चाहे अुसे जीवन-दान देनेवाले यन्त्रमें, दोनोंमें वह अलिप्त रहती है और दोनों प्रकारके कर्मोंका प्रेरक बल वह हो सकती है। अिसी तरह आत्मा सब शुभाशुभ कर्मों, संकल्पों और जीवनका आश्रय होकर पात्रानुसार प्रेरक-बल हो, तो अिसमें कोअी आश्चर्यकी बात नहीं है। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि आत्माके सिवा दूसरा कोअी तत्त्व ही नहीं है, अतअेव अुसे सर्वगुणाश्रय या सर्वगुणबीज कहना अधिक अुचित है।

परन्तु यदि निर्गुण शब्द ही काममें लाना हो, तो फिर चित्त और आत्माका भेद ध्यानमें रखना चाहिये। आत्मा भले ही निर्गुण व अलिप्त हो, परन्तु चित्त तो सदैव सगुण ही हो सकता है और पूर्वोक्त निर्गुणताकी ओर किसी भी तरहके प्रयाणसे चित्त निर्गुण नहीं हो सकता, बल्कि तामस या राजस होगा। चित्तका अुचित अभ्युदय निर्गुणके प्रति नहीं बल्कि गुणातीतताके प्रति हो सकता है, और यही साधकका ध्येय हो सकता है।

परन्तु गुणातीतताका अर्थ स्वच्छन्दता नहीं, विवेकबुद्धिको तिलांजलि नहीं, बल्कि प्रयत्नपूर्वक की गअी सत्व-संशुद्धिके फल-स्वरूप गुणों व स्वभावकी अैसी दृढ़ता है कि जिसका अभिमान हमें न हो। मनुष्य चलना जानता है, परन्तु क्या कभी अुसे अिसका अभिमान होता है? जो बार-बार प्रवास करता है, अुसे अिस बातका अभिमान नहीं होता कि मैं बहुत बार रेलमें बैठा हूँ; क्योंकि अुसे अिस बातकी आदत पड़ जाती है। अिसी प्रकार हमारे सद्गुणों, कर्तृत्वशक्ति, विभूतियों, मर्यादा आदि विषयक निरभिमानतामें गुणातीतताका निवास है। यह जाहिर है कि मनुष्य अपने सत्कर्मों या अपकर्मोंके प्रति निरहंकार नहीं रह सकता।

जो भूलें हो चुकी हैं या हो रही हैं, अुनके विषयमें अदम्भ और अदम्भके लिअे निरभिमानता (मनमें बड़प्पनका अभाव), अपने ज्ञान, कर्म, या अिच्छा, अपने सत्कर्म या विवेक-बुद्धि सबमें निरभिमान स्थिति गुणातीतताका लक्षण है। हो सकता है कि वह अपनी विशेषताओं या परिमिततासे अनजान न हो, परन्तु यदि अुसमें वह केवल मनुष्यताके अलावा और कुछ न मानता हो, तो अुसका प्रयाण गुणातीतताकी ओर है।

२०

'सबमें मैं' और 'सबमें राम'

अेक भक्त कविकी साखी है:

> जब मैं था तब राम नहिं, अब राम हैं, हम नाहिं।
> प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

अिसका आशय तो यह है कि सारे विश्वमें अेक ही चैतन्य शक्ति निवास करती है। हमें अपने अन्दर जिस चैतन्यका अनुभव होता है तथा विश्वमें जो चैतन्य दिखाअी देता है, अुन दोनोंमें अेकता है; और अुस चैतन्यकी दृष्टिसे देखें, तो हम खुद भी विश्वके अेक दृश्य पदार्थके सिवा कुछ नहीं हैं। और चैतन्यको 'मैं' या 'तू' अिनमेंसे किसी भी सर्वनामके द्वारा सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

बुद्धिकी अैसी प्रतीति होनेके कारण प्रत्येक साधक अिनमेंसे किसी न किसी भावनाका ध्यास करनेका प्रयत्न करता है—'मैं ही सर्वत्र हूँ, विश्वमें जो कुछ है सो मैं ही हूँ', 'भूतकालमें जो कोअी हो गये हैं वे भी मैं ही हूँ', 'भविष्यमें जो होनेवाले हैं वह भी मैं ही हूँ' अथवा 'मैं तो कुछ नहीं हूँ—जो कुछ है सो परमात्मा ही है।' किन्तु जन्मभर अैसे ध्यासका यत्न करते रहने पर भी अैसी स्थिति नहीं आ सकती, जिसमें अपने परिचित 'मैं-पन'का स्फुरण न हो। अेकनाथ, अखो जैसे बड़े बड़े कवियोंने अपने लेखोंमें बार बार कहा है कि अेकनाथ,

'सबमें मैं' और 'सबमें राम'

अखो जैसी कोअी चीज संसारमें नहीं है, वे यह लिख नहीं रहे हैं, बल्कि वह परमात्मा ही लिखवाता है, जिसे 'मैं-पन' छू तक नहीं गया है —और अैसा बार बार कह कर अपनेमें स्फुरित विशिष्ट अस्तित्वके भानको भूलनेका मिथ्या प्रयत्न किया है। 'मिथ्या प्रयत्न'का प्रयोग मैंने अिनके प्रति अनादार-भावसे नहीं किया है, बल्कि आशय यह है कि अैसा प्रयत्न सफल होना अशक्य है।

पर हकीकत यह है कि हमारा यह भान कि हमारे अन्दर स्फुरित चैतन्यके साथ हमारी अेकता है और हमारे अन्दर व्यक्तित्व है, अैसा भ्रमयुक्त नहीं है जिसे हम भूल सकते हैं, और जिससे हमारा अपने मनको यह समझानेका प्रयत्न सफल हो सके कि 'मैं हूँ ही नहीं।' दूसरी ओर, हमारे शरीरसे बाहर जगत्में जो चैतन्य हमें व्याप्त प्रतीत होता है, वह तत्त्वतः अिस अन्तर्यामी चैतन्यके साथ अेक-रूप है; फिर भी हमें अिस अेकताका अनुभव, प्रत्येक चैतन्यकी तरह, नहीं हो सकता। अतअेव हम चित्तको यह मनवानेका प्रयत्न तो करते हैं कि 'मैं सारा विश्व हूँ', परन्तु चित्तको अैसा अनुभव न होनेके कारण यह प्रयत्न पंगु ही हो रहता है। यह सच है कि चैतन्य सर्वत्र अेकरस परिपूर्ण है, परन्तु चित्त व चैतन्य दोनों अेक नहीं हैं और चित्त चाहे कितना ही व्यापक हो जाय तो भी आखिर वह परिमित ही है; दूसरे शब्दोंमें कहें तो चित्तके परिमित होनेके कारण वह चैतन्यके अेक अमुक प्रदेशके साथ ही सम्बन्ध बाँध सकता है। जो सर्वत्र व्याप्त है वह चित्तसे व्यक्तिरेक दृष्टिसे विचार करनेका परिणाम है। परन्तु कोअी पुरुष चित्तसे अन्वित हुअे बिना ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः साधक जब यह कहता है कि 'मैं ही सब कुछ हूँ' तब अुसके 'मैं' कहनेमें ही अुसके विशिष्ट चित्तके साथ जो अन्वय दर्शित हो जाता है, अुसे वह भूलनेकी कोशिश करता है। और यह प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि अुसका चित्त-भ्रम ही न हो जाय।

सत्यका सम्बन्ध या स्वरूप जैसा हो वैसा ही अुसे समझ लेनेमें सन्तोष माननेकी जगह किसी अधिक भव्य या रम्य कल्पनाके प्रदेशमें विहार करनेके मोहसे कृत्रिम भाषा और कृत्रिम तत्त्ववाद अुत्पन्न होते हैं

और साधक अुसके शिकार हो जाते हैं। अुदाहरण — स्वामी रामतीर्थके भाषा प्रयोगमें 'राम' शब्दको 'मैं' यह अेक नवीन अर्थ मिलनेके अलावा और कुछ हासिल नहीं हुआ। फिर भी अुसका अनुकरण करनेके प्रलोभनमें कितने ही लोग पड़ जाते हैं।*

* खेदके साथ कहना पड़ता है कि श्री अरविन्द घोषने भी कृत्रिम भाषा बनानेमें कुछ हाथ बँटाया है। अुनके अेक पत्रसे नीचे लिखा अंश नमूनेके तौरपर देता हूँ। अुसके साथ ही अुसी भावको सादी और अधिक नम्र भाषामें किस तरह व्यक्त किया जा सकता था, यह भी दिखा दिया है —

मूल	रूपान्तर
मुझे अिस बातमें लेशमात्र सन्देह नहीं है कि जब यह सिद्धि प्राप्त हो जायगी, तब **भगवान् मेरे द्वारा** अन्य लोगोंको अल्प परिश्रममें ही विज्ञान सिद्धि दे देगा। जब अैसा होगा तभी मेरे वास्तविक कार्यको शुरूआत होगी। मैं कर्म-सिद्धिके लिअे अधीर नहीं हूँ। क्योंकि जो कुछ होनहार है, वह **भगवान्के** निर्दिष्ट समयमें ही होकर रहेगा, अुससे पहले किसी प्रकार नहीं हो सकता। मैं अिस बातको अच्छी तरह जानता हूँ और अिसी लिअे **किसी अुन्मत्त मनुष्यकी तरह दौड़ कर क्षुद्र 'अहम्'की शक्तिके द्वारा** कर्मक्षेत्रमें कूद पड़नेकी प्रवृत्ति मेरी कभी नहीं हुअी, अब भी नहीं होती है, और होनेको भी नहीं। यह भी सम्भव है कि कर्म-सिद्धि न भी हो, तो भी मैं अपने धैर्यको छोड़नेवाला नहीं हूँ। **क्योंकि यह कर्म भगवान्का है, मेरा नहीं।** मैं अब दूसरे किसीके भी आह्वानको नहीं सुनूँगा, बल्कि **भगवान् जिस रास्ते ले जायगा, अुसी रास्ते चलूँगा।**	यदि मुझे (प्रस्तुत अभ्यासमें) सफलता मिली, तो अुसका लाभ दूसरे व्यक्तियोंको भी अवश्य ही मिलेगा, जिससे अुनको यह विज्ञान-सिद्धि अल्प परिश्रममें प्राप्त हो जाय। अिस अभ्यासकी पूर्तिके बाद ही मेरे वास्तविक कार्यको शुरूआत होगी। मैं नहीं कह सकता कि वह कब होगी। परन्तु तब तक मैं कर्म-सिद्धिके लिअे अधीर नहीं हूँ। क्योंकि मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि अुस सिद्धि-प्राप्तिके पहले मेरा कार्य सफल नहीं होगा। अतः अुससे पहले ही कर्मक्षेत्रमें कूद पड़ना बिल्कुल पागलपन होगा। अैसा अविचारी काम मुझसे नहीं हो सकेगा। कदाचित् कर्म-सिद्धि न भी हो, तो मैं धीरज नहीं छोड़ बैठूँगा। क्योंकि मेरा विश्वास है कि मेरा संकल्प सत्य है और अिसलिअे योग्य समयपर वह अवश्य फल देगा। संक्षेपमें, जब तक मेरी विवेक-बुद्धिको प्रतीति न हो जाय, तब तक केवल दूसरोंके आह्वानके वशीभूत हो कार्यक्षेत्रमें पड़ना मुझे शोभा न देगा।

यही बात आत्मसमर्पण या ब्रह्मार्पणकी भावनापर लागू होती है, जो जुदा जुदा रूपोंमें समय समयपर अुत्पन्न होती रहती है। प्रत्येक मनुष्यको यह अनुभव होता है कि चित्तमें परस्पर विरोधी संस्कार जाग्रत होते रहते हैं; अेक तो मोह या टेवसे अुत्पन्न संस्कार और दूसरे विवेक-बुद्धिसे अुत्पन्न अुसे तोड़नेवाले संस्कार। जब तक पहले प्रकारके संस्कारोंपर विजय प्राप्त न कर ली जाय, तब तक चित्तको अधिक समय तक शान्ति मिलना अशक्य है। परन्तु अिस झगड़ेके दरमियान साधकके मनमें अपनी साधना शिथिल करनेका मोह अुत्पन्न हो जाता है। अैसे समय अुसे अूपर लिखे जैसे वादोंका आश्रय ले लेना अनुकूल मालूम होता है। वह अैसी भावनायें करके अपनेको धोखा देनेका यत्न करता है —'सद्वृत्ति या दुर्वृत्ति जो कुछ है, सब भगवानकी लीला या माया है; मैं तो कुछ हूँ ही नहीं (अथवा मैं तो केवल अेक कठपुतली हूँ, और भगवान मेरा सूत्रधार है।); वह दुर्वृत्ति जगाना चाहे तो दुर्वृत्ति जगावे, सद्वृत्ति पैदा करना चाहे तो सद्वृत्ति पैदा करे।' अथवा 'सद्वृत्ति और दुर्वृत्ति दोनोंसे मैं परे हूँ; ये तो चित्तकी वृत्तियाँ हैं; और मैं तो चित्त हूँ नहीं कि जिससे मुझे दुःखी होना पड़े। चित्तका किया चित्त भोग लेगा।' अब जिन साधकोंको सच्ची व्याकुलता है, वे अिस धोखा-धड़ीसे अुत्पन्न समाधान अधिक समय तक अनुभव नहीं कर सकते; लेकिन बाज साधक अिसमेंसे अेक प्रकारकी सुखालस वृत्ति अपनेमें पोषित करते हैं।

यह सच है कि जो कुछ होता है वह चैतन्यकी बदौलत ही और यह भी सत्य है कि साधक भी वह चैतन्य ही है; परन्तु जब साधक अैसी विचार श्रेणीका आश्रय लेता है, तब यह बात याद रखनी चाहिये कि अुस समय अुसका अहंकार चित्तके साथ अन्वित हुअे बिना नहीं रहता। दूसरे, यह बात भी नहीं भूलना चाहिये कि विवेक-बुद्धिके संस्कारके कारण दुर्वृत्तिके खिलाफ बगावत मचाकर अुसे स्तम्भित कर देने-वाली जो वृत्ति अुठती है, वह भी चैतन्यके ही कारण है। और अिसलिअे यह याद रखना जरूरी है कि जो यह मान लेनेकी अिच्छा होती है कि सुखालसके अनुकूल वृत्ति तो भगवानकी अथवा चित्तकी है और

मैं अुससे अलग हूँ, तथा विवेक-बुद्धिके संस्कारकी वृत्ति मानो अविद्या-जन्य है, वह धोखा देनेवाली है। वस्तुतः जैसे दीपकको अुसकी किरणोंसे अलग समझ तो सकते हैं पर कर नहीं सकते, अिसी तरह चैतन्यको चित्तसे अलग समझ सकते हैं परन्तु कर नहीं सकते; और अिसलिअे चित्त-शुद्धिका प्रयत्न भी कभी शिथिल नहीं किया जा सकता।

अहंकार अेक अैसा धर्म है, जो घटते-बढ़ते व रूपान्तर पाते रहते हुअे भी अविनाशी है। गीताकी भाषामें कहें तो वह परमात्माकी स्वभावभूत प्रकृतियोंमेंसे अेक है। अिसका मर्म न समझनेके कारण ही अहंकारके नाशके सम्बन्धमें विचित्र कल्पनायें अुत्पन्न हुअी हैं। अिस सिलसिलेमें सांख्य-खण्डमें विवेचित अहंकार-प्रकरणको पढ़लेनेका अनुरोध पाठकोंसे है, जिससे वे अिसका तात्पर्य ठीक ठीक समझ सकें।

२१

मायावाद

मायावाद द्वारा निर्मित माया जितनी दुस्तर है, अुतनी यह जगत्की माया शायद ही दुस्तर हो। अिस वादके समझनेमें अेक अैसी पहेली अुत्पन्न हो जाती है, जो प्रायः प्रत्येक साधकको बहुत समय तक चक्करमें डाले रखती होगी और जिसका कोअी समाधानकारक स्पष्टीकरण मिलता हो नहीं। अिस वादका कहना है कि आत्मा स्वतः ज्ञानरूप व मुक्त है, लेकिन अज्ञानके कारण वह बन्धनमें पड़ता है। अिसपर साधक पूछता है कि 'यह अज्ञान कहाँसे आया?' तो वादी अुत्तर देता है— 'मायाकी बदौलत'। फिर साधक पूछता है— 'माया क्या चीज है? वह कहाँसे आअी?' तो वादी कहता है— 'भाअी, माया कोअी भावरूप पदार्थ ही नहीं है, अुसका तो नाम ही अविद्या है। —जो है ही नहीं, वह आवेगी कहाँसे! वह तो मिथ्या भासित होती है।' तब साधकका सवाल होता है— 'यदि है नहीं तो फिर भासित किस तरह होती है?' वादीका अुत्तर होता है— 'अनादि कालके अज्ञानके कारण!'

बेचारे साधकका अिस अुत्तरसे कुछ भी समाधान नहीं होता; परन्तु वह शास्त्रोंपर श्रद्धा रखकर व अपनेको अिस तरह दोषी समझ कर कि अिसका मर्म समझमें न आनेका कारण खुद मेरा ही अज्ञान है, मैं अभी मायामें फँसा हुआ हूँ, अैसे अुपाय करता है कि जिनसे जगत्‌का यह भास किसी तरह चला जाय। अन्तको अेक बार भी यदि मनको निश्चेष्ट कर जगत्‌का भान हटा सका, तो वह समझ लेता है कि अब अनादि कालका अज्ञान मिट गया। फिर जब वापिस जगत्‌का भान होता है तब फिर चक्करमें पड़ता है सही, लेकिन वह अिस समझका आश्रय लेकर संतोष मान लेता है—'यह अवशिष्ट प्रारब्धकी बदौलत है, कुम्हारका चाक जैसे धक्का बंद होनेके बाद भी चलता रहता है अुसी तरह पूर्वगति अिसका कारण है।' फिर, वह अिसी वादका प्रवचन करता फिरता है। लेकिन अभी तक अिस बातका समुचित स्पष्टीकरण हाथ नहीं लगा कि ज्ञान-रूपी आत्मामें यह अज्ञान आया कहाँसे? और न होते हुअे भी भासित होनेवाली माया आखिर क्या है?—सिवा अिसके कि वह अनादि व अनिर्वचनीय है। किन्तु 'अनादि व अनिर्वचनीय' का अर्थ यहाँ अितना ही हो सकता है कि अिस विषयमें हमारी बुद्धि अभी पहुँच नहीं सकी है।

जो 'नहीं है' अुस मायामें 'नियमाधीनता' को माने बिना तो मायावादीकी भी गति नहीं है। अुसे भी 'व्यवहारके लिअे' तो पंचीकरण मानना ही पड़ता है।* अर्थात् यह जगत् यदि केवल भास ही हो, तो भी वह कोअी अुटपटांग व अण्टसण्ट भास नहीं है।

मायावादके मूलमें वास्तविक अवलोकन तो अितना ही है—(१) हमें जगत् या देहका भान तभी होता है, जब मनका व्यापार जारी रहता हो; (२) जगत् हमें कैसा दिखाअी देता है, यह हमारी मनोदशापर भी अवलम्बित है; और अिसलिअे हम जगत्‌के पदार्थोंको जिन नाम-रूपोंसे

* योगवासिष्ठमें, यह सिद्ध करनेके लिअे कि मायामें किसी प्रकारका नियम हो नहीं है, यह बतानेका प्रयत्न किया है कि पृथ्वीमेंसे आकाश, जलमेंसे तेज निकल आवे अैसी क्रमविहीन सृष्टियां भी हैं, जिन्हें योगी लोग देख सकते हैं। किन्तु यह अेक योगवासिष्ठकारकी माया ही है।

पहचानते हैं, वे अुनके वास्तविक नाम-रूप हैं यह बात हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते; और (३) मन या जगत्‌के मूलमें यदि कोअी स्थिर तत्त्व हो, तो वह सत्तामात्र चैतन्य तत्त्व ही है।

परन्तु अिस अवलोकनका अर्थ अितना ही हुआ कि यदि हमारी आँखोंका व्यापार बन्द हो जाय तो जिस तरह हमें रंग व रूपका भान नहीं हो सकता, अुसी तरह मनके व्यापारके बिना खुद हमारे अस्तित्वसे लेकर संसार तकके किसी भी पदार्थ या भावका भान नहीं हो सकता। ज्ञातापन प्राप्त करनेके लिअे मन अेक आवश्यक साधन है। मनका व्यापार जैसे जैसे अधिक विकसित व शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञातापन अधिक स्पष्ट होता जाता है और अुसके द्वारा प्राप्त अनुभव अधिक सूक्ष्म और तलस्पर्शी होता जाता है — सो आखिर यहाँ तक कि वह अपने व जगत्‌के अस्तित्वके मूलमें स्थित चैतन्य सत्ताको भी समझ सकता है। यह सच है कि जो कुछ ज्ञान हममें जाग्रत होता है (अुठता है), वह अेक दृष्टिसे कल्पना ही है। फिर भी अिस कल्पनाके मूलमें जितना नियमावलोकन है, जिस अंश तक अेककी कल्पना दूसरोंकी कल्पनाओंके साथ मिल जाती है, जहाँ तक अेकको होनेवाली प्रतीतियाँ वह दूसरोंको कह सकता है और जिस हद तक अुस कल्पनाकी अवगणना करनेसे व्यवहार चल नहीं सकता, अुस अंश तक यह माने बिना नहीं चल सकता कि संसार जैसी कोअी चीज जरूर है, अुसमें कुछ नियमाधीन क्रियायें चलती हैं, कुछ नियमोंके अनुसार ही अुसकी प्रतीति होती है और वह गन्धर्वनगर या मृगजल जैसी या रज्जु-सर्पकी तरह या 'नक्को नक्को राजकी कथा'* की तरह कोरी कल्पना ही नहीं है। यह कहनेके बजाय कि जगत् जो दिखाअी देता है सो हमारी अज्ञान-जन्य कल्पनाके कारण है, यह कहना ज्यादा अुचित है कि जगत् है अिसलिअे दिखाअी देता है; और यदि हम समनस्क हों तो हमें अुसकी प्रतीति होती है

* वेदान्तकी पुस्तकोंमें सृष्टिका मिथ्यात्व बतानेके लिअे अेक कथा कही जाती है: अेक था नक्को नक्को राजा। अुसके थे तीन लड़के; अुनमेंसे दो तो जन्मे ही नहीं थे व तीसरेकी बात ही गलत थी; अुन्होंने तीन गाँव बसाये थे। अुनमें दो तो खाली ही थे और तीसरा बसा ही नहीं था . . . वगैरा।

और ज्यों ज्यों हमारा मन अधिक शुद्ध और अभ्युदित होता है, त्यों त्यों अुस प्रतीतिका स्वरूप अधिक सूक्ष्म और तलस्पर्शी होता जाता है।

यह अेक दूसरी बात है कि मनको अेक केन्द्रपर लाना जरूरी है। और जब हम अैसा करते हैं तब वह केन्द्र अितना सूक्ष्म हो जाता है कि अुसका व्यापार ठीक अुसी तरह दिखाअी नहीं पड़ता, जैसे कि अणुके सदृश वस्तुको सूक्ष्मदर्शक यन्त्रके विना हम नहीं देख सकते। परन्तु अुस समय अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण ही वह मन अत्यन्त बलवान् व तलस्पर्शी होता है। अिसमें मनकी प्रज्ञता अधिक है, कम नहीं। किन्तु मनोव्यापार ही तो ज्ञानका साधन है, अुसका व्यापार अज्ञान नहीं है। मनकी शुद्धि व विकासकी न्यूनताके कारण हो सकता है कि वह ज्ञान स्थूल या भ्रम-युक्त हो, परन्तु है तो वह ज्ञान ही, ज्ञानका अभाव — जड़ता — अज्ञान नहीं है।

जो जगत् हमें दिखाअी देता है, वह किसी जादूगरके खेल जैसा नहीं है कि 'फू' करनेसे अुड़ जाय। अुसके स्वरूप-विषयक हमारी कल्पना भले ही गलत हो, परन्तु अिसके लिअे अुसका जो हमारा अेक मात्र साधन है, अर्थात् मन, अुसे ही हमें अधिक शुद्ध और सूक्ष्म करना चाहिये। जिन जिनको आत्म-प्रतीति हुअी है, अुन्हें अिसी तरीकेसे हुअी है। यही आश्चर्य है कि सन्तोंने खुद सूक्ष्म प्रज्ञावान होते हुअे भी अशुद्ध मनस्कताको अज्ञानका कारण बतानेके बजाय अैसा अुपदेश किया है कि 'अमनस्क हो ओ, क्योंकि समनस्कता ही अज्ञान है!'

> यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। × × ×
> स तु तत्पदमाप्नोति ॥ ×
> अेषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
> (कठोपनिषद्)

जो विज्ञानयुक्त, समनस्क, और सदा पवित्र है, वह अुस पदको प्राप्त करता है। × × × अिन सब भूतोंमें गूढ़रूपसे रहा आत्मा प्रकट दिखाअी नहीं पड़ता; परन्तु कुशाग्र व सूक्ष्म बुद्धिसे सूक्ष्मदर्शी लोग अुसे जान सकते हैं।

२२

लीलावाद

साधकको अुलझनमें डालनेवाला यह अेक और शब्दजाल है। अेक ओरसे यह कहा जाता है कि 'यह सारी दुनिया भगवान्ने खेलमें (लीलया) अपनेमेंसे रची है और यह सब कुछ भगवद्रूप ही है;' और दूसरी ओरसे अुसे यों डराया जाता है कि—'भगवानका भजन करके अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक कर डाल। यह मनुष्य-जन्म बार बार नहीं मिलता। अेक बार फिजूल चला गया, तो फिर तुझे अपने कर्मानुसार कीड़े, कुत्ते या न जाने किन किन योनियोंमें भटकना पड़ेगा'। अथवा अेक ओर यह कहा जाता है कि 'भगवान् सूत्रधार है और तू अुसके हाथकी कठपुतली है' और दूसरी ओर बताया जाता है कि 'भगवान् तो केवल कर्मफलप्रदाता है, अपने कर्मोंके लिअे तू खुद ही जिम्मेवार है।'

बेचारा साधक अिन परस्पर विरोधी वचनोंमें मेल नहीं बैठा सकता। और कअी बार अुसके मनमें यह खयाल अुठता है कि 'भगवान्की यह कैसी स्वच्छन्दता है, जिसकी बदौलत हमें ये सब व्यथायें भुगतनी पड़ती है!' अिस अुलझनका समाधान करनेके लिअे अुसे बताया जाता है कि 'तू अपने मैं-पनको छोड़कर भगवद्दृष्टिसे देख। फिर न कहीं सुख दिखाअी देगा, न दुःख।' साधक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अैसी प्रतीति करनेका थोड़ी देर प्रयत्न करता है; पर जब वह व्याकुलता व दुःखका असह्य भार बराबर अनुभव करता है, तब यह क्यों कर मान सकता है कि दुःखका अस्तित्व ही नहीं है!

तो, अब अिस लीलावादके मूलमें तत्वदृष्टि अितनी ही है कि यह सब विश्व अेक चित्तत्वसे ही अुत्पन्न हुआ है। कैसे अुत्पन्न हुआ व क्यों हुआ?—अिस प्रश्नके अुत्तरमें 'लीला' शब्दका प्रयोग किया जाता है। तब वहाँ अुसका सीधासादा अर्थ अितना ही है कि यह चैतन्यके सहज स्वभावसे ही अुत्पन्न मालूम होता है; परन्तु अिससे अधिक निश्चित प्रयोजनका हमें पता नहीं लग सकता।

किन्तु यदि ब्रह्मसूत्रकारको यह पता होता कि यह लीला शब्द साधकके मनमें कैसी गलतफहमी और ढोंगी पुरुषोंके लिअे किस तरह ढोंग फैलाने व बढ़ानेकी अनुकूलता पैदा कर देगा, तो अुन्होंने अिसका प्रयोग न किया होता।* यह वेदान्तका सिद्धान्त है कि चैतन्य विश्वका अुपादान कारण है — चित्तत्वसे ही विश्व बना है; परन्तु 'लीला' शब्दके प्रयोगके साथ ही 'चैतन्यसे बना है' यह कहनेके बजाय 'भगवान्‌ने बनाया है' यह कहा जाता है। अिससे अुपादान कारणकी जगह अैसा खयाल बन जाता है कि अेक परशक्ति विश्वका निमित्त कारण है। पाखण्डी लोग किस तरह अिस लीला शब्दका दुरुपयोग करते हैं, अिसकी चर्चा करनेकी यहाँ जरूरत नहीं है।

अनन्त प्रकारकी शक्तियोंके बीजरूप चैतन्य शक्तिसे यह विश्व बना है; वह चिद्‌रूप होनेसे ऋत भी है — अर्थात् निश्चित नियमोंके अनुसार ही यह चैतन्य क्रियावान होता है; क्रमशः अिसमेंसे ही मनुष्य अुत्पन्न हुआ है, मनुष्यकी विविध शक्तियाँ बनी हैं; अुसमें कम-ज्यादा स्वाधीनता और स्वतन्त्रताका भी अुदय हुआ है: अुसकी बदौलत वह अपनी बाह्यशक्तियों या परिस्थितिके परिपूर्ण अधीन या विवश नहीं रहता, बल्कि अुसके परे हो सकता है, अुसपर थोड़ा-बहुत काबू भी पा सकता है, स्वेच्छानुसार कम-ज्यादा अपना नियमन भी कर सकता है, और अिस तरह मनुष्यमें अिस शक्तिका आविर्भाव होते होते अैसी स्थिति आती है कि जिस तरह अेक बीज वृक्षरूप बननेमें स्वतः अदृश्य व नष्टवत् हो जाता है तथा वहाँसे प्रारंभ करके जब दूसरा बीज पैदा कर देता है तब अुसकी परिक्रान्ति (Cycle) पूरी हुअी मानी जा सकती है, वैसे वह अेक चित्तसे अन्वित चैतन्यशक्ति अपनी सत्ताकी प्रतीति जब वहाँ पैदा करा चुकती है, तो अुसकी परिक्रान्ति पूरी हो जाती है।

'लीला' शब्द परमतत्त्वमें स्वच्छन्दताका भाव पैदा करता है, परन्तु हम यह जानते हैं कि अेक छोटेसे तिनकेका भी हिलना या महान् जल-प्रलय तथा भूकम्प जैसी बातोंका होना भी निश्चित नियमोंके अनुसार ही

---

* ब्रह्मसूत्र २-१-३३

होता है; अैसे कुछ नियमोंको हम जानते भी हैं; जितनेका ज्ञान मनुष्यको हुआ है अुनके आधार पर अुसने कअी शक्तियोंपर विजय भी प्राप्त की है, और दूसरी शक्तियोंको पहचानने या अुनपर विजय प्राप्त करनेका वह प्रयत्न कर रहा है। जिन नियमोंको हम जान चुके हैं अुनके बनिस्बत जिन्हें हम नहीं जानते वे अधिक हैं और कदाचित् रहेंगे भी; फिर भी जिनको हम जान गये हैं, अुनपरसे हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि चैतन्य ऋत है, जगत् ऋत है; लीला — स्वच्छन्दता — स्वच्छन्दी बालकके जैसे भगवानकी क्रीड़ा — नहीं है, और स्वच्छन्दी बालककी तरह

'पग पाँखोंको पकड़े तोड़े, राजी हो कर लखने छोड़े।'

भगवान मनमानी-घरजानी करनेवाला, सैलानी, भावनाहीन, जीवोंको अुत्पन्न करके अुनके क्लेशमें आनंद माननेवाला, किसी धाममें स्थान बनाकर रहनेवाला बादशाह नहीं है।

२३
पूर्णता

जो पुरुष अभ्युदयकी अिच्छा रखता है, अुसके मनमें पूर्ण होनेकी अभिलाषा होना अुचित और स्वाभाविक ही है; परन्तु यदि पूर्णता-विषयक अुसका आदर्श और अुस पदको प्राप्त करनेकी पद्धतिके सम्बन्धमें अुसकी कल्पना भ्रमपूर्ण हो, तो अुससे अुसके अधिक चक्करमें पड़ जानेकी सम्भावना रहती है।

पहले तो अुसे चाहिये कि वह पूर्णता-प्राप्ति सम्बन्धी कुछ शक्या-शक्यताओंका विचार करे। चैतन्य सर्वशक्तिमान है। शक्तिमत्ताकी दृष्टिसे (Potentially) जहाँ जहाँ चैतन्य स्फुरित दिखाअी देता है, वहाँ वह सर्वत्र परिपूर्ण और सम है। जिस स्थिति तक अेक प्राणी पहुँच चुका है, वहाँ तक दूसरा कोअी भी प्राणी पहुँच सकता है। यह सब जितना सच है, अुतना ही यह भी सच है कि कोअी भी जीव किसी निश्चित क्षणमें अपनी शक्तिको, अुसकी अुपाधियों तथा निश्चित नियमोंके वशवर्ती होकर ही प्रकट कर सकता है। अर्थात् चैतन्यकी शक्तिमत्ता (Potentiality)

तो असीम है; परन्तु किसी निश्चित क्षणमें अुसे प्रकट करनेकी अुसकी शक्ति मर्यादित है। अेक पहल्वान मोटरको रोक सकता है, तो मुझमें भी अुसी चैतन्य-शक्तिका निवास होनेसे मैं भी शक्तिमत्ताकी दृष्टिसे अैसा करनेकी क्षमता रखनेवाला समझा जा सकता हूँ। परन्तु अिसी क्षण मैं अुस शक्तिको प्रदर्शित नहीं कर सकता, यही नहीं बल्कि मृत्यु तक भी वैसी शक्तिको मेरे शरीरमें प्रदर्शित करनेका सामर्थ्य आना न आना अन्य नियमोंके अधीन है। यदि मैंने अपने पूर्व-जीवनमें अैसी शक्ति प्राप्त करनेका कभी संकल्प भी न किया हो, अपने शरीरकी अैसी हालत कर डाली हो, अुसे अैसा पंगु बना डाला हो, कि अैसी शक्ति प्राप्त करने योग्य सुधार अुसमें न हो सके, तो सम्भव है कि मैं कभी भी अपने शरीरके द्वारा पहल्वान जैसी शक्ति न प्रदर्शित कर सकूँ। चैतन्यके सर्वशक्तिमान् होते हुअे भी अुस शक्तिको अमुक रूप व मात्रामें प्रदर्शित करनेकी अपनी शक्तिको मैंने अपनी अब तककी जीवन-प्रणाली द्वारा मर्यादित कर लिया है।

अिस कारणसे यह समझनेकी भूल न करनी चाहिये कि वे सब पुरुष जिन्हें आत्म-प्रतीति हो चुकी है शरीर, मन या बुद्धिकी अेक-सी शक्ति रखनेवाले होने चाहियें। अैसी व्यक्तिगत मर्यादाके साथ देश-कालकी मर्यादा भी पैदा हो जाती है। अर्थात् आत्म-प्रतीतिवान पुरुष अपने समयके प्रभावसे बिलकुल ही मुक्त होता है, अैसा माननेकी भूल भी न करनी चाहिये। जैसे, बुद्धकी पूर्णता अुनके समय व देशके अनुसार होगी और कृष्णकी अुनके देश-कालके अनुसार। बुद्ध, महावीर व गांधीजी तीनों अहिंसाके हिमायती हैं, फिर भी तीनोंपर अपने अपने समयका प्रभाव रहनेके कारण अुनकी अहिंसाकी आचार-सम्बन्धी कल्पनामें भेद हो गया है। अिसका यह अर्थ हुआ कि अैसे पुरुषोंकी शक्तियों या गुणोंने अुनके जीवनमें जो विशिष्ट रूप प्राप्त किया हो, अुसे — अुस विशेषताको — कभी आदर्श नहीं बना सकते। अुन शक्तियों व गुणोंका विचार आचरणके रूपमें नहीं, बल्कि भावनाके रूपमें ही करना चाहिये। अुस आचारकी योग्यायोग्यता आजकी दृष्टिसे जाँचनी चाहिये, और अुसे व्यक्त करनेकी विशिष्ट प्रणाली वर्तमान युगके अनुरूप होनी चाहिये।

दूसरे, पूर्णताके आदर्शके सम्बन्धमें स्थिर सम्पत्ति और विभूतिका भेद ध्यानमें रखना जरूरी है। अर्जुन अपने समयमें अेक अद्वितीय योद्धा था, फिर भी अुसे अुत्तरकालमें डाकुओंने लूट लिया। बुढ़ापा, निराशा आदिसे अुसके लड़नेकी शक्ति कम हो गअी और वह हार गया। किन्तु अिससे कोअी यह नहीं कह सकता कि अर्जुन युद्धविद्या भूल गया था, या अुसकी वीरता कम हो गअी थी। अपनी विद्याका प्रयोग कर दिखानेका सामर्थ्य स्वयं विद्यासे कम स्थायी होता है। अिससे भी आगे जाकर कदाचित् अैसा भी हो कि कोअी सेनापति बुढ़ापेमें, अभ्यास न रहनेसे, युद्धकला भी भूल जाय। फिर भी अिससे यह नहीं कहा जा सकता कि अुसका शौर्य घट गया। अर्थात् युद्धविद्या और अुसका प्रयोग ये दो अुसकी विभूतियाँ हैं और शौर्य अुसकी स्थिर सम्पत्ति है। भले ही वह अशक्त हो जाय, या युद्ध-विद्या भूल जाय, फिर भी अुसका शौर्य अनेक तरहसे व्यक्त हुअे बिना न रहेगा।

मनुष्य जिन जिन विद्याओंको सीखता है और अुनके प्रयोग-रूपमें जो जो कर्म करता है, अुनमेंसे हरअेक अुसके मनपर अेक अेक गुणका संस्कार डालता है। अेक ही प्रकारके अैसे कर्मोंका अभ्यास अिन गुणोंको दृढ़ करके अुन्हें अुसका स्वभाव बनाता है और वह अुसकी स्थिर सम्पत्ति होती है। अब कालान्तरमें अैसा हो सकता है कि अिन कर्मोंके करनेका अवसर ही अुसके जीवनमें न आवे, तो भी अुसका यह स्वभाव अुसके जीवनके सूक्ष्म प्रसंगोंमें भी झलके बिना न रहेगा। अब चूँकि वे सूक्ष्म प्रसंगोंमें ही व्यक्त होते हैं, अिससे हो सकता है कि वे विभूति जैसे आकर्षक न हों; फिर भी वह अुसकी स्थिर सम्पत्ति है।

पूर्णताका विचार हमें अैसी स्थिर सम्पत्तिके — गुणोंके — सम्बन्धमें करना चाहिये। अब यह जुदा बात है कि कौनसी विद्यायें या विभूतियाँ अुसे प्राप्त करनेका साधन बनती हैं।

गुणोंकी दृष्टिसे भी पूर्णताका विचार दो तरहसे करना होगा: विविधताकी दृष्टिसे तथा किसी अेक गुणकी पराकाष्ठाकी दृष्टिसे। जुदा जुदा गुण जुदा जुदा समयमें भले ही महत्व प्राप्त कर लें और युगानुसार किसी अेक गुणकी पराकाष्ठा होना भी भले ही आवश्यक समझा जाय,

किन्तु विविधताको गौण न समझना चाहिये। क्योंकि जीवनके प्रत्येक प्रसंगमें ही नहीं, बल्कि मनुष्यके विशिष्ट गुणका भी विवेकयुक्त व्यवहार करानेमें विविधताकी जरूरत है।

परन्तु यह विविधताका विषय जब सीधी तरहसे समझा जाता है, तो भ्रम नहीं होता; परन्तु जब किसी तत्ववादकी दृष्टिसे अिसका विचार किया जाता है, तब साधक चक्करमें पड़ जाता है। जैसे कुछ लोग कहते हैं— 'भगवान् पूर्ण हैं; अतः वह कामी, क्रोधी, लोभी, हिंसक, अहिंसक सब कुछ है। अब यदि मुझे भी पुरुषोत्तम होना है, तो मुझे भी अिन सब भावोंको ग्रहण करना चाहिये।' मनुष्य जब विवेक-बुद्धिको तिलांजलि देकर किसी वादके जालमें फँस जाता है, तब अैसी ही अुलझनमें पड़ जाता है। नहीं तो वह समझ लेगा कि गुणोंकी विविधतामें प्रत्येक गुणके अुन्नत या व्यवस्थित स्वरूपका ही विचार करना अुचित है। जैसे — कामके मूलमें स्थिर गुण है प्रेम व सर्जनता; किन्तु कामविकारमें अुसका स्वरूप अुन्नत नहीं है; शुद्ध प्रेम व शुद्ध रचना-शीलता योग्य व अुपादेय है। अिसी तरह क्रोधके मूलमें अव्यवस्थित तेजस्विता है, किन्तु अुन्नत तेजस्विता अुचित व ग्राह्य है। लोभमें अनुन्नत संग्रहेच्छा है। अिसका भी अुन्नत मार्ग हो सकता है। अिस तरह गुणोंकी अुन्नत कोटिमें विविधता और अुन सबका सामञ्जस्य हमारी पूर्णताका आदर्श हो, तो यह अनुचित नहीं है और सादे ढंगसे समझमें आने जैसा है। परन्तु यह कहा जाय कि पूर्णतामें ब्रह्मचर्यका भी समावेश है और लम्पटताका भी, तो यह पूर्णताका विचित्र और भ्रमपूर्ण चित्र है।

पूर्णता प्राप्त करनेके लिअे भी ध्यास-योग बताया जाता है। 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' अैसी भावना करते रहनेसे कअी लोग मानते हैं कि हम पुरुषोत्तम हो सकते हैं। परन्तु यह तरीका गलत है। चाहे 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' यह कहें या 'मैं सद्गृहस्थ हूँ' यह कहें, हम वैसे ही बन सकते हैं जैसी कि पुरुषोत्तम या सद्गृहस्थ विषयक हमारी कल्पना होगी — यह अेक बात। और दूसरे यदि ध्यास करनेसे कोअी व्यक्ति पुरुषोत्तम हो सकता है, तो फिर बड़ौदाके गायकवाड़ तो जरूर ही हो सकना चाहिये। पागलखानेमें तो अैसे कितने ही न जाने क्या क्या हो जाते हैं, परन्तु

समझदारोंकी दुनियामें अैसा कभी नहीं हो सकता । यदि हमें पूर्णता ही प्राप्त करनी है, तो वह प्राण-पणसे प्रयत्न किये बिना केवल ध्याससे प्राप्त हो जायगी, अैसी आशा करना खेदजनक नासमझी है । दुर्भाग्यसे जब देशमें पुरुषार्थ घट जाता है और केवल कल्पना-शक्ति द्वारा पोषित आकांक्षायें ही प्रबल हो रहती हैं, तभी मानता, भाव-सञ्चार, ध्यास, आदि अुपायोंसे ही मनुष्य अपने ध्येयको प्राप्त करनेकी आशा करने लगता है ।

२४

अज्ञानका स्वरूप व सर्वज्ञता*

'मायावाद' नामक परिच्छेदमें यह बताया गया है कि साधकके मनमें यह प्रश्न अुठता है कि आत्मामें अज्ञान कहाँसे आया और अिसका समाधानकारक खुलासा अुसे नहीं मिलता । अतअेव अज्ञानके विषयमें यहाँ कुछ विशेष विचार कर लेना ठीक होगा ।

सब वेदान्ती कहते हैं कि अज्ञान जैसी कोअी चीज है ही नहीं । फिर भी जिस अंश तक हमें अज्ञानका अनुभव होता है, अुस अंशतक अुनके अिन वचनोंसे हमारा समाधान नहीं हो सकता । अतः यह कहनेके बनिस्बत कि अज्ञान है ही नहीं, यह ज्यादा अुचित होगा कि हम अज्ञानके स्वरूपका ही पता लगावें ।

'ज्ञान' शब्दमें दो भावोंका समावेश होता है—(१) भान, जाग्रति; और (२) किसी पदार्थ या कर्मके सिलसिलेमें अुसके स्वरूप, गुण, धर्म, अन्य पदार्थोंके साथ अुसके सम्बन्ध आदिका निश्चय ।

आगे योगखण्डमें हमने समझाया है कि ये दोनों भाव हमारी बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं । ज्ञान व अज्ञान दोनों शब्द बुद्धिके व्यापारको दर्शानेके लिअे योजित होते हैं ।

---

* 'योगखण्ड' प्रकरण पढ़ लेनेके बाद यह प्रकरण ठीक तरहसे समझमें आ जायगा । अतः जिनकी समझमें यह प्रकरण न आवे, वे 'योगखण्ड' पढ़ लेनेके बाद अिसे पुनः पढ़नेकी कृपा करें ।

अज्ञानके अन्दर अिसके अुलटे भाव आते हैं — अर्थात् (१) बेहोशी — भानहीनता, निद्रा आदि और (२) किसी पदार्थ या कर्मके स्वरूप, गुण, धर्म आदिके विषयमें निश्चयका अभाव।

मतलब कि यह दो प्रकारका अज्ञान तो है ही।

अिसके अलावा बुद्धिका जो जाग्रति या भानका व्यापार है, वह अपूर्ण हो सकता है। 'योगखण्ड' पढ़नेवाले पाठक जान लेंगे कि वृत्तिके अुद्भवके साथ ही चार सम्प्रज्ञान अुठते हैं और यदि प्रज्ञा अितनी सूक्ष्म न हुअी हो कि हमारा ध्यान अुनमेंसे किसीकी या सबकी तरफ जाय, तो ज्यों ज्यों ये सम्प्रज्ञान स्पष्ट रूपसे अुठते जाते हैं, त्यों त्यों मालूम पड़ता है कि अिससे पूर्वकी स्थिति अपूर्ण भानकी या अधूरे ज्ञानकी थी। अब पूर्ण भानकी दृष्टिसे अपूर्ण सम्प्रज्ञान भी अज्ञान ही है।

पदार्थ या कर्मके सिलसिलेमें अुसके स्वरूप, गुण, धर्म, अन्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध, अुसकी ठीक कीमत आदिके सम्बन्धमें जो निश्चय होता है वह ज्ञान तो जरूर है, परन्तु यदि कम अनुभव या थोड़े विचारसे वह अुत्पन्न हुआ हो तो ज्यों ज्यों हमारा अनुभव या विचार बढ़ता है त्यों त्यों अिस निश्चयमें फर्क पड़ता जाता है और यह मालूम होता है कि अिससे पहलेका निश्चय विपरीत था, काल्पनिक था, या अधूरा था। बादके अनुभव या विचारसे पहलेका निश्चय गलत साबित होता है, अिसलिअे अुस दृष्टिसे यही साबित होता है कि पूर्वका ज्ञान अज्ञान ही था। अिस तरह अज्ञान चार प्रकारका हो जाता है —

अिस तरह अिस बातसे अिनकार नहीं किया जा सकता कि बुद्धिमें अज्ञान हो सकता है। अिसके भी अिनकारसे केवल शब्दजाल ही अुत्पन्न होता है।

परन्तु यह कहा जाता है कि बुद्धिमें जो यह अज्ञान होता है, अुसका भी हमें ज्ञान होता है, अिस अज्ञानके भी हम साक्षी होते हैं; और अिस दृष्टिसे साक्षीरूप आत्मामें अज्ञान नहीं है, वह बुद्धिके ज्ञान तथा अज्ञान दोनोंको जानता है और अिस तरह सदा ज्ञाता ही है। बुद्धि-वृत्ति और साक्षित्व दोनोंमें भेद करके यह समझाया जाता है कि अज्ञान जैसा कुछ है ही नहीं।

तात्विक दृष्टिसे यह सच है। व्यावहारिक दृष्टिसे मनुष्य भरसक अपनी बुद्धिके ही अज्ञानको मिटानेका यत्न करता है। अेक नकुछ वस्तुसे लेकर व्यवहारके समस्त कर्मोंमें और आत्माके स्वरूपका पता लगानेमें वह बुद्धिको ही सत्य निर्णयपर लाना चाहता है। साक्षी सदैव ज्ञाता है, यह जाननेसे सदैव अुसका काम नहीं चलता। वह तो बुद्धिके ज्ञानवान् होनेसे ही चलता है।

मनुष्य बुद्धिको सर्वज्ञ बनानेका यत्न करता है। परन्तु प्रकृतिके अनन्त होनेके कारण अेक तरहसे देखें तो वह अुसमें सफल नहीं होता। बहुत समयसे हम यह जानते आये हैं कि प्रकृतिके व्यापार सनातन व शाश्वत नियमोंके आधारपर चलते हैं। ये नियम कितने हैं, व क्या हैं — अिसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिअे वैज्ञानिक, योगी, भक्त और तत्वचिन्तक भिन्न भिन्न रीतिसे प्रयत्न करते आये हैं। अिस तरह यद्यपि ज्ञानकी वृद्धि होती जा रही है, तो भी अुसका क्षेत्र और भी विस्तृत मालूम पड़ता जाता है।

हाँ, अिन प्रयत्नोंके सिलसिलेमें अुसे कुछ निश्चित भूमिकाओंका ज्ञान होता है। अिससे यह न मान लेना चाहिये कि अुसमें सारी प्रकृतिका, समस्त व्यवहारोंका, भूत, भविष्य, वर्तमान सबका, व्यावहारिक समस्याओंका तथा अिन सबके सब प्रकारोंका भी ज्ञान होता है। अिससे अितना ही समझना चाहिये कि जिन सिद्धान्तों या नियमोंपर विश्व तथा मनुष्य-जीवनका तन्त्र चलता है तथा जिनके द्वारा हम अपने दुःखोंको मिटा सकते हैं और शान्ति-सन्तोष-समाधान पा सकते हैं, अुनका वे पता लगा लेते हैं।

अज्ञानका स्वरूप व सर्वज्ञता

योगदर्शनमें अिस ज्ञानकी सात सीमायें बतायी गअी हैं:*
(१) जीवन-तत्व सम्बन्धी ज्ञान; (२) जीवनको जकड़ने व छुड़ानेवाले संस्कारोंका ज्ञान; (३) दुःखनाशक और समाधानकारक सम्पत्तियोंका ज्ञान; (४) कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान; (५) समाधानकारक चित्तके भावोंका ज्ञान; (६) दुःखकारक चित्तके भावोंका ज्ञान; और (७) नित्यानित्य-विषयक ज्ञान। संक्षेपमें, मानव-जीवनके तात्विक प्रश्नोंका ज्ञान।

अिन विषयोंके निःसंशय सिद्धान्त जिनके हाथ लग गये हैं और अुनके अनुसार जिनका जीवन बना है, अुनको अिस विषयका सर्वज्ञ कहनेमें बाधा नहीं है। परन्तु सर्वज्ञका अर्थ अितना ही है— मनुष्य-जीवनके तात्विक प्रश्नोंके विषयमें सर्वज्ञ। अिसका अर्थ यह नहीं है कि यदि अुसने आज अुपवास किया हो, तो वह निश्चयपूर्वक यह कह सकेगा कि अुसका नैतिक असर दूसरोंपर क्या होगा, अथवा अुसके पाँवमें यदि पीड़ा हो तो वह अुसका अचूक अिलाज कर सकेगा, अथवा यह ठीक ठीक बता सकेगा कि १० मिनिट बाद अुसके सामने कौनसा कर्तव्य आकर खड़ा हो जायगा, अथवा यह बात सही सही बता सकेगा कि मंगल-ग्रहपर मनुष्य रहते हैं या नहीं।

पूर्वोक्त प्रकारकी ज्ञान-भूमिकाओंकी प्राप्तिका फल यह बताया गया है—(१) जीवनके अन्तिम ज्ञेयकी प्राप्ति, (२) मुक्ति, (३) शान्ति, (४) कृतकर्तव्यता, (५) दुःखनाश, (६) भयनाश, और (७) आत्मस्थिति।

समस्त विद्याओंका प्रयोजन ये सात फल ही हो सकते हैं; यदि अिस प्रयोजनकी सिद्धि वेदशास्त्र सम्पन्न और सर्व-विज्ञान-कला-विशारद होनेसे हो सकती हो तो अुस तरह, और सीधा-सादा जीवन व्यतीत करके तत्सम्बन्धी अपने कर्तव्योंका पालन करते हुअे हो सकती हो तो अुस तरह कर लेनेमें हर्ज नहीं है। अिस प्रयोजनकी दृष्टिसे दोनों अेकसे सर्वज्ञ कहे जायँगे। यदि अिस प्रयोजनकी सिद्धि न हो, तो वह शास्त्रज्ञ भी सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता।

---

* तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। २-२७।

सारांश यह कि श्रेयार्थीको जिस सर्वज्ञताकी आकांक्षा रखनी चाहिये, वह है मानवजीवनके आदि, मध्य और अन्त सम्बन्धी तथा चित्त-शान्ति सम्बन्धी प्रश्नोंकी; और अिन प्रश्नोंके बारेमें भी अुनके अनन्त अुप-प्रश्नोंकी नहीं, बल्कि मूलभूत सिद्धान्त-विषयक अुप-प्रश्नोंकी। अिन अुप-प्रश्नोंके ज्ञानका अनादर करना भूल है; यदि कोअी अुप-प्रश्नोंका मूल सिद्धान्तोंके साथ मेल बैठाना न जाने या अुन सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें चरितार्थ न कर सके, तो यह नहीं कह सकते कि अुसने अिस ज्ञानकी 'प्रान्तभूमि' (सीमा) प्राप्त कर ली है।

जीवन-शोधन

[शोधनका अर्थ है अज्ञातकी खोज करना और ज्ञातका संशोधन करना]

खण्ड ५

सांख्य और वेदान्त-विचारके साथ दृश्यशोधन

१

प्रास्ताविक

अेक जगह स्वामी विवेकानन्दने सांख्य-दर्शनके शोधक कपिल मुनिकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। अुन्होंने कहा है कि वेदान्तीको भी यह माने विना गति नहीं है कि सांख्य-दर्शनकी विचार-पद्धति व्यावहारिक तौरपर सही है।

अतः वेदान्तके जिज्ञासुके लिअे भी कुछ अंशमें सांख्य-शास्त्रके परिचयकी जरूरत पड़ती है।

सांख्य-दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकोंकी भाषा और अुनके शब्दोंको समझनेमें कअी जगह मेरे मनमें भ्रमपूर्ण कल्पनायें अुत्पन्न हुअी थीं और दूसरोंको भी मैंने अैसे ही भ्रममें पड़ते हुअे देखा है। अिन भूलोंका परिणाम यह होता है कि अिस विषयके वैज्ञानिक पद्धतिसे जाँचने योग्य होते हुअे भी अैसा नहीं हो पाता; बल्कि सांख्य-दर्शन द्वारा वर्णित तत्त्वोंको विविध कल्पनाओं द्वारा समझ लेनेका प्रयत्न किया जाता है। और अिसी कारणसे तत्त्व सम्बन्धी प्राचीन कालके विचारोंमें वर्तमान वैज्ञानिक शोधके परिणाम-स्वरूप जो फर्क या घटा-बढ़ी करना अुचित है, वह नहीं होने पाअी। तथा कपिल मुनि द्वारा आविष्कृत शास्त्रमें बादके आर्य तत्त्व-चिन्तकों द्वारा किसी प्रकारकी वृद्धि हुअी दिखाअी नहीं पड़ती।

अुदाहरणके लिअे हम सबने अितना जरूर सुना होगा कि सांख्य-दर्शनके अनुसार यह विश्व चौबीस तत्त्वोंकी प्रकृति और पचीसवाँ पुरुष, अिस प्रकार पचीस तत्त्वोंसे मिल कर बना है। परन्तु तत्त्व किसे कहना चाहिये, अिस सम्बन्धमें हमारे मनमें बड़ी गलतफहमी रहती है। सांख्य-मत-प्रतिपादक कितने ही पौराणिक और प्राकृत भाषाके ग्रंथ देखनेसे बहुतोंकी यह कल्पना होती है कि जैसे रसायन-शास्त्रमें लोहा, सोना, प्राण-वायु, गन्धक आदि भिन्न भिन्न तत्त्व (स्वतंत्र पदार्थ) माने

गये हैं, अुसी तरहके महत्, अहंकार, मन, तन्मात्रा आदि अेक प्रकारके सूक्ष्म पदार्थ हैं। फिर सांख्यमें कहा है कि पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे यह जगत् बना है; तो अिससे सुननेवालेके मनमें अैसा खयाल जम जाता है कि मानो ये दो तत्त्व या सत्त्व आदि कालमें अेक दूसरेसे अलग रहते होंगे और जब वे आपसमें मिले, तब यह सृष्टि होने लगी; और पुरुषका जब कभी मोक्ष होगा, तब वह फिर प्रकृतिसे जुदा रहने लगेगा।

फिर वेदान्तके पञ्चीकरणमें अिन तत्त्वोंको और ही तरहसे घटानेका प्रयत्न किया गया है और अिससे यह गलतफहमी और भी बढ़ गअी है।

अिस कारणसे अिस शास्त्रके मूल सिद्धान्तोंको मैंने जिस तरहसे घटाया है, अुसको स्पष्ट और सरल रीतिसे समझानेका प्रयत्न निरर्थक न होगा; और अिससे यह भी जाना जा सकेगा कि अिस तरहकी जाँच करते हुअे वर्त्तमान वैज्ञानिक दृष्टिसे अिस शास्त्रमें क्या क्या घटा-बढ़ी करना अुचित है।

सांख्य-दर्शन आर्योंका प्राचीन पदार्थ-विज्ञानशास्त्र (Physics) है। किन्तु आर्योंके दूसरे शास्त्रोंके अनुसार अिसमें भी जगत्का निरीक्षण मनुष्यके 'मोक्ष'के लिअे जितना और जैसा आवश्यक मालूम हुआ अुससे अधिक नहीं किया गया। आर्थिक या व्यावहारिक दृष्टि अिस निरीक्षणमें शायद ही रही थी। अतअेव पाठकोंको यह बात याद रखना जरूरी है कि पदार्थ-विज्ञानका वह भाग अविकसित या अशोधित ही रह गया है, जो मोक्षके लिअे निरुपयोगी मालूम हुआ। अिस पुस्तकमें भी हमारी दृष्टि तो आध्यात्मिक ही है, अतअेव अिस ध्येयके सिलसिलेमें जितना आवश्यक रूपसे स्पष्ट करना पड़े अुससे अधिक विस्तार करनेका अिरादा नहीं है। परन्तु वर्त्तमान वैज्ञानिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टिमें असंगति न पैदा हो अिस तरह समझानेके खयालसे कुछ विस्तार जरूर करना पड़ा है। मुझे अुम्मीद है कि पाठकोंको वह व्यर्थ और जी अूबानेवाला न मालूम होगा। फिर भी यदि कोअी पूछे कि क्या यह सब जाने बिना श्रेयार्थीका काम न चल सकेगा? तो मुझे कहना पड़ेगा कि अैसी कोअी बात नहीं है। और अिसी खयालसे अिस खण्डको दो प्रकारके

अक्षरोंमें छापा है। अिससे जो अिसका आवश्यक भाग ही समझना चाहते हों, वे छोटे अक्षरोंवाला भाग छोड़ सकते हैं।

बहुत बार यह देखा गया है कि तत्त्वज्ञानमें रस लेनेवाले जो व्यक्ति आजकलका अंग्रेजी-विज्ञान पढ़े हैं, वे भी वैज्ञानिक विषयोंमें परस्पर विरुद्ध दो मत अेक ही साथ रखते हैं। अेक कॉलेज, अस्पताल और अुद्योग वगैराके लिअे और दूसरा प्राचीन तात्त्विक चर्चाके लिअे। मुझे आशा है कि अिस पुस्तकमें किये गये विवेचनसे यह विरोध दूर हो जायगा।

अिस विवेचनमें मैंने अिस बातकी कोशिश की है कि प्राचीन सांख्य शास्त्रको भी आधुनिक परिभाषामें और सुबोध रीतिसे पेश किया जाय। फिर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह 'विवेचन' ठीक परम्परागत दृष्टिके अनुकूल ही हुआ है। जो पाठक विशेष रूपसे चिकित्सक और जिज्ञासु हैं, अुनकी सुगमताके लिअे परिशिष्ट (१)में सांख्य-कारिकाओंका अनुवाद भी दे दिया है। परन्तु, अुसके अलावा कपिल मुनिकी डाली हुआी बुनियादपर ही किन्तु स्वतंत्र रूपसे अिसमें अेक नवीन दर्शन भी अुपस्थित किया गया है। अिस तरह अिस खण्डमें मेरा यह अुद्देश्य स्पष्ट ही है कि कपिल-मतमें शुद्धि-वृद्धि की जाय। और समझदार पाठकोंसे मेरा अनुरोध है कि वे तटस्थ बुद्धिसे अिस बातपर विचार करें कि यह परिवर्तन कहाँ तक अुचित हुआ है।

त्रिगुणात्मक प्रकृति

सांख्य शास्त्रमें पच्चीस तत्त्व माने गये हैं, जो अिस प्रकार हैं: — (१) पुरुष, (२) त्रिगुणात्मक प्रकृति, (३) महत् या बुद्धि,* (४) अहंकार, (५) मन, (६–१०) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (११–१५) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (१६–२०) पाँच तन्मात्रायें, और (२१–२५) पाँच महाभूत।

अिस विषयमें सांख्य शास्त्रके 'तत्त्व' शब्दका अर्थ ठीक समझ लेना ज़रूरी है। जैसा कि अूपर कहा गया है, ये सांख्य तत्त्व रसायन शास्त्रके तत्त्वोंकी तरह विभिन्न जातिके पदार्थ नहीं हैं, बल्कि जगत्के समस्त जड़ और चेतन पदार्थोंमें जो भिन्न-भिन्न धर्म (Properties) पाये जाते हैं, अुनके नाम हैं और अिसी रूपमें अिनका परिचय हमें कर लेना है।

अिनमेंसे फिलहाल पुरुष तत्त्वको हम अेक तरफ रख कर प्रकृति तत्त्व और अुसमेंसे परिणमित तेअीस तत्त्वोंका ही विचार करेंगे।+

प्रकृतिका दूसरा नाम प्रधान तत्त्व है और अुसे त्रिगुणात्मक कहा है। अिन तीन गुणोंके नाम सत्त्व, रज और तम हैं।

---

* सांख्य शास्त्रमें महत् और बुद्धि पर्यायवाचक शब्द हैं। योगमें चित्त, बुद्धि और सत्त्व समानार्थक हैं और ये सब महत्के अर्थमें ही लिये गये हैं। मैंने महत्का अर्थ दूसरी तरहसे किया है। अिसलिअे सब जगह अिसीका प्रयोग किया है और सब प्रकारकी मानसिक क्रियाओंके लिअे चित्त या सत्त्व शब्द अिस्तेमाल किया है। कपिल सांख्यमें जिन्हें बुद्धि और मन कहा है, वे दोनों तथा अिनसे भी अधिक दूसरे कुछ धर्मोंका समास अिस महत् शब्दमें होता है। अधिक विवेचन अुचित स्थान पर होगा।

+ पुराणमें रूपकात्मक विवेचन किये गये हैं। अुनपरसे तथा पुरुष और प्रकृति अिन नर-नारी वाचक शब्दोंके व्यवहारसे कितने ही विद्वान भी अैसा मानते दिखाअी देते हैं कि मानो पुरुष और प्रकृति अेक नर-मादाका जोड़ा है और अुनके संयोगसे दूसरे तत्त्व सन्ततिकी तरह पैदा होते हैं!

त्रिगुणात्मक प्रकृति

सांख्यकारिकामें अिन तीन गुणोंके सम्बन्धमें अिस प्रकार विवेचन किया गया है : "प्रीति, अप्रीति और विषादवाले, प्रकाश, प्रवृत्ति और नियम*के प्रयोजनवाले, परस्पर अभिभव, आश्रय, अुत्पत्ति और सहचारकी वृत्ति रखनेवाले ये गुण हैं।

"लघु, प्रकाशयुक्त और अिष्ट सत्त्वगुण है। प्रेरक और चल रजोगुण है। गुरु और आवरण रूप तमोगुण है।" (कारिका १२, १३)

अिसीके अनुसार गीताके चौदहवें अध्यायमें तीन गुणोंका और अुनके अुद्भव, लय आदिका विवेचन अधिक विस्तारसे किया गया है। यद्यपि अुसमें तथा यहाँ किये गये विवेचनमें बहुत तात्त्विक फर्क है; फिर भी वह मनुष्यके चित्त और स्वभावके अनेक दृश्यमान अवलोकनोंके आधार पर रचा गया है और व्यावहारिक दृष्टिसे अुसका बहुत कुछ अुपयोग भी है। अिसलिअे अिन तीन गुणोंकी प्राचीन कल्पना सम्बन्धी वास्तविक बुनियाद क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है।

अिनमें सबसे पहले तो यह जान लेना चाहिये कि सांख्य मतके अनुसार पुरुष अथवा आत्मा सब गुणोंसे परे है। वह बुद्धिका विषय नहीं है। जो धर्म बुद्धिके विषय बनते हैं, अुनमेंसे अेक भी पुरुषमें नहीं है। ये सब प्रकृतिके धर्म हैं। अिससे खुद ज्ञान भी पुरुषका धर्म नहीं, बल्कि प्रकृतिका ही धर्म है। अिस प्रकार सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, प्रकाश-अंधकार, प्रवृत्ति-आलस्य आदि सब अनुभव प्रकृतिके धर्म हैं, पुरुषके नहीं।

अिन अनुभवोंमेंसे लघुता (हलकापन), प्रकाश, प्रीति (अथवा सुख), ज्ञान आदि कुछ अनुभव प्राणीको अिष्ट मालूम होते हैं। सांख्य-शास्त्रियोंका कहना है कि ये सब प्रकृतिमें स्थित सत्त्वगुणके धर्म हैं।

परन्तु हमें अपने जीवनमें केवल अनुभव ही होता हो, अर्थात् महज ज्ञान ही होता हो या सुख-दुःख आदिका बोध मात्र होता हो, सो बात नहीं। हम सिर्फ अनुभव ही नहीं करते, बल्कि क्रिया भी करते हैं। अर्थात् करना, अकेले ज्ञानकी अपेक्षा अेक भिन्न प्रकारका धर्म है। अिस तरह प्रकृतिमें जो क्रियावान होनेका गुण है, अुसे रजोगुण कहा है।

---

* नियमका अर्थ यहाँ बन्धन, भार, या अड़चन पैदा करनेवाला, 'गुरु और आवरण' रूप है। अिस रूपमें अिसका अधिक खुलासा आगे किया गया है।

अिसके अुपरान्त अेक तीसरा गुण भी है, जो सत्त्व और रज दोनोंसे अुलटा है। यह केवल सत्त्वगुण और रजोगुणका अभाव ही नहीं, बल्कि अिन दोनोंसे अुलटी तरहका अेक जुदा ही धर्म है। जैसे पश्चिम दिशाका अर्थ पूर्व दिशाका अभाव ही नहीं बल्कि अुसकी विपरीत दिशा है, अथवा बायीं ओर जानेका अर्थ दाहिनी ओर न जाना अितना ही नहीं बल्कि दाहिनीसे अुलटी तरफ ही जाना है, अुसी तरह अज्ञान केवल ज्ञानका अभाव ही नहीं है बल्कि ज्ञानसे अुलटी दिशामें काम करनेवाला, ज्ञानका नाश करानेवाला, भूलें करानेवाला बल है। अथवा जैसे क्रूरताका अर्थ दयाका अभाव ही नहीं, बल्कि दयासे अुलटे प्रकारका काम करनेवाला गुण है। अिस तरह जो गुण केवल लघुता (हल्केपन)को ही नहीं हटाता, बल्कि गुरुता (जड़ता) अुत्पन्न करता है, ज्ञानको हटाकर अज्ञान (मिथ्या और विपरीत ज्ञान) अुत्पन्न करता है, प्रकाशको दूर हटाकर अंधकारको बढ़ाता है, क्रियाका नाश करके आलस्य, प्रमाद पैदा करता है, अिस प्रकार जो सत्त्व और रज दोनोंसे अुलटे प्रकारका बल है वह तमोगुण है। सत्त्व-गुणको यदि दाहिनी ओर जानेवाली गाड़ी कहें, तो तमोगुण बायीं ओर जानेवाली गाड़ी है। रजोगुणको यदि पूर्व दिशामें प्रवाहित क्रिया-शक्ति कहें, तो तमोगुण पश्चिम दिशामें प्रवाहित क्रिया-शक्ति है।

अिस तरह ये तीन गुण भिन्न भिन्न प्रकारकी किन्तु अेक दूसरेसे स्वतंत्र तीन शक्तियाँ अथवा बल हैं। प्रत्येक वस्तुमें ये बल काम करते रहते हैं, और कभी अेक, तो कभी दूसरा बल अधिक जोरदार होकर दूसरे दो बलोंकी शक्तियोंको कम-ज्यादा कर देता है। जैसे किसी अेक वस्तुको तीन जंजीरोंसे बाँध दें और तीन आदमी अुसे अलग अलग दिशाओंमें खींचें तो अुनके अलग अलग बल और अुनके बीचके अलग अलग कोणोंके कारण वह वस्तु स्थिर रहती है या अेक अथवा दूसरी दिशामें खिंचती है, वैसे ही प्रत्येक वस्तु पर अिन तीन गुणोंका बल काम करता रहता है। जुदा जुदा कारणोंसे अिन गुणोंका बल कम-ज्यादा होता है और अिस कारण वह वस्तु भिन्न भिन्न रूपमें परिवर्तन पाती है।

गुणोंको अिस प्रकार समझाने या स्पष्ट करनेकी यह पद्धति, जैसा कि अूपर कहा है, मुझे अधूरी मालूम पड़ती है, और अिस अंश तक

गीताके चौदहवें अध्यायवाला निरूपण भ्रमोत्पादक हो जाता है। मेरी दृष्टिसे तीन गुणोंका यह विषय जिस तरह समझना चाहिये, अुसका विशेष स्पष्टीकरण आगे मिलेगा। यहाँ तो सिर्फ अेक ही बात याद रखनेकी विनती करता हूँ और वह यह कि ये तीन गुण तीन जुदा जुदा स्वतंत्र बल नहीं हैं। प्रकृति तीन भिन्न भिन्न शक्तियाँ रखनेवाला कोअी अटपटा तत्त्व नहीं है, बल्कि तीन गुणों या विशेषणोंसे युक्त अेक ही तत्त्व अथवा शक्तिका नाम है। दूसरे तत्त्व अथवा धर्म अिस शक्तिमेंसे ही परिणत हुअे हैं। अिससे अुसे 'प्रधान' (मुख्य तत्त्व) भी कहते हैं। गुण खुद कोअी शक्ति या बल ही नहीं हैं। तो फिर अुन्हें स्वतन्त्र बल कह ही कैसे सकते हैं! अुन्हें तो अेक ही शक्तिके परस्पर जुदा न किये जा सकनेवाले तीन विशेषण ही कह सकते हैं। जैसे यदि हम कहें कि कपूर सफेद, मुलायम और सुगन्धित है, तो अिसमें हमारा आशय अितना ही होता है कि ये तीन कपूरके विशेषण हैं; यह नहीं कि ये तीन आगन्तुक और कम-ज्यादा होनेवाले अुसके धर्म हैं। अिसी प्रकार प्रकृतिके सत्त्व वगैरा गुण आगन्तुक नहीं, बल्कि सहज अर्थात् अुसके साथ सदैव रहते हैं। अगर यह कहें कि ये तीनों गुण ही प्रकृति हैं तो हर्ज नहीं।

फिर, आम बोल-चालमें हम सत्त्व, रज और तम अिन तीन शब्दोंका अिस्तेमाल विविध अर्थोंमें करते हैं। अिससे भी और कभी भ्रम खड़े होते हैं — जैसे निर्जीव वस्तुयें तमोगुणका कार्य और सजीव सत्त्वगुणका कार्य कही जाती हैं और रजोगुण सत्त्व और तमके बीचमें स्थित माना गया है।

अिसी प्रकार चित्तके अच्छे-बुरे या मध्यम स्वभावको दर्शानेके लिअे कभी कभी ये शब्द बोले जाते हैं। जैसे कि सद्गुणी मनुष्यको सत्त्वगुणी; बलवान, महत्त्वाकांक्षी और विलास-प्रिय मनुष्यको रजोगुणी; आलसी, जड़, क्रोधी और दुराचारी मनुष्यको तमोगुणी कहा जाता है।

शब्दोंके अिस प्रकार प्रयोग होनेमें कारण है और अुसका व्यावहारिक अुपयोग भी है। परन्तु तत्त्व चर्चामें अिन शब्दोंकी योजना खास अर्थमें ही होती है और अुन्हीं अर्थोंमें अुन्हें समझना चाहिये। अुनके

अन्य अर्थोंसे अुत्पन्न संस्कारोंको अुस समय दूर रखनेका प्रयत्न करना चाहिये।

अितनी सूचना करनेके बाद अब हम तत्त्व-दृष्टिसे अिन तीन गुणोंका अर्थ समझनेका प्रयत्न करेंगे। अिन अर्थोंको समझनेमें यह बात याद रखनी होगी कि गुण चूँकि प्रकृतिके विशेषण हैं, अतः जो अर्थ हम अुनका निश्चित करें वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बड़ेसे बड़े साकार अथवा निराकार, सजीव या निर्जीव प्रत्येक पदार्थमें मिलना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक पदार्थकी रचनामें प्रकृति तत्त्व तो अवश्य है ही। अतः कोअी पदार्थ अकेला तमोगुणी, अकेला रजोगुणी या अकेला सात्त्विक नहीं हो सकता। अर्थकी सचाअी या गलती जाननेके लिअे यह हमारी कुंजी है।

तो अब पहले **तमोगुण** को लें।

तमोगुण

विचार करनेसे मालूम होगा कि पदार्थ-मात्रमें हमको परिमितताकी प्रतीति होती है। छोटा-बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म, सरूप-अरूप प्रत्येक पदार्थ हमको किसी अेक खास भागमें ही स्थित और व्याप्त दिखाअी देता है। तरंगकी जैसी क्रियाओंमें भी स्थलकी मर्यादा है। अमुक क्षणमें वह अमुक ही देशमें भासित होती है। यह परिमितता खुद निष्क्रिय-जड़ (inert) जैसी लगती है। **अतः पदार्थ मात्रमें जड़ता या निष्क्रियताका खयाल दिलानेवाला परिमितताका जो गुण है, अुसे मैं तमोगुण कहता हूँ।** अिसे केवल सत्ता, अस्तित्व (essence, being), या केवल निष्क्रियता (inertia) का गुण भी कह सकते हैं। किन्तु परिमितता अथवा संक्षेपमें 'परिमिति' शब्द मुझे अधिक स्पष्ट और अर्थसूचक लगता है।

रजोगुण

परन्तु पदार्थोंका आन्तरिक निरीक्षण करनेसे हमें मालूम होता है कि बाह्यतः निष्क्रिय दिखाअी देते हुअे भी प्रत्येक पदार्थके अन्दर कोअी न कोअी क्रिया चलती ही रहती है। जिन अणुओंका वह पदार्थ बना हुआ है अुनमें सतत स्थानान्तर, कम्प, चलन, वलन होते ही रहते हैं। पदार्थ-

मात्रमें चलनेवाली अैसी आन्तरिक क्रिया अथवा गति रजोगुण है। अिस क्रिया-धर्म अथवा गति-धर्मके कारण ही हम यह जान सकते हैं कि किसी पदार्थका अस्तित्व है। जब अिस क्रिया-धर्म अथवा गति-धर्मका अधिक विकास होता है, तब वह सारा पदार्थ खुद हलचल-शील बन जाता है। **पदार्थ मात्रमें जो गति, क्रिया या कम्प (motion) धर्म दिखाअी देता है, अुसे मैं रजोगुण समझता हूँ।**

सत्त्वगुण

परन्तु परिमितता और गतिके अलावा प्रत्येक पदार्थमें अेक तीसरा गुण भी परखनेमें आता है। वह है व्यवस्थितिका। पदार्थोंकी परिमिति तथा गतिमें कुछ न कुछ व्यवस्थितता (order) होती है। पदार्थोंकी परिमिति तथा गतिकी व्यवस्थितताके भेदके कारण अुनमें (पदार्थोंमें) प्रकार-भेद पैदा होता है और अुनमें भिन्न भिन्न धर्मोंकी प्रतीति होती है। फौलाद और लोह-चुम्बक, लोहा और सोना, पशु और मनुष्य, अनघड़ चित्त और सुघड़ (संस्कारी) चित्त — अिनमें जो भेद दिखाअी देते हैं, वे सब अिनकी परिमिति तथा गतिमें रही व्यवस्थितिके भेदके कारण हैं। अिसलिअे **परिमिति तथा गतिके साथ रहनेवाली व्यवस्थितिको मैं सत्त्वगुण समझता हूँ।**

सच पूछिये तो जगत्में हम जो कुछ नामरूपात्मक पहचानते हैं, वह कुछ न कुछ व्यवस्थित और परिमित गतिका ही भान है। परिमिति, गति या व्यवस्थितिके भेदोंके कारण ही नाम और रूपके भेद पड़ते हैं। पानी जो अेक जगह बूँद, दूसरी जगह सरोवर और तीसरी जगह समुद्र कहा जाता है, अुसका कारण परिमिति-भेद है। वह अेक जगह झरना और दूसरी जगह नदी कहलाता है, सो परिमिति और गतिके भेदके कारण है। वह जल, बर्फ या भाप कहलाता है, सो अुसकी परिमिति, गति तथा व्यवस्थिति-भेदके फल स्वरूप है।

पदार्थमात्र अपने अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपमें केवल गति अथवा क्रिया (motion) ही है। अलबत्ता यह गति किसी न किसी तरह परिमित और व्यवस्थित रूपमें है। जिन्हें हम स्थूल पदार्थ समझते हैं, वे भी परिमिति तथा व्यवस्थिति-युक्त गतिके सिवाय और कुछ नहीं हैं। भिन्न

भिन्न अिन्द्रियोंके द्वारा हमें जो कुछ परिचय होता है अथवा अपने चित्तके द्वारा हम जिन जिन भावनाओं, विचारों आदिका अनुभव करते हैं, वह सब परिमितता, व्यवस्थितता और क्रियाके भानके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है। जगत्‌का जो भान हमें होता है, वह भिन्न भिन्न प्रकारकी सतत चलती हुअी क्रियाओंका ही भान है ।

प्रकृतिका अर्थ है शक्ति (force, energy)। शक्ति शब्द ही गति — क्रिया — को सूचित करता है। गति या क्रियाका विचार मनमें आते ही अुसमें परिमितता और व्यवस्थितताकी कल्पना करनी पड़ती है। **अतअेव परिमिति और व्यवस्थिति-युक्त गति ही प्रकृति है**। स्थूल या सूक्ष्म अैसी कोअी वस्तु नहीं है, जिसमें ये तीनों गुण न हों ।

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥
>
> (गीता, १८ : ४०)

[पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें (अैसा) कोअी भी प्राणी नहीं है, जो अिन प्रकृतिके तीनों गुणोंसे रहित हो ।]

देश, काल और स्वभावके स्वरूपोंका खुलासा भी हमें अिनमेंसे मिल जाता है ।

देशका अर्थ परिमितिका आलकन है; अुसमें पड़े फर्कका आकलन देशान्तर है।

कालका अर्थ गतिका आकलन है । अुसमें पड़े फर्कका आकलन कालान्तर है।

स्वभावका अर्थ पदार्थकी व्यवस्थिति — सत्त्वका आकलन है । जैसे, जलमें रसत्व, शक्करमें मिठास आदि। व्यवस्थितिमें पड़े फर्कसे पदार्थका सत्त्व बदल जाता है । और फिर वह पदार्थ बदल गया, अैसा मालूम होता है ।

जाग्रतिमें साधारणतया पृथ्वी और अवकाशकी परिमिति तथा सूर्यकी गति देश और कालके मापका गज बनती है ।

स्वप्नमें दृश्यकी परिमिति और गतिके भेदोंके आकलनकी जाग्रतिके वैसे ही भेदोंके साथ तुलना करके देश-कालकी कल्पना की जाती है । यानी, स्वप्नमें हम जो घर या घोड़ेकी चाल देखते हैं, अुसके परिणामोंकी कल्पना हम जाग्रतिमें देखे हुअे वैसे घर और घोड़ेकी चाल परसे करते हैं ।

३

महत् तत्त्व

पिछले परिच्छेदमें हमने देखा कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिका अर्थ है परिमित, व्यवस्थित तथा गतिमान् शक्ति । यों शब्द तो तीन हैं, परन्तु ये अेक ही शक्तिके तीन अैसे विशेषण हैं, जो अेक-दूसरेसे कभी अलग नहीं हो सकते ।

अिसके बाद सांख्य-दर्शन महत् तत्त्वका वर्णन करता है । यह प्रकृतिका कार्य अथवा अुसमेंसे परिणाम पानेवाला धर्म कहलाता है । दूसरे शब्दोंमें कहें तो त्रिगुणात्मक प्रकृतिके अमुक स्वरूप अथवा अुसमें अमुक धर्मके आविर्भावका नाम महत् है ।

अिन तत्त्वोंके स्वरूपकी जाँच करनेके पहले हमें अेक भेद समझ रखना चाहिये । वह यह कि किसी वस्तुका धर्म अेक बात है और अुस धर्मके प्रकट होनेके अनुकूल साधन दूसरी बात है । जैसे कि आँख, कान वगैरा गोलक ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं, बल्कि देखना, सुनना आदि ज्ञानेन्द्रियोंके धर्म प्रकट होनेके द्वार अथवा यन्त्र (करण) हैं । और ज्ञानेन्द्रियाँ तो अुन स्थानोंमें अमुक रूपमें प्रकट होनेवाली शक्तियोंके नाम हैं । अुसी प्रकार मनके मानी दिमाग नहीं अथवा ज्ञान-तन्तु व्यवस्था (nervous system) भी नहीं, बल्कि अिन साधनोंके द्वारा व्यक्त होनेवाली कुछ विशेष शक्तियाँ या धर्म हैं । यदि यह भेद हमारे ध्यानमें न रहेगा और शक्ति तथा शक्तिके प्रकट होनेके साधन या शक्तिके आश्रय-स्थान दोनों अेक ही समझ लिये जायँगे, तो सम्भव है कि यह सारा विवेचन वृथा हो जाय ।

दूसरी अेक और बात भी याद रखना अुचित है । कोअी भी सूक्ष्मशक्ति खुद तो अगोचर रहती है, परन्तु वह जिस प्रकारसे प्रकट होती है अुस परसे हम अुसके भेद और विभाग करते हैं और अुनको अुनके भिन्न भिन्न धर्म अथवा तत्त्व कहते हैं । जैसे ज्ञानतन्तुके द्वारा विचार, संकल्प आदिके रूपमें प्रकट होनेवाली शक्तिको चित्त या बुद्धि कहते हैं । देखने, सुनने आदिकी शक्ति दृष्टि, श्रुति आदि कहलाती है ।

फिर अेक और तीसरी बात । यह हो सकता है कि शक्ति हो और शक्ति प्रकट होनेका साधन भी हो, यह शक्ति कार्य भी करती हो, फिर भी अनुकूल परिस्थिति न होनेसे हम यह न जान पाते हों कि वह काम कर रही है । जैसे

कि लोह-चुम्बक यदि अेक कोनेमें पड़ा हो, तो हमें यह नहीं जान पड़ता कि अुसमें किसी विशेष प्रकारकी कोअी शक्ति है। परन्तु जब कोअी सुअी अुसके पास रख दें, तो हमें अुसकी आकर्षण-शक्तिका पता लगता है। अिस प्रकार यह हो सकता है कि शक्ति तो हो पर अुसका कोअी व्यापार न होता हो और व्यापार होता हो फिर भी हमें अुसका पता न लगता हो। अिनमेंसे जब हमें अुसके किसी व्यापारका पता लगता है, तब हम अुसे तत्त्वके रूपमें जानने लगते हैं; और अुसके बाद जब जब वह शक्ति क्रियावान हो, तब तब हम अुसे 'जाग्रत' कहते हैं और जब वह क्रियावान न हो तब अुसे सुप्त या गुप्त कहते हैं।

सांख्य-शास्त्रमें महत्‌को चित्त या बुद्धि भी कहा है और अिस अर्थमें वह मन, भावना या कल्पनासे भिन्न धर्म है — यह खयालमें रखना चाहिये। हम जिस तत्त्वको खोज रहे हैं वह कोअी अैसे सामान्य धर्मोंका नाम है, जो सारी जड़ और चेतन सृष्टिमें पाये जाते हैं। अिस कारण यदि मानव चित्तको जाँचनेसे अुसके धर्मोंका अस्तित्व जड़ वस्तुओंमें मिल सके अथवा जड़ पदार्थोंके सामान्य धर्मोंको मानव-चित्तमें पा सकें, तो हमको महत् तत्त्वका लक्षण मिल जायगा।

महत्‌का लक्षण

अिस दृष्टिसे खोजते हुअे प्राणियोंके चित्त तथा जड़ वस्तुओंमें नीचे लिखे कमसे कम छह प्रकारके अैसे धर्म मालूम पड़ते हैं, जो अेक वर्गमें रखे जा सकते हैं:

१. धारणा अथवा तनाव सहन करके परिस्थितिके अनुकूल हो जानेकी कम या ज्यादा शक्ति (tensibility);

२. आकर्षण-शक्ति (attraction);

३. अपकर्षण अथवा दूर हटने अथवा हटानेकी शक्ति (repulsion);

४. सायुज्य अथवा दूसरे पदार्थोंके साथ अेकरूप होनेकी या दूसरे पदार्थोंको अेकरूप करनेकी शक्ति (combination or assimilation);

५. वैयुज्य अथवा पृथक् हो जाने या करनेकी शक्ति (dissociation and generation); और

६. संलग्नता अथवा किसी पदार्थसे चिपट जानेकी शक्ति (adhesion).

अिन सब धर्मोंकी प्रतीति पदार्थ मात्रमें होती है । अैसी किसी भी परिमित शक्ति (जैसी कि बिजली) या वस्तु (जैसी कि पृथ्वी) को लीजिये, जिसे हमने कोअी अेक खास नाम दिया हो। वह किसी दूसरी परिमित शक्ति या वस्तुको धारण आदि कर सकती है । अिन धर्मोंकी बदौलत ही पदार्थोंकी अेक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें क्रान्ति हो सकती है, अथवा अुनमें या अुनकी शक्तिमें घट-बढ़ होने पाती है ।

अिसी प्रकार अेक चित्त दूसरे चित्तको सहन (धारण) कर सकता है, आकर्षित कर सकता है, अपकर्षित कर सकता है और अुससे संयुक्त, वियुक्त अथवा संलग्न हो सकता है । अिन समस्त व्यापारोंका विस्तार शरीर जितने क्षेत्रमें ही समाप्त नहीं हो जाता, और अिसके लिअे अेक शरीरके साथ दूसरे शरीरके स्पर्श होनेकी भी जरूरत नहीं । अिसके विपरीत ये व्यापार बहुत बार शरीरके बिना भी होते हुअे देखे जाते हैं । प्रकृतिका अिस प्रकारका व्यापार ही महत् तत्त्व है ।

सारांश यह कि **पदार्थमात्रमें, शक्तिमात्रमें, प्रत्येक नाम-रूपमें जो धारणा, आकर्षण, अपकर्षण, आदि धर्म पाये जाते हैं, अुन समस्तको महत् तत्त्व कहा है ।**

प्राणियोंके चित्तमें स्मृति, भावना, चिन्तन, कल्पना आदिकी जो शक्तियाँ देख पड़ती हैं, वे ज्ञान-तन्तु और दिमागकी खास किस्मकी रचनाकी बदौलत हैं। प्राणियोंमें चित्त तत्त्वका जिस प्रकार विकास हुआ है, अुससे अुसमें कभी विशेष धर्म प्रकट हुअे हैं । अिस सम्बन्धमें विचार आगे किया जायगा । यहाँ तो अितना ही कहना बस होगा कि चित्तमें जो विविध प्रकारके मान (ज्ञान-संस्कार) पैदा होते हैं, वे पूर्वोक्त महत्के धारणादिक धर्मोंका ज्ञानतन्तुओं और दिमाग पर जो खास किस्मका व्यापार या प्रक्रिया होती है अुसके परिणाम हैं । किन्तु- चित्तका व्यापार अैसे संस्कारको जगाकर ही खतम नहीं होता और वह ज्ञानतन्तु व्यवस्था या मस्तिष्क तक ही व्याप्त नहीं है, शरीरके बाहर भी है ।

४

अहंकार

अिसके बाद जो तत्त्व पृथक् बताया गया है, अुसका नाम अहंकार है। अहंकारका अर्थ यहाँ गर्व नहीं होता है, यह शायद ही कहनेकी जरूरत रहे। परन्तु यह समझाना होगा कि प्राणियोंमें स्फुरित जो 'मैं-पन'का भान है, अुतना ही अहंकार नहीं। जिस प्रकार महत्‌को हमने प्रत्येक नाम और रूपमें खोजा है, अुसी प्रकार अहंकारको भी सर्वत्र खोजना है। 'मैं-पन' तो सिर्फ अहंकारका अेक खास प्रकारका विकास ही है।

सब वस्तुओंमें स्थित अहंकारमें दो सामान्य धर्म दिखाअी देते हैं: (१) आघातके सामने अपना स्वरूप-कायम रखनेकी शक्ति — स्वरूप धृति (elasticity, stability), (२) प्रत्याघात करनेकी शक्ति (resistance).

अहंकारका लक्षण

मनुष्य हो या प्राणी सबका अहंकार अिससे अधिक कुछ नहीं करता। वह जिसमें अपनी अस्मिता मानता है, अुसमें फर्क न पड़ने देने और कोअी अुसमें फर्क करना चाहे तो अुसका प्रतिकार करनेमें जो बल खर्च करता है, वही अुसका अहंकार है। फिर वह अस्मिता चाहे शरीर सम्बन्धी हो या कुटुम्ब, समाज अथवा देश-विषयक हो, या वाणी अथवा विचारसे सम्बन्ध रखती हो। प्रत्येक जड़ पदार्थ भी, फिर वह छोटा हो या बड़ा, अैसी स्वरूप-धृति और प्रत्याघातकी शक्तियाँ अपनेमें रखता है।

महत् और अहंकारको जो दो जुदा तत्त्व माना है, अुसका कारण है। महत्‌के छहों धर्म अेक साथ काम नहीं करते। कभी अेक तो कभी दूसरा व्यापार करता है। परन्तु महत्‌का कोअी अेक धर्म और अहंकार दोनों प्रत्येक पदार्थमें अेक साथ अवश्य रहते हैं। विश्वमें चाहे जितना बनाव-बिगाड़ हो जाय, पर जिस क्षण हम अुसके जिस किसी

अंशको देखेंगे, अुसी क्षण हमें अुसमें महत्-धर्म तथा अहंकार-धर्म सहित परिमित और व्यवस्थित गति दिखाअी देगी।

अहंकारके परिवर्तन*

महत्-धर्मोंके व्यापारोंसे पदार्थोंकी परिमिति, गति और व्यवस्थितिमें — अुनके तम, रज, सत्त्व गुणोंमें प्रतिक्षण फर्क होता है। यह परिवर्तन अिस पदार्थके अहंकारमें (स्वरूप-धारण और प्रत्याघात शक्तिमें) भी फर्क डालता है। अुसकी प्रतिक्रिया फिर महत् पर होती है और अुससे वस्तुके धारण, आकर्षण आदि बलोंकी अभिव्यक्तिमें (प्रगट होनेकी शक्तिमें) फिर फर्क पड़ता है और वह पदार्थ बदला हुआ दिखाअी देता है। अिस तरहसे सृष्टिका बनाव-बिगाड़ चलता है।

शास्त्रकारोंने जैसा किया है, अुस तरह अहंकारके तीन भेद किये जा सकते हैं: तामस, राजस और सात्त्विक। अिसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थकी परिमितिमें ही जो अहंकार (स्वरूप-धारण और प्रत्याघात) धर्म मुख्यतः नजरमें आवे और अुसके स्वरूपमें फर्क करे, वह तामस अहंकार है, और जो मुख्यतः अुसकी गतिमें जाना जाता है और परिवर्तन करता है, वह राजस अहंकार है; और जो प्रधानतः अुसकी व्यवस्थितिमें परखा जाता है और क्रान्ति करता है, वह सात्त्विक अहंकार है। अिस वर्गीकरणको मोटे तौर पर और निरूपणकी सुविधा तक ही सही समझना चाहिये। सच बात तो यह है कि अेक गुणमें फर्क पड़नेके साथ ही दूसरे दोमें भी कुछ न कुछ फेर-फार जरूर हो जाता है। परन्तु जो परिवर्तन अधिक स्पष्ट दिखाअी दे अथवा समझनेमें सुविधाजनक हो, अुसे अुस प्रकारके अहंकारका परिणाम कहा गया है।

अिस प्रकार तामसाहंकारके अुत्तरोत्तर परिवर्तनोंमें महाभूतोंकी, राजस परिवर्तनोंमें तन्मात्रा और कर्मेन्द्रियोंकी और सात्त्विक परिवर्तनोंमें चित्त या सत्त्वकी और ज्ञानेन्द्रियोंकी गणना की गअी है। पर अिससे

---

* अर्थात् अहंकार जिस रूपमें परिणत होता है, क्रान्ति पाता है, वे — developments, evolution.

यह न समझ लेना चाहिये कि महाभूतोंमें रज-सत्त्व (गति और व्यवस्थिति), अथवा तन्मात्रा और कर्मेन्द्रियोंमें तम-सत्त्व (परिमिति और व्यवस्थिति), अथवा ज्ञानेन्द्रियों तथा मन या चित्तमें रज-तम (गति और परिमिति) के भेद नहीं हैं।

अिनमें हम पहले महाभूतोंका विचार करेंगे।

जैसा कि दूसरे प्रकरणमें बतलाया है पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशकी गणना पञ्चमहाभूतोंमें होती है। जड़ सृष्टिमें ये पञ्चमहाभूत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं और बहुतोंका तो यह भी खयाल है कि जड़-सृष्टि पञ्चमहाभूतोंकी ही बनी हुअी है और चैतन्य सृष्टिमें पञ्चमहाभूतोंके अलावा महत्, अहंकार और मन भी हैं। परन्तु मैं अूपर बता चुका हूँ कि यह भ्रम है। महत् और अहंकार ये जड़ और चेतन दोनों प्रकारकी सृष्टिके सामान्य धर्म ही हैं।

[पञ्चमहाभूत-विषयक अधिक वैज्ञानिक चर्चामें जिन्हें अुत्साह न हो, वे अिसके बाद मात्राओंका प्रकरण (नौवाँ) शुरू करें तो काफी है।]

५

महाभूत — सामान्यतः

हमारे शास्त्रकारोंका यह अन्तिम निर्णय है कि महाभूतोंकी संख्या पाँच है। 'अंतिम' अिसलिअे कहता हूँ कि यह पाँचकी संख्या धीरे धीरे निश्चित हुअी है। अुदाहरणके लिअे, छान्दोग्योपनिषद्में तीन ही महाभूतोंकी कल्पना की गअी है। प्रथम दृष्टिपातमें महाभूतोंका यह विषय अितना सरल मालूम होता है कि अुसके सम्बन्धमें कुछ विवेचन करनेकी जरूरत नहीं महसूस होती। हम समझते हैं कि अेक छोटा बच्चा भी अुनके नाम गिना सकता है और अुनके अुदाहरण दे सकता है। परन्तु महाभूतोंके नामोंको अेक ओर रख दें, तो अुनके अर्थ अथवा अुनके आशयके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें अेकवाक्यता नहीं है। अब आगे जो विवेचन किया जायगा, अुससे यह बात मालूम हो जायगी।

सबसे पहले तो यह समझना चाहिये कि आकाश आदि शब्द हमारे शास्त्रोंमें दो-दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुअे हैं। ये दोनों अर्थ नीचेकी तालिकामें बताये गये हैं:

नाम	पहला अर्थ: अवस्था-दर्शक	दूसरा अर्थ: शक्ति-दर्शक
आकाश	वायुसे भी सूक्ष्म स्थितिके पदार्थ: परिमिति अति अल्प (लगभग शून्यवत्) परन्तु व्याप्ति अपार*। (ether)	शब्दका आश्रय-स्थान: कर्णेन्द्रिय-गोचर पदार्थ।
वायु	पदार्थकी हवा जैसी स्थिति: परिमिति आकाशसे विशेष, व्याप्ति कम। (gas)	स्पर्शका आश्रय-स्थान: स्पर्शेन्द्रिय-गोचर पदार्थ।
तेज	वायु और जलके बीचकी पदार्थकी अुष्णतायुक्त स्थिति (?); परिमितिमें विशेष वृद्धि; व्याप्ति और भी कम: निराकार रूप। (heat, light)	रूपका आश्रय-स्थान: नेत्रेन्द्रिय-गोचर पदार्थ।
जल	पदार्थकी तरल स्थिति; परिमितिका स्वरूप विशेष निश्चित; जिस पात्रमें पदार्थ हो अुसका आकार धारण करनेकी स्थिति। (liquid)	स्वादका आश्रय-स्थान: जिह्वेन्द्रिय-गोचर पदार्थ।
पृथ्वी	पदार्थकी घन स्थिति: परिमितिका स्वरूप निश्चित: स्वतंत्र आकार-युक्त पदार्थ। (solid)	गन्धका आश्रयस्थान: घ्राण-गोचर पदार्थ।

* व्याप्तिका सम्बन्ध रजोगुण — क्रिया धर्म — के साथ है। अिस भेदकी ओर ध्यान दिलानेके लिअे ही यहाँ अिस बातका अुल्लेख किया गया है।

अिस प्रकार अिन शब्दोंका प्रयोग दो-दो अर्थोंमें होनेके कारण हमारे परिचित बहुतसे पदार्थोंका वर्गीकरण बहुत अटपटा हो जाता है— जैसे क्लोरिनको अुसकी स्थितिके अनुसार वायु कहना पड़े, परन्तु अुसके रूप और गन्धको देख कर सम्भव है हमारे शास्त्रकार अुसे तेज या पृथ्वी कहें। अिसी प्रकार शक्कर या नमकको अवस्थाकी दृष्टिसे पृथ्वी और स्वादकी दृष्टिसे जल कहना होगा।

यह कठिनाअी शास्त्रकारोंके ध्यानमें न आअी हो सो बात नहीं, क्योंकि अिसका परिहार कुछ अंशोंमें दो-तीन तरहसे किया गया है। अेक तो यह कि प्रत्येक पिछले महाभूतमें अुसके अूपरके महाभूतोंके धर्म भी रहते हैं। जैसे कि वायुमें शब्द और स्पर्श तथा पृथ्वीमें पाँचों। परन्तु अिस परिहारसे भी काम नहीं चलता। अिसलिअे अुसे दूसरी तरहसे समझाया गया है: आज हम जगत्‌में जिन पदार्थोंको देखते हैं अुनमेंसे अेक भी शुद्ध महाभूत नहीं है, बल्कि शुद्ध महाभूतोंके परस्पर संयोगोंका परिणाम है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ पाँचों महाभूतोंके अंशको लेकर बना है। अिसको अिस तरह समझाया जाता है कि सोनेमें जो घनत्व है वह पृथ्वीका अंश है, चमक तेजका अंश है; बर्फमें घनता पृथ्वी है; दूधमें प्रवाहिता और माधुर्य जल है, गन्ध पृथ्वी है, अुष्णता तेज है, आदि।*

---

* समर्थ रामदासने महाभूतोंके लक्षण नीचे लिखे अनुसार बताये हैं—

जो जो जड़ और कठिन, सो सो पृथ्वीका लक्षण;
मृदु और आर्द्रपन, सो है आप॥
जो जो अुष्ण और सतेज, अुसे जानिये है तेज;
अब वायुको सहज, बताता हूँ॥
चैतन्य और चञ्चल, वह है वायु ही केवल;
शून्य, अवकाश, निश्चल आकाश जानिये॥
अैसे पंच महाभूत जानके, किया संकेत;
अब अेकमें पाँच भूत सावध सुनिये॥
सूक्ष्म नभमें कैसे पृथ्वी, पहले बताअूँ वही;
देवें ध्यान सही, श्रोताजन॥
आकाश तो अवकाश-शून्य, शून्य माने अज्ञान;
अज्ञान है जड़त्व मान, वही पृथ्वी॥

यह कल्पना पञ्चीकरणके नामसे प्रसिद्ध है। यह मुझे क्लिष्ट और अकारण अुत्पन्न की गअी मालूम होती है। अिसमें तत्त्वोंकी वैज्ञानिक छान-बीनके बदले वर्गीकरणमें अेक प्रकारके काल्पनिक समीकरणकी भावना काम करती हुअी मालूम पड़ती है। महाभूतों और तन्मात्राओंमें कार्य-कारण सम्बन्ध है, यह कल्पना भी अिसमें कारणीभूत हुअी है। यानी, शब्द, स्पर्श आदि पञ्चज्ञान सूक्ष्म स्वरूपमें स्थित अेक अेक महाभूत ही हैं,* और आकाश आदि अिन मात्राओंके गाढ़ अथवा स्थूल स्वरूप हैं। अैसी कल्पना की गअी है। दूसरे शब्दोंमें, तामसाहंकारका गाढ़ स्वरूप शब्द हुआ। शब्दके गाढ़ होनेसे आकाश, गाढ़ आकाश स्पर्श हुआ, और गाढ़ स्पर्श वायु हुअी; अिसी प्रकार वायुसे रूप, रूपसे तेज, तेजसे रस, रससे जल, जलसे गन्ध, गन्धसे पृथ्वी — अिस प्रकार परिमितिकी दृष्टिसे अहंकारके अुत्तरोत्तर परिवर्तन हैं।

अेक अेक महाभूतको अेक अेक मात्राके साथ कार्य-कारण सम्बन्धसे बाँध देनेमें मुझे अधूरा निरीक्षण दिखाअी पड़ता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करें, तो परिमितताकी दृष्टिसे ही महाभूतोंका वर्गीकरण करना अुचित और काफी मालूम पड़ता है। महाभूत और मात्रामें कार्य-कारण

आकाश स्वयं मृदु, वही आप स्वतःसिद्ध;
तेज भी अब विशद, करता हूँ ॥
अज्ञानसे होता भास, वही तेजका प्रकाश;
अब वायुका अवकाश, संकेत कहूँ ॥
वायु नभमें नहीं भेद, आकाश-सा हो रहे स्तब्ध;
तो भी नभमें जो निरोध, वही वायु ॥
नभमें नभ समाविष्ट, अिसमें क्या कथन अिष्ट;
अैसे हैं सुस्पष्ट, नभमें पंचभूत ॥

(दासबोध, ८-४)

अिसी तरह दूसरे भूतोंके सम्बन्धमें भी समझाया गया है। अिस दृष्टिसे पाँचों महाभूत अन्योन्य स्वतंत्र हो जाते हैं; अेक-दूसरेसे कार्य-कारण-भावसे सम्बद्ध नहीं। अिस दृष्टिमें जो दोष मौजूद है, अुसके विषयमें आगे विचार किया जायगा।

* 'तन्मात्र'का अर्थ है 'केवल वह', अर्थात् केवल महाभूत। जैसे शब्द केवल शुद्ध सूक्ष्म आकाश, स्पर्श केवल शुद्ध सूक्ष्म वायु, वगैरा।

भाव सिद्ध नहीं हो सकता और अैसा सम्बन्ध बिठानेकी जरूरत भी नहीं मालूम होती। हम यह नित्य ही अनुभव करते हैं कि प्रत्येक पदार्थ परिमितिकी दृष्टिसे किसी भी महाभूतकी दशामें रूपान्तर पा सकता है। जैसे कि भाप, पानी और बर्फ। फिर अुस पदार्थका ज्ञान हमें किस अिन्द्रियके द्वारा होता है, अिसका दारोमदार अंशतः अुसकी महाभूत दशा पर और अंशतः दूसरे कारणोंपर रहता है, जैसे क्लोरिन रंगकी बदौलत आँखसे, गन्धके कारण नाकसे और दबावके कारण त्वचासे जानी जा सकती है। फिर भी आमतौर पर वह वायु रूपमें प्राप्त होती है और अिसलिअे आमतौर पर अुसे वायु कहना ही अुचित होगा। फिर प्राण-वायुको यदि तरल या प्रवाही बनाया जाय, तो अुसे भी आँखोंसे देख सकते हैं और पारेकी भाप बनावें तो वह भी अदृश्य हो जायगा।

अिसके अुपरान्त आगे यह भी दिखाअी देगा कि केवल परिमितिकी दृष्टिसे भी महाभूतोंका विचार करनेमें बहुतसा विचार-भ्रम हो गया है और अिसलिअे अिस विषयका विचार शास्त्रोंकी प्रचलित रूढ़िसे भिन्न प्रकारसे और वैज्ञानिक शोधनकी दृष्टिसे करना चाहिये।

अिस दृष्टिसे अब प्रत्येक भूतका अलग अलग विचार करेंगे।

६

महाभूत — आकाश

आकाशकी कल्पनाके सम्बन्धमें शास्त्रकारोंमें कुछ मतभेद और अस्पष्टता दीख पड़ती है। कहीं आकाशको शून्य (void, vacuum) — दूसरे चार भूतोंका अभाव — माना गया है।* और कहीं अुसको भावात्मक तत्त्व बताया मालूम होता है। +

अब जो आकाशको शून्य मानते हैं, अुनकी दृष्टिसे स्पष्ट है कि वैसे प्रकार-भेद आकाशमें नहीं कल्पित किये जा सकते, जैसे कि वायु, जल, पृथ्वी आदिमें भिन्न भिन्न

* पिछले प्रकरणमें दासबोध सम्बन्धी अवतरण अथवा सहजानन्द स्वामीके वचनामृत ग० प्र० १२ अित्यादि देखिये।

\+ देखिये ब्रह्मसूत्र — शांकरभाष्य, अ० २, पा० ३, सू० १ से ७ तक।

प्रकार दिखाओी पड़ते हैं। परन्तु जो आकाशको वास्तविक भावरूप पदार्थ मानते हैं, वे भी अुसमें प्रकार-भेदकी कल्पना करते हुअे दिखाओी नहीं पड़ते। *

अिनमेंसे आकाशको शून्य बतानेवाली कल्पना गलत है। जो शून्य है अुससे कोओी चीज बन नहीं सकती और न वह शब्दादिका आधार ही हो सकता है। दूसरे, शून्यताकी कल्पना सापेक्ष ही हो सकती है, क्योंकि निरपेक्ष शून्यकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। जब हम यह कहते हैं कि 'अिस जगह कुछ भी नहीं है', तो अुसका अर्थ अितना ही होता है कि हम अपनी ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा किसी वस्तुके अस्तित्वको जान नहीं सकते हैं।

अिसके अलावा, शब्दको आकाशकी तन्मात्रा माना है। अिसका अर्थ यह हुआ कि शब्द आकाशका सूक्ष्म स्वरूप है। या शब्द अुसके अस्तित्वका सबूत देनेवाला पदार्थ है; अथवा शब्द आकाशका कारण है। अिनमेंसे चाहे किसी अर्थको लीजिये, लेकिन आकाशका अर्थ शून्य है — यह कल्पना युक्ति संगत नहीं मालूम होती। क्योंकि जब हम शब्दके अस्तित्व और प्रकार-भेदको निश्चित रूपसे जान सकते हैं, तब यह कैसे कह सकते हैं कि अुसके लिअे जिस आकाशका अनुमान किया गया है वह शून्य रूप है? +

मतलब कि मैं आकाशको अेक भावरूप महाभूत मानता हूँ। पदार्थकी वायुसे भी सूक्ष्म अवस्था; वायु-शोधक साधनोंसे भी जिसके अस्तित्वको न पकड़ सकें अैसी स्थितिमें — जिसकी व्याप्ति अत्यन्त अथवा लगभग परिणाम-हीन हो अैसी किसी पदार्थकी अवस्था। अिस चर्चामें हमने परिमितिको केवल अुतना ही महत्त्व दिया है, जितना कि यहाँ वर्गीकरणके लिअे आवश्यक था। परन्तु वस्तुतः देखें तो पदार्थ-मात्र परिमिति, गति और व्यवस्थिति तीनों विशेषणों सहित होते हैं, तद्युक्त होते हैं। अिस बातको याद रखें तो पदार्थोंकी परिमितिके अतिशय अल्प होते हुअे भी और, अिसलिअे, अुनके आकाश-दशामें होते हुअे भी यह बात समझमें आने जैसी है कि अुनमें व्यवस्थिति और गतिके भेदोंकी बदौलत प्रकार-भेद हो सकते हैं।

---

* अिसमें थोड़ी शंका हो सकती है; क्योंकि कहीं कहीं काम, क्रोध, आदिको भी आकाशके भेद बताये गये हैं।

+ यदि शून्यका अर्थ 'अभाव' नहीं बल्कि सूक्ष्मतम अस्थूल शक्तियाँ किया जाय, तो यह समझमें आने लायक है। तो फिर अुस दशामें अुसे 'अव्यक्त' अथवा 'अप्रकट' रूपी कहना अुचित होगा। यदि लगभग शून्यके अर्थमें शून्य शब्द संक्षेपके लिअे काममें लाया गया हो तो आपत्ति नहीं, बशर्ते कि यह बात स्पष्ट रूपसे ध्यानमें रखी जाय।

प्रकृति शक्ति — क्रिया — है और अनन्त विस्तारमें व्याप्त है। अिसमें परिमिति और व्याप्तिका सम्बन्ध अेक दूसरेसे विषम (व्यस्त) सा पाया जाता है। जैसे सोनेके पासेको पीट पीट कर लम्बा करें तो अुसकी मोटाअी घट जायगी और मोटाअी बढ़ायेंगे तो लम्बाअी घट जायगी, अुसी प्रकार पदार्थकी परिमिति यदि अल्प हो तो क्रियाकी व्यापकता अतिशय फैल जायगी और यदि अुसकी परिमिति (मर्यादा)में वृद्धि हो तो क्रियाका प्रदेश कम हो जायगा। जिस जगह वायु, जल, पृथ्वी (या तेज +) का अभाव दिखाअी देता है वहाँ तथा जब पदार्थ वायुसे भी सूक्ष्म स्थितिको पहुँच जाता है तब भी क्रिया-शक्ति बन्द नहीं पड़ती और अुस क्रियाकी व्यवस्थितिमें — अुसके प्रकारोंमें — भेद हो सकता है। अिस प्रकार विविध रीतिसे रचित गतियोंके परस्पर आकर्षण, अपकर्षण आदिके फलस्वरूप आकाश-दशामें भी पदार्थोंके प्रकारान्तर हो सकते हैं, और हम अुनके विविध परिणामोंका अनुभव भी कर सकते हैं। अैसे गति और व्यवस्थितिके भेदोंके कारण यदि आकाशमें प्रकार-भेद बिल्कुल न हों और आकाश अेकरूप ही हो, तो सृष्टिको अुत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती।

केवल कल्पनाके आधार पर ही आकाशमें प्रकार-भेद नहीं माना गया है; बल्कि अवलोकन पर आधारित अनुमान द्वारा यह कल्पना की गअी है।

तेजकी जुदा जुदा रंगकी किरणें, तेजका स्तम्भन (polarization), बिजली, अेक्स-रे तथा दूसरी प्रकारकी बिजलीकी किरणों आदिको परिमिति यदि शून्यवत् हो, तो भी अुनमें गति और व्यवस्थितिके भेद स्पष्टरूपसे जाने जा सकते हैं। जिन ध्वनियों, किरणों, विद्युत्-शक्तियों तथा गन्ध, स्वाद आदिके अस्तित्वको जाननेकी शक्ति आमतौर पर हमारी अिन्द्रियोंमें नहीं है, अुसे योगाभ्याससे या सूक्ष्म वैज्ञानिक यंत्रोंसे जाननेकी शक्ति प्राप्त होती है। फिर, यह भी स्पष्ट है कि यंत्रोंकी सहायतासे अिन शक्तियोंका परस्पर रूपान्तर भी होता है। [अेटम–विस्फोट (explosion)के प्रयोगोंने यह अब सिद्ध-सा कर दिया है।

अिन सब परसे यह नतीजा निकलता है कि आकाश शून्य नहीं, बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म परिमितियुक्त भावरूप महाभूत है, वह अेक ही प्रकारका नहीं बल्कि अनेक प्रकारका है और आकाश-दशामें स्थित अैसे अनेक पदार्थोंमें होनेवाले

+ ‘तेज’ शब्दको कोष्टकमें क्यों रखा है, अिसका कारण आगे मालूम हो जायगा।

आकर्षणादिक धर्मोंके कारण अुसी दशामें अनेक प्रकारान्तर होते हैं। अितना ही नहीं, बल्कि धीरे धीरे अुसकी परिमितिमें परिवर्तन होकर वायु आदि दूसरे प्रकारके महाभूतोंमें अुसकी संक्रान्ति होती है।*

* नोट — आधुनिक विज्ञानशास्त्रमें मान्य औथर तत्त्व (ether), दर्शनशास्त्रमें स्वीकृत आकाशतत्त्व और अुसकी मेरे द्वारा की गयी व्याख्या — अिनमें जो अन्तर है वह नीचे लिखी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा :

औथर	आकाश : प्राचीन व्याख्या		आकाश : मेरी व्याख्या
	अेक मत	दूसरा मत	
१. भावरूप पदार्थ।	शून्यता।	भावरूप पदार्थ।	भावरूप पदार्थ (अनेक)।
२. केवल अेक प्रकारका वाहन; (शक्तियोंकी अेक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जानेवाला तत्त्व)।	विश्वमें तथा पदार्थोंके अणुओंके बीचकी खाली जगह-शब्दका आश्रय-स्थान।	शब्दका कार्य; वाहनकी कल्पना पैदा ही नहीं हुअी।	केवल वाहन नहीं; शक्तियोंका वाहन होना या अुनसे संचारित होना पदार्थमात्रका अेक धर्म है; अुसी प्रकार आकाशका भी अेक धर्म है।
३. प्रकार-भेद रहित।	प्रकार-भेद रहित।	?	भेदयुक्त।
४. न किसीका कारण, न कार्य —अिस रूपमें निर्विकार, परन्तु गतिधर्मी।	निर्विकार और निश्चल।	स्पर्शतन्मात्राका अुपादान कारण।	वायुसे भी आद्यावस्था; अिस अर्थमें वायुका कारण; गति और व्यवस्थितियुक्त परिणाम-धर्मी।
५. परिमिति ?	परिमितताकी कल्पना ही असम्भाव्य।		परिमिति अत्यंत अल्प— लगभग शून्यवत् अेक दृष्टिसे; गति और व्यवस्थितिमें परिमिति समाविष्ट।

७

महाभूत — वायु, जल, पृथ्वी

महाभूतोंमेंसे वायु, जल और पृथ्वीके सम्बन्धमें बहुत समझानेकी जरूरत नहीं, सिर्फ परिमिति और शब्दादि तन्मात्राओंका विचार-अेक-दूसरेसे भिन्न रूपमें करनेकी जरूरत है। तेज सम्बन्धी विचार करते हुअे यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

परिमितिकी दृष्टिसे पदार्थका हवा जैसा स्वरूप ही वायु है। विज्ञानकी यह प्रकट बात है कि प्रत्येक पदार्थको तदनुकूल परिस्थिति निर्माण करके वायुमें रूपान्तरित किया जा सकता है। अनेकों पदार्थ वायुकी दशामें मौजूद हैं। अतअेव यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि अुनमें अनेक प्रकार-भेद हैं। पानी और पृथ्वीसे भी यह स्थिति अधिक सूक्ष्म है और अुसके वजन, दबाव तथा स्पर्शसे अुसका अस्तित्व मालूम पड़ता है।

पदार्थोंकी रसात्मक, तरल अथवा प्रवाही स्थितिको जल कहा है और घन स्थितिको पृथ्वी बताया गया है। यह भी आसानीसे समझमें आने योग्य है। यहाँ जलका अर्थ पानी नहीं, बल्कि पानी जैसा कोअी भी पदार्थ है और पृथ्वीका अर्थ मिट्टी नहीं, बल्कि घनत्वयुक्त कोअी भी पदार्थ समझना चाहिये। पानी और पृथ्वी ये रसात्मक और घन महाभूतोंके प्रसिद्ध पदार्थ हैं — अितना ही।

८

तेज

प्राचीन शास्त्रकारोंने तेजकी गणना महाभूतोंमें की है। अिसका विचार हमने अब तक मुल्तवी रखा था, क्योंकि अिसकी छान-बीन स्पष्ट और स्वतंत्र रूपसे करनेकी जरूरत है।

शास्त्रकारोंने तेजको वायु और जलके बीचकी स्थितिमें कल्पित किया है और अुसको वायुका विकार माना है। अिसके दो अर्थ हो सकते हैं: (१) परिमितिकी दृष्टिसे यह कि तेजकी परिमिति वायुसे अधिक है (और अिसलिअे अुसकी व्याप्ति कम है); और (२) शक्ति धारणकी दृष्टिसे यह कि स्पर्श या वायुसे तेजका अुद्‌भव होता है।

अब हमने महाभूतोंका वर्गीकरण चूँकि परिमितिकी दृष्टिसे ही करना तय किया है, अिसलिअे दूसरी दृष्टिको अभी हम अेक ओर रख दें।

पहले तो तेजके अर्थके विषयमें ही प्राचीन विचारकोंमें बहुत कुछ अस्पष्टता मालूम होती है। अुन्होंने कहीं तो तेजका अुष्णताके अर्थमें और कहीं प्रकाश (रूप, या दृग्गोचरता) के अर्थमें प्रयोग किया है।

ग्रीक लोगोंकी भी यह धारणा थी कि अुष्णता अेक स्वतंत्र महाभूत है। यह गुरुत्वके विपरीत लघुत्व धर्मयुक्त अेक तत्त्व माना जाता था; अर्थात् अुष्णता जिस पदार्थमें पैठती है, वह गरम और वजनमें हलका हो जाता है। (सत्त्वगुण लघु और प्रकाशयुक्त है, यह सांख्य विचार भी अिसी प्रकारका है)। परन्तु आज हमको जितनी जानकारी प्राप्त है अुससे अुष्णता महाभूतका भेद मालूम नहीं होती, बल्कि पदार्थकी अभ्यन्तर गतिमें परिवर्तन होनेसे पैदा होनेवाला धर्म है। यह गतिभेद परिमिति-भेद भी अुत्पन्न कर सकता है और बहुत अंशमें परिमिति-भेद — अेक भूतका दूसरे भूतमें परिवर्तन — अुष्णताको घटा-बढ़ा कर ही किया जा सकता है।

कारण कुछ भी हो, पदार्थ किसी भी भूत-स्थितिमें हो, अुसकी आन्तरिक गतिमें फर्क पड़नेसे अुसकी अुष्णतामें फर्क पड़ता है और अुष्णताके अेक हद तक बढ़नेके बाद वह पदार्थ स्वयं प्रकाश बन जाता है, या दूसरी भूत-स्थितिमें चला जाता है, अथवा दोनों बातें होती हैं, या किसी नये ही पदार्थमें परिणत हो जाता है। और, यह बात भी निश्चित रूपसे नहीं कह सकते कि यह नया पदार्थ किस जातिका महाभूत बनेगा।

अिस प्रकार अुष्णता पदार्थोंका आगन्तुक धर्म है।* यह प्रत्येक जातिके

* आगन्तुक धर्म कहनेमें सापेक्ष दृष्टि ही है। वस्तुतः अुष्णता अेक प्रकारकी शक्ति — क्रिया — गति है, अितना ही कहा जा सकता है। हमारे शरीरमें,

महाभूतमें पैदा हो सकता है और आकाश, वायु, जल या पृथ्वीकी दशामें रहे किसी भी पदार्थके साथ ही हम अुसकी सत्ताको देख या पा सकते हैं।

सारांश यह कि तेजको हम चाहे अुष्णताके अर्थमें लें चाहे प्रकाशके अर्थमें —

१. वह परिमितिका अर्थात् महाभूतोंका भेद नहीं मालूम होता, वल्कि गतिका अर्थात् तन्मात्राका भेद प्रतीत होता है; किन्तु,

२. अनुकूल परिस्थितियोंमें, महाभूतोंका रूपान्तर करनेमें अिसका महत्वपूर्ण भाग है;

३. आकाश, वायु, जल और पृथ्वीसे विल्कुल स्वतंत्र रूपमें अुसका अस्तित्व जाना नहीं जाता;

४. चार महाभूतोंमें यह आगन्तुक धर्म जैसा देखा जाता है;

५. अुष्णताके रूपमें यह नेत्रका विषय नहीं वल्कि स्पर्शका विषय है;

६. प्रकाशके अर्थमें यह आकाशके वाहन द्वारा प्रतीत होता है; और

७. किसी भी अर्थमें तेजको वायुका विकार अथवा अुससे नीचेकी पंक्तिका महाभूत गिनना युक्ति-संगत नहीं लगता।

यदि हम प्रत्येक महाभूतके साथ अेक अेक तन्मात्राका नित्य सम्बन्ध जोड़ने पर जोर न दें, और अैसा वर्गीकरण करनेका प्रयत्न न करें जिसे हमारा अवलोकन मंजूर नहीं कर सकता, तो यह कहना अुचित होगा कि परिमितिके भेदोंको दृष्टिसे शुद्ध **महाभूत** पाँच नहीं वल्कि चार ही हैं — आकाश, वायु, जल और पृथ्वी।*

वातावरणमें, या किसी भी वस्तुमें सामान्यतः रहनेवाली अिसी प्रकारकी गतिके साथ तुलना करते हुअे दूसरे पदार्थोंमें रही अैसी ही गतिको अथवा अुसी पदार्थमें दूसरे समय होनेवाले वैसी गतिके भेदको हम अुष्णता कहते हैं और अुसे आगन्तुक जैसी समझते हैं। अुष्णताका ज्ञान देनेवाली गति जब विल्कुल न हो, तो अुसे अुष्णताका निरपेक्ष शून्यांश (absolute zero temperature) कह सकते हैं। पदार्थोंमें होनेवाली आन्तरिक गतियोंके स्वरूप-सम्बन्धी हमारा ज्ञान अितना अल्प है कि अैसे कोअी पदार्थ, जो अुष्णता धर्मको पैदा करनेवाली गतिसे रहित हों, हो सकते हैं या नहीं अिसका हमें पता नहीं है। आगे चलकर यह समझमें आ जायगा कि अिन आगन्तुक धर्मोंकी ही गणना मात्राओंमें की गअी है।

* तरल और घनके बीचकी — नरम मोमकी तरह, जल और वायुके बीचकी — कोहरा और वादल जैसी अवान्तर स्थितियाँ भी होती हैं। यदि हम अुनका भी वर्गीकरण करने लगें, तो भेद अितने बढ़ जायँगे कि वर्गीकरण असम्भव हो जायगा। वर्गीकरणका अुद्देश्य तो सुविधा और समझनेमें सरलता पैदा करना है। अिस दृष्टिसे ये चार भेद काफी तीव्र हैं।

९

मात्रायें — सामान्यतः

जिन पाठकोंने ५ से ८ तकके प्रकरण न पढ़े होंगे, अुनके लिअे अुनका नीचे लिखा सारांश अुपयोगी होगा :

१. प्राचीन शास्त्रोंमें जो यह माना गया है कि महाभूतों और महाभूतोंके धर्मों (शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्राओं) में कार्य-कारण सम्बन्ध है, यह ठीक नहीं मालूम होता ।

२. तेजकी गणना जो महाभूतोंमें की गअी है, वह सही नहीं मालूम होती ।

३. परन्तु परिमितिकी दृष्टिसे विचार करें, तो यह कहना अुचित होगा कि शुद्ध महाभूत चार ही हैं — आकाश, वायु, जल और पृथ्वी ।

४. आकाश शून्य नहीं बल्कि पदार्थकी अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है । अुसकी अिस अवस्थामें भी अनेक पदार्थ हो सकते हैं ।

५. किसी भी पदार्थकी हवा जैसी अवस्थाको वायु, तरल अवस्थाको जल, और घन (गाढ़ी) अवस्थाको पृथ्वी कहते हैं ।

६. तेज महाभूत नहीं, बल्कि मात्रा है । मात्रा क्या वस्तु है, अिसका विचार हमें यहाँ करना है ।

अिस संसारमें जो कुछ नाम-रूपात्मक है, अुसमें परिमितता, क्रिया और व्यवस्थितता ये तीन गुण अनिवार्य रूपसे हैं । अूपर बताया ही जा चुका है कि अैसे सब पदार्थोंका परिमितिकी दृष्टिसे वर्गीकरण करनेसे वे सब चार महाभूतोंमें बँट जाते हैं । अब हम अिस बातका विचार करें कि अुन पदार्थोंके क्रिया-धर्म या रजोगुणकी दृष्टिसे अुनके कितने वर्ग होते हैं ।*

---

* पदार्थोंमें जो अखण्ड क्रिया चलती रहती है, सच पूछो तो, अुसका हमें पूरा ज्ञान नहीं है । सिर्फ जो क्रियायें आती-जाती दिखाअी पड़ती हैं, अुन्हींका हम विचार कर सकते हैं ।

अिसमें पहले दो वर्ग होते हैं: अेक चित्त-हीन सृष्टिका और दूसरा चित्त-युक्त सृष्टिका। अर्थात् जगत्के पदार्थोंमें या तो चित्त है या नहीं है। जिसमें चित्त है वह चित्तवान या सचित्त सृष्टि और जिसमें नहीं है वह चित्त-हीन या अचित्त सृष्टि। आगे पढ़नेसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जायगी।

यों तो प्रत्येक पदार्थमें कोअी न कोअी क्रिया या गति अखंडित रूपसे चलती ही रहती है। परन्तु वनस्पति तथा प्राणियोंमें अिस क्रिया या गतिका गुण अितना अधिक बढ़ गया है कि वह (क्रिया) अुस पदार्थके अन्दर ही समाअी नहीं रहती, बल्कि बाहर भी प्रकट होती है। ये पदार्थ बढ़ते रहनेमें तथा अपने स्वरूपको कायम रखकर स्वतंत्र रूपसे हलचल करनेमें समर्थ होते हैं।+ जिन पदार्थोंमें बढ़नेकी और स्वतंत्र रूपसे हलचल करनेकी शक्ति है, अुन्हें चित्तवान और शेषको हम चित्त-हीन सृष्टि कहेंगे।

परन्तु अिससे यह न समझना चाहिये कि ये वर्ग अेक-दूसरेसे स्पर्श ही नहीं करते। सच पूछो तो चित्त-हीन पदार्थोंमें मिलनेवाली गतियाँ चित्तवान सृष्टिमें तो हैं ही, परन्तु चित्तवान पदार्थोंकी क्रिया-शक्तियाँ चित्त-हीन पदार्थोंमें दिखाअी नहीं देती।

अिस प्रकार **चित्त-हीन पदार्थोंमें होनेवाली** क्रियायें चूँकि सब पदार्थोंमें सामान्य रूपसे पाअी जाती हैं, अतः पहले हम अिन्हीं क्रियाओंका विचार करेंगे। अैसी **क्रियाओंके प्रत्येक वर्गको 'मात्रा' नाम दिया गया है।**

आमतौर पर यह माना जाता है कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम पदार्थोंके अस्तित्वको पाँच तरहसे, परख सकते हैं: पदार्थसे निर्मित शब्द द्वारा, प्रकाश द्वारा, गन्ध द्वारा अथवा अुसके स्पर्श द्वारा या स्वादके द्वारा।

+ भाप, बिजली आदि शक्तियोंसे परिचालित यंत्र भी अपना स्वरूप कायम रखकर हलचल करनेमें समर्थ होते हैं। परन्तु अुनमें बढ़नेकी (मोटे होनेकी) तथा स्वतंत्र रूपसे हलचल करनेकी शक्ति नहीं रहती। अिसलिअे वे चित्तहीन हैं।

मात्रायें — सामान्यतः

पदार्थकी परिमितता चाहे जितनी हो, अुसका जत्था अणु जितना हो या अपार हो, पर वह यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध निर्माण करता हो और हमारी ज्ञानेन्द्रियोंके साथ अुसका सम्पर्क हो, तभी हमें अुसके अस्तित्वका पता लग सकता है।

जैसा कि अूपर कहा है, प्राचीन शास्त्रोंमें अेक अेक महाभूतके साथ अेक अेक मात्राको जोड़नेका प्रयास किया गया है। अिस आग्रहसे अुत्पन्न गुत्थियाँ भी अूपर बताअी गअी हैं।

परन्तु यदि हम महाभूत और मात्राओंको अलग कर दें और मात्रा-विचार स्वतंत्र रूपसे करें, तो हम निश्चित रूपसे अितना ही जान सकते हैं कि पदार्थमात्र कोअी अेक महाभूत है। अर्थात् वह घनादिक चार अवस्थाओंमेंसे किसी अेकमें रहता है, तथा कुछ मात्रायें भी रखता है, अर्थात् शब्दादिक क्रियाओंको अुत्पन्न करता है। अमुक मात्रा अमुक महाभूतके साथ अवश्य जुड़ी हुअी है, अैसा हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते। फिर जैसे अेक महाभूत दूसरे महाभूतमें बदला जा सकता है, वैसे ही मात्रान्तर भी हो सकता है। अुदाहरणार्थ अुष्णतामेंसे विजली, विजलीमेंसे तेज, शब्द अित्यादि बन सकते हैं। आजकलके प्रयोगोंसे अैसा भी मालूम होता है कि आकाश सब प्रकारकी मात्राओंका वाहन हो सकता है और ज्ञान-वृद्धिके साथ साथ अुनकी संख्याओंका बढ़ना भी सम्भवनीय है।

तो अब मात्राओंकी संख्याका हम वर्तमान वैज्ञानिक जानकारीके अनुसार विचार करें।

ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयोंका ज्ञान दो तरहसे प्राप्त करती हैं: स्पर्शका, स्वादका और गन्धका ज्ञान हमें पदार्थके साथ प्रत्यक्ष और स्थूल सम्पर्कमें आये बिना नहीं हो सकता। पदार्थका कुछ न कुछ भाग हमारी त्वचा, जीभ या नाकसे छूना चाहिये। परन्तु शब्द तथा प्रकाशका ज्ञान पदार्थके साथ प्रत्यक्ष सम्पर्कमें आये बिना ही होता है। गन्धका ज्ञान पदार्थकी सूक्ष्म रजके नाकके अन्दरकी चमड़ीसे लगने पर होता है; अिसमें पदार्थके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता हुआ मालूम पड़ता है। गन्धके विषयमें प्राचीन या अर्वाचीन पदार्थ-विज्ञानमें अधिक शोध हुअी मालूम नहीं पड़ती। रसके छह भेद किये हैं। प्रकाशकी सात किरणें मानी गअी हैं। अिसके अुपरान्त भी किरणोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ खोज हुअी है। शब्दके विषयका ज्ञान हमें ठीक

ठीक हुआ है अैसा कह सकते हैं । स्पर्शके विषयमें भी ठंडा-गरम, चिकना-खुरदरा आदि भेद पहचान सकते हैं । गन्धके भेद तो हम समझ सकते हैं । परन्तु अुसका शास्त्रीय वर्गीकरण अभी नहीं हो सका है । शान्तिपर्वमें (महाभारतमें) गन्धके नौ भेद बताये गये हैं । पर वे संतोषजनक नहीं है । गन्ध पदार्थके किस स्वरूपका धर्म या क्रिया है, अिसकी विविधता कैसे होती है, कितने प्रकारकी होती है — अिसके सम्बन्धमें हमने अधिक ज्ञान प्राप्त किया हो अैसा दिखाअी नहीं पड़ता।

१०

मात्राओंकी संख्या

संसारके समस्त पदार्थोंको पहचाननेके जो साधन हमारे पास हैं, अुनके अनुसार अुनके वर्गीकरणकी जो नीति शास्त्रोंने स्वीकार की है, वह बहुत सुलभ और सुविधाजनक है । पदार्थ हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर जिस तरह प्रभाव डालते हैं, अुससे हमें अुनके अन्दर चलती क्रियाओंका ज्ञान होता है । किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि सिर्फ अुतनी ही क्रियायें पदार्थोंके अन्दर होती हैं । और अुनके जाननेका कोअी भी दूसरा साधन न होनेके कारण हम अुनका वर्गीकरण भी नहीं कर सकते।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसिद्ध ही हैं: श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण । अिन प्रत्येकके विषयानुसार जगत्के पदार्थ पाँच प्रकारके हैं — शब्दात्मक, स्पर्शात्मक, रूपात्मक, रसात्मक और गंधात्मक । अिनमेंसे रूपको प्राचीनोंने तेजकी मात्रा मानी है, किन्तु हमने तेजको भूतोंमेंसे हटा दिया है और अुसके दो स्पष्ट भाग — अुष्णता और प्रकाश — करके अुष्णताको स्पर्शका भेद और प्रकाशको रूपमें गिना, अेवं अिन दोनोंका समावेश मात्राओंमें किया है । अिसके अुपरान्त भी चलती क्रियाओंका भान हमें होता है या नहीं, और यदि होता है तो हम अुन्हें कैसे पहचान सकते हैं, अिसका विचार करते हुअे मन अथवा चित्तको ज्ञानेन्द्रियकी तरह ही अेक स्वतंत्र साधन मानना आवश्यक मालूम होता है । जिस प्रकार जुदा जुदा रंगोंका रूपमें समावेश करके अुसे हमने नेत्रका

विषय समझा है, अुसी तरह चित्तका विषय बननेवाली भिन्न भिन्न क्रियाओंके लिअे अेक ही शब्द—सञ्चार—की योजना की जा सकती है। बिजली आदि शक्तियाँ; दया, क्रोध आदि भावनायें; क्षुधा, तृषा आदि अूर्मियाँ; बुखार, सूजन, चपका या कसक आदि वेदनायें; सुख, दुःख आदि अवस्थायें; संकल्प, विचार, कल्पना (और चाहें तो भूत-प्रेतादिके तथा परचित्त-प्रवेशके अनुभवोंको भी गिन लें)—अिन सबका भान त्वचा आदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है, अैसा कहना कठिन है। ये सब सीधे चित्तके ही विषय हैं और पदार्थों द्वारा अुपजते किसी प्रकारके क्रिया-सञ्चार द्वारा ही हमें अुनका भान होता है।

अिनमेंसे भावना, अूर्मि, वेदना, सुख-दुःख, संकल्प, आदि संचार हमें केवल चित्तवान सृष्टिमें दिखाअी देते हैं। अिन्हें यदि अेक ओर रख दें और जड़ सृष्टिमें ही दिखाअी देनेवाले बिजली, लोहचुम्बकत्व आदि (तथा कभी कभी चित्त-प्रवेश) के संचारोंको ही गिनें, तो ये तीन मात्रायें बढ़ाअी जा सकती हैं।

अिस प्रकार पदार्थ-मात्रमें अेक समय अथवा भिन्न भिन्न समयमें जो क्रियायें चलती रहती हैं, अुनके छह भेद हो जाते हैं:

(१) शब्द, (२) स्पर्श (अुष्णता तथा दबाव),* (३) रूप (प्रकाश), (४) रस (छह प्रकारके स्वाद), (५) गंध, और (६) संचार (बिजली, लोहचुम्बकत्व, रेडियोशक्ति, चित्तप्रवेश, अित्यादि)।

अिन मात्राओंमेंसे रस और गन्धके सम्बन्धमें हम कदाचित् अैसा कह सकें कि किसी पदार्थको हम जब तक अुसी पदार्थके रूपमें जानते हैं तभी तक अुसके गन्ध और रस अुसमें कायम रहते हैं। परन्तु हम यह बात निश्चित रूपसे नहीं जानते कि प्रत्येक पदार्थमें किसी न किसी प्रकारकी गन्ध व रसका वास है या नहीं। यदि वैसा साबित हो जाय तो यह कहा जायगा कि गन्ध या रसका भान

---

* चिकना, खुरदरा अित्यादि स्पर्शके भेद वस्तुतः पदार्थके राजस भेद नहीं हैं, बल्कि परिमितिके बाह्य भेद हैं। भले ही अिन्हें व्यवस्थितिके भेद भी कहें। पदार्थकी आकृतिका ज्ञान भी अुसमें होनेवाली क्रियाको नहीं बतलाता, बल्कि परिमितिको ही बताता है। हाँ, यह सच है कि अिन दोनोंका ज्ञान स्पर्शसे ही होता है। परन्तु अुसका कारण यह है कि त्वचामें दबावका सूक्ष्म फर्क मालूम पड़ जाता है और अुससे हम परिमितिका अनुमान करते हैं।

कराने‍वाली क्रिया पदार्थ-मात्रके अेक या दो तत्त्व हैं। परन्तु यह बात कि प्रत्येक पदार्थमें अुष्णता-धर्म है, अिससे भी अधिक निश्चित रूपसे कही जा सकनेकी सम्भावना है। शेष तीन मात्रायें (शब्द, प्रकाश और संचार) पदार्थके अस्थायी धर्म हैं और अनुकूल परिस्थितिमें प्रकट होते हैं।

११
व्यवस्थिति–विचार

अिसके पहले कि हम सचित्त सृष्टिके रजोगुणके (क्रिया-धर्मके) भेदोंका विचार करें, पदार्थोंकी व्यवस्थितिके जो भेद विश्वमें दिखाअी देते हैं, अुनका कुछ विचार करना ठीक होगा। व्यवस्थिति शब्दमें ही किसी प्रकारकी नियमितता सूचित होती है। यह स्पष्ट ही है कि व्यवस्थितिका विचार परिमिति तथा गतिसे स्वतंत्र रूपमें नहीं किया जा सकता; क्योंकि तब यह प्रश्न तुरन्त अुठ खड़ा होता है कि आखिर व्यवस्थिति किसमें? अर्थात् व्यवस्थिति या तो मुख्यतः पदार्थकी परिमितिमें होगी या अुसकी गतिमें होगी या दोनोंमें भलीभाँति होगी।*

चाहे परिमिति हो चाहे गति, किसीमें भी यदि व्यवस्थिति बढ़ी हुअी दिखाअी दे, तो अुससे पदार्थमें कुछ धर्मोंका अुदय दिखाअी देगा: जैसे कि, यदि वह पृथ्वीमें हो तो पहलूदार (prism) हो जाना, प्रतिबिम्ब अुठानेकी क्षमता आ जाना, शब्द, अुष्णता, बिजली अित्यादि मात्राओंको धारण या वहन करनेकी शक्तिका बढ़ना अित्यादि। अिस प्रकार किसी भी धर्म या तत्त्वको विशेष रूपसे प्रकट करनेकी शक्ति अुसमें मालूम पड़ेगी।× परन्तु जिस तरह अेक तरफ व्यवस्थितिके विकाससे

* अिसका अर्थ यह न समझिये कि व्यवस्थिति परिमितिमें हो और गतिमें न हो, अथवा गतिमें हो और परिमितिमें न हो; बल्कि यदि व्यवस्थितिका परिणाम मुख्यतः पदार्थकी परिमितिमें दिखाअी दे, तो अुसमें और गतिमें दिखाअी दे तो गतिमें समझिये। विचारकी सुविधाके लिअे ही यह भेद किया गया है।

× पदार्थका जत्था बड़ा होनेके कारण अुसमें तत्त्वकी विशेष रूपसे प्रकट होनेकी जो शक्ति मालूम पड़ती है — अुसका विचार यहाँ नहीं किया गया है; बल्कि अल्प पदार्थमें ही जो तत्त्व विशेष रूपसे प्रकट हुआ दीखता है, अुसीको व्यवस्थितिके विकासका परिणाम कह सकते हैं।

पदार्थोंमें किसी धर्मके प्रकट होनेकी शक्ति बढ़ती है, अुसी तरह यह भी मालूम पड़ेगा कि दूसरी तरफ अुन पदार्थोंकी विविधता घटती है। यानी पदार्थ अमुक तरहसे ही क्रिया कर सकने योग्य बनते हैं।+

अब पहले परिच्छेदमें बताअी अेक बातकी याद यहाँ फिर दिलाना ठीक होगा। आजकलके वैज्ञानिकोंकी तरह दर्शनकार विज्ञानशास्त्रोंकी शोध नहीं करते थे। अुनकी शोधका तो मुख्य अुद्देश्य यह जानना था कि मनुष्य अथवा विश्वका मूल कहाँ और किस तरह है। अिसलिअे जितना कमसे कम विचार किये बिना अुनका काम ही नहीं चलता था, अुतना ही विचार अुन्होंने चित्त-हीन सृष्टिके सम्बन्धमें किया है। अिस कारण सांख्य-शास्त्रमें महाभूतों और मात्राओंके विचारके बाद व्यवस्थितिकी दृष्टिसे चित्त-हीन सृष्टिका विचार नहीं किया गया और चित्तवान सृष्टिमें भी मनुष्यका ही विचार अंगीकार किया है। अिसका अेक दूसरा कारण, जैसा कि हम आगे बतायेंगे, यह भी है कि दर्शनकारोंकी जाँच या खोजकी शुरूआत विश्वसे नहीं बल्कि मनुष्य-शरीरसे हुअी है।

हमें भी अिस पुस्तकके अुद्देश्यके अनुसार चित्त-हीन सृष्टिका अधिक विचार करनेकी जरूरत नहीं।

अतः अब हम चित्तवान सृष्टिकी ओर ही ध्यान दें। अिसमें घनत्व, रसत्व, वायुत्व और आकाशत्व — संक्षेपमें महाभूत — और अुसी प्रकार अुष्णता, दबाव, बिजली, ध्वनि, गन्ध, स्वाद आदि मात्रायें हैं। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वे चित्त-हीन पदार्थोंकी तरह सादे रूपमें हैं। शरीरकी रचनामें चारों महाभूत और चित्त-हीन पदार्थोंकी छह मात्राओंके अुपरान्त दूसरी मात्राओंका भी अेक साथ दर्शन होता है। अुसकी परिमिति तथा गतिमें अेक खास प्रकारकी और अटपटी व्यवस्था मालूम पड़ती है।

+ रसायनशास्त्रमें स्वीकृत मूल तत्त्वोंका वर्गीकरण जिस तरह किया गया है, अुसमें परिमिति-व्यवस्थाके भेद मुख्य हों अैसा लगता है। पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र चित्तहीन पदार्थोंकी गति-व्यवस्थाका निरूपण करता है। यंत्रशास्त्र भी अिसीका आधार लेते हैं। पदार्थका क्रिया-गुण व्यवस्थित होनेसे अुसमें स्थानान्तर करने-करानेकी शक्तिका प्रकट होना मुख्य चिन्ह मालूम पड़ता है।

१२

कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा चित्त

शरीरके अवयवोंके दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं — अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। हृदय, फेफड़े, कलेजा, तिल्ली, जठर आदि शरीरके धारण, पोषण और वृद्धिके लिअे ही जो अङ्ग क्रियाशील रहते हैं, वे अन्तरङ्ग हैं; और हाथ, पाँव, वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंके नामसे जो पाँच अङ्ग प्रसिद्ध हैं, वे बाह्य अंग हैं; क्योंकि वे अिन्द्रियाँ महज शरीरमें और अुनके धारण, पोषण, वृद्धि आदिके लिअे ही क्रियाशील नहीं होतीं, बल्कि अुनकी क्रियाओंका विस्तार बाहर भी होता है और अुनका परिणाम चित्त पर भी पड़ता है।

अन्तरङ्गों और बहिरङ्गोंमें व्यवस्थिति है, परन्तु अुसका परिणाम क्रिया-प्रधान है। अिनमेंसे अन्तरङ्गोंका विस्तृत विचार करना सांख्य-दर्शनको आवश्यक नहीं मालूम हुआ। अतअेव अुसने कर्मेन्द्रियोंको राजस अहंकारके विकारोंमें गिनाकार रजोगुणका विषय वहीं समाप्त कर दिया है।*

---

* वेदान्तके पञ्चीकरणमें जो पाँच प्राणोंका वर्ग किया गया है, अुसे भी रजोगुणका भेद कहा है। पाँच प्राणोंको अन्तरङ्गोंकी क्रियाओंका भेद कह सकते हैं।

यहाँ यह याद रखना चाहिये कि पञ्चीकरणमें तथा सांख्यमें 'अहंकार' और 'चित्त' शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुअे हैं। सांख्यशास्त्रने मन, बुद्धि और अहंकारके नामसे जो तीन तत्त्व बताये हैं, अुनमें प्रतीत होनेवाले भिन्न भिन्न धर्मोंके अनुसार पञ्चीकरणमें अुनको मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और स्मृति (?) अैसे पाँच नाम दिये गये हैं। सांख्य और पञ्चीकरणके शरीर-शोधन-सम्बन्धी दृष्टि-बिन्दु अनेक अंशोंमें अलग अलग हैं, किन्तु दोनोंकी परिभाषा अेक-सी होनेसे कितने ही ग्रंथोंमें दोनोंकी खिचड़ी हो गअी है। पञ्चीकरणके अनुसार, अैसा मालूम होता है कि, सिर्फ महाभूत ही चित्तहीन और चित्तवान सृष्टिके साधारण तत्त्व हैं। यह कहे बिना गति नहीं है कि पञ्चीकरणमें कितना ही वर्गीकरण और अंशांशोंकी गिनती बिल्कुल काल्पनिक है।

पाठक यदि महत् और अहंकार सम्बन्धी प्रकरणोंमें अुल्लिखित बातोंको भूल गये हों, तो अुन्हें ताजा कर लेनेकी कृपा करें। अुनमें महत्को धारण, आकर्षण आदि धर्म तथा अहंकारको स्वरूप-धृति और प्रत्याघातरूपी धर्म बतलाया है। महत् और अहंकारके व्यापारोंसे पदार्थोंकी परिमिति, गति और व्यवस्थितिमें फर्क पड़ता है और अिस तरह जगत्की रचना और संहार होता रहता है।

चित्तवान सृष्टिमें पदार्थकी परिमिति और गतिकी अपेक्षा व्यवस्थिति ही अधिक ध्यानमें लेने लायक है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो महत् और अहंकारमें क्रान्ति होते होते जब मन अथवा चित्तका आविर्भाव होता है, तबसे अेक नवीन दिशामें क्रान्ति-क्रम आरम्भ होता है। अुसमें परिमिति और गति तो विशेष प्रकारकी हैं ही, परन्तु व्यवस्थितिके भेद खास तौरसे हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। पिछले प्रकरणमें कहे अनुसार व्यवस्थितिका खास लक्षण तत्त्व-व्यक्तिकी वृद्धि और विविधताकी घटती है।*

अूपर-अूपर विचार करनेसे अैसा मालूम हो सकता है मानो चित्तकी अुत्पत्ति ज्ञानेन्द्रियोंके बाद हुअी हो; क्योंकि हम चित्त अुस शक्तिको समझते हैं, जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत संस्कारोंको अेक केन्द्रमें लाकर अुसका समन्वय और भेद करती है। परन्तु आरम्भमें ही अपनी शोधके लिअे हमने जो नीति स्वीकार की है, अुसके अनुसार चित्तका बीजरूप चिह्न पूर्ण मनुष्यमें देखनेके बजाय हमें अुसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवाणु (cell) में देखना चाहिये और यह तलाश करना चाहिये कि फिर मनुष्य-योनि तक अुसका क्रमशः विकास किस तरह हुआ है।

अिस दृष्टिसे सभी मात्राओंसे संचारित होना — सभी मात्राओंका वाहन बनना — मन या चित्तका लक्षण मालूम होता है। परन्तु अिसका अर्थ यह नहीं कि मात्राओंके संचारका असर चित्त पर नहीं होता अथवा वह संचार अुसके लिअे लाभदायी ही होता है। मात्राओंका अनुचित संचार चित्त-शक्तिके नाशका भी कारण हो सकता है; परन्तु

---

* किसी भी तत्त्वको (धर्मको) विशेष रूपसे प्रकट करनेवाली शक्तिको तत्त्व-व्यक्ति कहते हैं। अिसकी बदौलत दूसरे प्रकारकी क्रिया करनेकी जो अशक्ति अुसमें आती है, अुसे विविधताकी घटती समझना चाहिये।

किसी भी मात्राका संचार अुचित मात्रामें हो, तो अुन सबका वाहन यदि कोअी हो सकता है तो वह चित्त ही है। अेक जीवाणुसे दूसरे जीवाणुकी अुत्पत्ति मात्रा-संचारका अेक परिणाम मात्र कहा जा सकता है।

चित्तके अिस मात्रा-वाहन-धर्मके यदि हम विभाग करें, तो अुनमें नेत्रादिक ज्ञानेन्द्रियोंके विभागोंका और स्मृति, चिन्तन, निश्चय, संकल्प, प्रवृत्ति (अन्तःकरणपंचक) आदिका तथा भावनाओं, अूर्मियों, वेदनाओं, सुख-दुःखादिक अवस्थाओंका अेवं चित्त-प्रवेश (या भूत-संचार) के अनुभवोंका समास हो जाता है। अिनमेंसे ज्ञानेन्द्रियोंके विभाग स्पष्ट हैं। अिसलिअे सांख्य-शास्त्रने अुनका पृथक निर्देष किया है और शेष धर्मोंका मन या बुद्धिके नाममें अेक साथ समावेश कर दिया है।*

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अेक अेक मात्राका वाहन बननेकी विशेष योग्यता रखती है। अतअेव अुसमें विविधता कम है। शेष मात्रायें (बिजली, लोहचुम्बक, चित्त-प्रवेश आदि) या अुनके भेदोंके संचारका वाहन चित्त है। अुसके बादकी क्रांतिका क्रम चित्त और ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार द्वारा चलता है। मानव-चित्तमें वह क्रम धीरे धीरे पहले अिच्छा-शक्ति, भोक्ता-शक्ति और ज्ञाता-शक्तिका आविर्भाव दर्शाता है। फिर अिच्छा, भोग और क्रियाकी नियन्ता-शक्तिका धर्म प्रकट करता है। अिस तरह यह चित्त अत्यन्त नहीं तो काफी मात्रामें स्वतंत्रता रखता है और अन्तको वह अुस ज्ञान-शक्तिका निश्चय करनेमें भी समर्थ होता है। परन्तु अिस

---

* पञ्चीकरणमें अन्तःकरणकी अनुसन्धानात्मक क्रियाओं पर जोर देकर अुनको स्मृति, संकल्प, निश्चय, चिन्तन और प्रवृत्ति अैसे अलग अलग नाम दिये हैं। पातंजल-योगमें स्मृति, प्रमाण, विकल्प, विपर्यय और निद्रा अैसी निर्णयात्मक क्रियाओंके तथा अस्मिता, आनन्द, विचार और वितर्क अिन सम्प्रज्ञानात्मक क्रियाओंके भेद पर जोर दिया है। फिर पतञ्जलिने, जान पड़ता है, बुद्धि, चित्त और सत्त्व अिन तीनों शब्दोंका अुपयोग अेक ही अर्थमें किया है। महत्‌के लिअे लिंग शब्दकी योजना मालूम पड़ती है। भक्ति-मार्गमें भावनाओंके प्रकारों पर जोर दिया गया है। अिन सबका सार अितना ही है कि आत्म-शोधनमें अन्तःकरणका शोधन ही अधिक महत्त्व रखता है और भिन्न भिन्न शास्त्रोंने भिन्न भिन्न दृष्टिसे अुसकी शोध की है।

तरह चित्त चाहे कितनी ही शक्तियोंको प्रकट करता हो, फिर भी अुसमें महत्‌के छह धर्म,[1] अहंकारका धर्म[2], छह चित्त-हीन पदार्थोंकी मात्राओं,[3] और मनकी विशेष शक्तियों[4] तथा अिन सबमें पिरोये हुअे तीन गुणोंके विना वह किसी दूसरे तत्त्वको, **प्रथम दृष्टिमें**, प्रकट नहीं करता।

१३

पुरुष

यहाँ तक हमने प्रकृति-तत्त्वका विचार किया। त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें महदादिक तत्त्व किस प्रकार स्थित हैं और तीन गुणों तथा महदादिक तत्त्वोंके पारस्परिक व्यापारसे क्रमशः किस प्रकार मानव-चित्त तक विश्वकी अुत्पत्ति हुअी — यह देखा।

जब यहीं तक आकर विचार रुक गया होगा, तब तत्त्व-ज्ञान प्रकृति-वाद अथवा चार्वाक-वाद पर आकर कृतार्थ हुआ होगा। अुन्हें यह प्रतीत हुआ होगा कि 'चैतन्य' प्रकृतिका विकार है। यह मालूम हुआ होगा कि महज त्रिगुणमयी प्रकृति-शक्तिसे ही अिस समग्र विश्वका यह चमत्कार हुआ है। परन्तु कुछ समयके बाद प्रकृति-वाद अिस कृतार्थताका अनुभव करानेमें असमर्थ हुआ होगा। गहरा विचार करने पर अितनेसे ही सब कुछ समझमें आता दिखाअी न दिया होगा। अुन्होंने देखा होगा कि अिससे दो प्रश्नोंका संतोषजनक अुत्तर नहीं मिलता।

पहला प्रश्न तो यह कि प्रकृति निरन्तर रूपान्तर करती दिखाअी देती है। क्रियारूप होनेके कारण वह अेक क्षण भी अेक रूपमें नहीं रहती और यह क्रिया भी सदैव अेक ही प्रकारकी नहीं होती। अैसा

---

१. धारण, आकर्षण, अपकर्षण, सायुज्य, वैयुज्य और संलग्नता।

२. स्वरूप-धृति और प्रत्याघातका अेकत्र धर्म।

३. शब्द, स्पर्श (अुष्णता तथा दबाव), रूप (प्रकाश), रस (छह प्रकारके स्वाद), गन्ध, और संचार (बिजली, लोहचुम्बकत्व, रेडियो, चित्त-प्रवेश अित्यादि)।

४. ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक (भावनायें, अूर्मियाँ, वेदनायें, अवस्थायें और चित्तप्रवेश)।

होते हुअे भी हमें समस्त पदार्थों, प्राणियों और जगत्के विषयमें जो यह प्रतीति होती है कि 'यह वही है', असका कारण क्या है? मनुष्यके स्थूल शरीरमें असके चित्त, अहंकार, अिन्द्रियाँ सबमें प्रति क्षण फर्क पड़ता जाता है। फिर भी वह यह जानता है कि 'जन्म-समयमें मैं जो था, वही आज भी कायम रहा हूँ।' और दूसरोंका भी असके लिअे यही मत होता है। अिस प्रकार जो 'अखंडित अस्मिता' का भान होता है, असका कारण क्या है?

दूसरा प्रश्न यह कि प्रकृतिमें भले ही परिमिति, क्रिया और व्यवस्थिति स्वभावसिद्ध हो, फिर भी अिन गुणोंके व्यापारोंसे अिच्छा, भोग और ज्ञानका तथा नियन्ता-शक्तिका अुदय क्यों होना चाहिये? परिमिति और क्रिया-गुणोंमें अत्यन्त व्यवस्था आ जानेसे असमें अिच्छा, भोग और ज्ञान-शक्तिके प्रकट होनेकी अनुकूलता तभी हो सकती है, जब प्रकृतिमें आदिसे ही ये शक्तियाँ मौजूद हों। अुसी अवस्थामें यह बात समझमें आ सकती है। परन्तु अब तक जो समस्त प्रकृति-तत्त्वोंका निरूपण हमने किया है, असमें कहीं भी अिच्छा, भोग, ज्ञान तथा नियंतृत्वका बीज हमें नहीं दिखाअी दिया। अतः यह कहना कि अिच्छा, भोग, ज्ञान और नियंतृत्व केवल प्रकृति-तत्त्वोंके व्यापारोंका परिणाम है — युक्ति-युक्त नहीं मालूम होता।

ये दो प्रश्न सांख्यकारके चित्तमें अुठनेका अेक और भी कारण था। अिस पुस्तकमें प्रकृति-तत्त्वोंका जो विवेचन किया गया है, असमें तत्त्वोंका विकास-क्रम बताया गया है; अर्थात् यह दिखाया गया है कि क्रमशः अेक पूर्ण मनुष्य-प्राणी तक प्रकृतिका विकास किस प्रकार हुआ है। सूक्ष्म बीजसे जिस प्रकार बड़ा वृक्ष बनता है, अुस तरहका यह विवेचन हुआ।

परन्तु शुरूआतमें विचारकने अिससे अुल्टे क्रमसे प्रकृतिकी शोध आरम्भ की होगी और यही पद्धति नैसर्गिक भी है; क्योंकि शोधकको बीजका ज्ञान तो था नहीं। अुसके पास तो मनुष्य-रूपी पूर्ण वृक्ष अुपस्थित था। अुसका बीज कैसा है और कहाँ है, यह अुसकी शोधका विषय था। अिसलिअे अुसे अपनी खोज पृथक्करण पद्धतिसे करनी पड़ी। अुसने

पहले पहल देखा कि मैं ज्ञाता, भोक्ता, अेषयिता (अिच्छावान) हूँ; अुसने अिस ज्ञातापनमें अहंकार (अपने स्वरूपको कायम रखने और जो अुसमें परिवर्तन करने आवे अुसका मुकाबला करनेके आग्रह)को देखा। अुसके मूलमें सचित्तता देखी; चित्तके पीछे अिन्द्रियोंकी स्थिति देखी; अिन्द्रियोंके दो प्रकार देखे। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंमें स्पष्ट भेद देख कर वह सत्वगुण और रजोगुणके तर्क पर आया। अिसके अुपरान्त अुसने अपनी जड़ता, परिमितता, भी देखी; शरीरके जड़-द्रव्योंमें अुसने पृथ्वी आदि भूत और गन्धादिक धर्म भी देखे। अिससे वह तमोगुणके अनुमान पर आया।

फिर विश्वकी खोज करते हुअे वहाँ भी अुसने महाभूत और तन्मात्राओंको देखा; वहाँ भी तीनों गुणोंका व्यवहार अुसे मालूम पड़ा। किसी न किसी रूपमें अहंकार और महत्‌को भी पाया। अिस तरह त्रिगुणात्मक प्रकृति और अुससे अुत्पन्न तत्वोंके निश्चय पर वह आया।

परन्तु अिस प्रकार मूलकी शोध करते हुअे अुसने यह भी देखा कि अिन समस्त तत्वोंसे युक्त प्रकृति अुसका ज्ञेय (ज्ञानका विषय) बनती है और प्रत्येक वस्तुका पृथक्करण करके विचारनेसे प्रत्येकसे वह अपनेको भिन्न अनुभव करता है। अिस तरह अुसने अपने साक्षित्व (केवल द्रष्टापन और ज्ञातापन)का पता लगाया। फिर अुसने यह भी देखा कि प्रकृतिका हर अेक तत्व प्रतिक्षण परिणाम पाता है और अिन सब परिणामोंके होते हुअे भी अपना साक्षित्व अखंडित रहता है। अिस तरह तमाम तत्वोंका निरास करते करते अुसने देखा कि कोअी अेक तत्व अैसा शेष रह जाता है जिसे वह ज्ञेय नहीं बना सकता, जिससे वह अपनेको अलग नहीं कर सकता और जिसका अुसे अैसा स्वयंसिद्ध और अखंडित ज्ञान रहता है कि अुसे कभी अैसा प्रतीत नहीं हुआ कि यह भान नहीं है। हाँ, चित्तमें ज्ञातापन अलबत्ता दिखाअी देता है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि अुसमें अज्ञान नहीं है। लेकिन अिस चित्तका ज्ञान और अज्ञान दोनों जिसके सामने खुद ही ज्ञेय बन जाते हैं, अैसा केवल ज्ञप्तिस्वरूप अेक साक्षी-तत्त्व भी है, अिस निर्णयपर वह निश्चित रूपसे

आ गया । यही सांख्यका पुरुष-तत्त्व और वेदान्तका प्रत्यगात्मा अथवा जीवात्मा है ।

पुरुषका निश्चय हो जानेसे अिस प्रकरणके आरम्भमें दर्शित दो शंकाओंका भी समाधान हो गया। पदार्थमें चाहे कितने ही परिवर्तन होते रहें, फिर भी अुसके साथी पुरुष-तत्त्वके कारण ही 'वह यही है' अैसी प्रतीति होती है । और प्रकृतिका अुचित रूपान्तर होने पर प्रकृतिकी नहीं, बल्कि पुरुषकी स्वभावभूत ज्ञान-शक्ति पूर्ण रूपसे प्रकाशित हो अुठती है।

अब यदि यह प्रश्न अुठे कि विश्वके 'अिस सारे अुत्पत्ति, लयादि अुथल-पुथलका प्रयोजन आखिर क्या है?' तो अुसका भी निराकरण अिसमेंसे ही सांख्य-दर्शनने खोज निकाला । वह यह कि पुरुषके भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के लिअे ही ।

अिस तरह सांख्य-शास्त्रने नीचे लिखे अनुसार सिद्धान्त-निर्णय किया :

१. चैतन्यरूप अथवा ज्ञान-रूप अथवा साक्षी खुद अपरिणामी किन्तु प्रकृतिमें परिणामोंका अुत्पादक और नियामक (अर्थात् अुसे निश्चित नियम पर चलानेवाला) अेक पुरुष-तत्त्व है, और दूसरा निरन्तर परिणाम पानेवाला त्रिगुणात्मक प्रकृति-तत्त्व है । ये दोनों अनादि हैं और निरन्तर अेक दूसरेके साथ संलग्न हैं ।

२. अिस पुरुषके नियमनसे प्रकृतिके गुणोंका व्यापार शुरू होता है और अुसमें बीज रूपमें गुप्त रहे हुअे महदादिक धर्मोंका अुदय, विकास और अस्त होता है ।

३. चित्तका अुदय होकर पूर्ण विकास होने तक यह व्यापार बढ़ता रहता है । तब तक पुरुष-प्रकृति परस्पर अैसे अेक दूसरेमें संलग्न दिखाअी देते हैं कि दोनोंकी स्वभावभूत भिन्नता पहचानी नहीं जा सकती । किन्तु जब चित्तका पूर्ण विकास हो जाता है और जब यह भिन्नता अुसे मालूम पड़ती है, तब प्रकृतिका अस्तक्रम शुरू होता है ।

४. अिस क्रमकी समाप्ति पुरुषकी स्वरूप-स्थिति अथवा मुक्ति है।

५. पुरुष अगणित हैं और प्रकृति-तत्त्व अपार हैं ।

१४

वेदान्त

हमारे देशमें तत्त्व-शोधनके क्षेत्रमें सांख्य-शास्त्रने बहुत बड़ी देन दी है, अिसमें सन्देह नहीं। लाखों रुपयोंकी विशाल प्रयोगशालाओं तथा अत्यन्त सूक्ष्म और सही यन्त्रोंके बिना भी मनुष्य महज अपनी अिन्द्रियोंके बल पर ही कितना गहरा अवलोकन व सूक्ष्म विचार कर सकता है तथा पिंड-ब्रह्माण्डके स्वरूपके सम्बन्धमें कितना स्पष्ट, बुद्धिगम्य और अनुभव-सिद्ध निश्चय कर सकता है, अुसका सांख्य-शास्त्र अेक अुत्कृष्ट अुदाहरण है।

वेदान्त-मतने सांख्य-शास्त्रके अन्तिम निर्णयका खंडन किया है यह बात सही है; परन्तु वस्तु स्थितिको देखें तो मालूम होगा कि वेदान्त-शास्त्रने सांख्यके निर्णयको अुलट नहीं दिया, बल्कि विशेष खोज करके अुसमें सुधार किया है अितना ही। तत्त्वोंके स्वरूपका परीक्षण करते करते सांख्य-मतने निश्चय किया कि पुरुष और प्रकृति ये दो मूलभूत तत्त्व हैं। अब वेदान्त-मतको यदि ठीक तरहसे दर्शाया जाय, तो अुसका तात्पर्य अितना ही होगा कि अिन दो तत्त्वोंके स्वरूपका भी जब अधिक गहरा विचार करते हैं, तो ये दो शक्तियाँ भिन्न भिन्न नहीं दिखाअी देतीं। बल्कि यह निर्णय होता है कि यह अेक ही शक्ति है और जगत् अेक ही तत्त्वका बना हुआ है। यह कैसे? अिसका अब विचार करें।

प्रकृतिका निरूपण करते समय हमने अुसके तीन गुणोंका विचार किया है (प्रकरण २)। वहाँ कहा है कि 'पदार्थमात्रमें जड़ता या निष्क्रियताका भाव अुपजानेवाले परिमितता-गुणको मैं तमोगुण कहता हूँ। अुसे केवल सत्ता — अस्तित्व — (essence, being) या केवल निष्क्रियताका (inertia) गुण भी कह सकते हैं।' . . . 'पदार्थमात्रमें स्थित गति, क्रिया या कम्प (motion) के धर्मको मैं रजोगुण मानता हूँ' और 'परिमिति तथा गतिके साथ रहनेवाली व्यवस्थितिको मैं सत्त्वगुण समझता हूँ।'

परिमितताको केवल सत्ताका गुण भी क्यों कहा जाय, यह थोड़ा विचार करनेसे ही मालूम हो जाता है। पदार्थकी अत्यन्त अल्प परिमितिका 'यह है' असिसे अधिक स्पष्ट वर्णन नहीं किया जा सकता।* पदार्थके सब विकारी धर्मोंको, जो धर्म दूसरे पदार्थोंमें मिलते हैं अुनको, अुसी तरह अुनमेंकी क्रिया अथवा व्यवस्थितिको क्षणभरके लिअे विचारसे दूर रखें, तो अुसकी परिमिति केवल निष्क्रिय सत्तारूप ही दिखाअी देगी।

पदार्थको हम जो नाम देते हैं, वह क्या है? अिन्द्रियों तथा चित्तके द्वारा वह पदार्थ हमारे चित्त पर जो संस्कार डालता है, अुस परसे की गअी कल्पना है। यह कल्पना सबकी अेकसी नहीं होती। अनेक बार लोग भाषा अेकसी बोलते हैं, परन्तु अुस भाषासे बोध्य पदार्थके सम्बन्धमें अुनकी कल्पनायें भिन्न भिन्न होती हैं। अुदाहरणके लिअे मन, बुद्धि, आत्मा या अीश्वर शब्दको लीजिये। सभी लोग अिनका प्रयोग करते हैं। परन्तु अिनके विषयमें हरअेककी कल्पना अलग अलग होती है। अिस सबका महत्तम समापवर्तक निकालें, तो 'कुछ न कुछ परिमित है' अितना ही निश्चय सामान्य अवयव रूपमें होगा।

अिस तरह केवल परिमितिका विचार अथवा निष्क्रिय सत्ताका विचार दोनों अेकसे हैं।

अब पुरुष-तत्वको भी सांख्यने निष्क्रिय सत्ता-मात्र चैतन्य कहा है। सांख्यका यह अेक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि पुरुष खुद कुछ नहीं करता, परन्तु अुसकी समीपता मात्रसे ही प्रकृतिकी सब क्रियायें चलती हैं।

> अुपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
> परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ (गीता, १३—२२)

[बाह्यतः देखनेवाला (अुपद्रष्टा—साक्षी), अनुमति देनेवाला, (प्रकृतिका) आश्रयदाता (भर्ता) और भोक्ता+ तथा महेश्वर*, जिसको परमात्मा भी कहते हैं, वह अिस देहमें पर (सब तत्त्वोंसे श्रेष्ठ) पुरुष है।]

---

* रेखागणितमें बताअी 'बिन्दु'की व्याख्या अिसके साथ तुलना करने जैसी है।

+ ज्ञानेश्वरने अिसका अर्थ 'खानेवाला' किया है।

* महेश्वर शब्दका प्रयोग करनेमें महत्का अीश्वर, महत्से श्रेष्ठ अैसा सूचित होता है।

अिस पर ज्ञानेश्वरकी टीका भी यहाँ देने जैसी है :

"यह (अुपद्रष्टा) प्रकृतिके बीच खड़ा है; परन्तु किस तरह, जैसे जूहीकी बेलका आश्रयभूत खम्भा खड़ा हो। प्रकृतिके साथ अुसका सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा पृथ्वी और आकाशका है। यह पुरुष प्रकृति नदीके तटका मेरु है, जो अुसमें प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु अुसके प्रवाहमें बह नहीं जाता। प्रकृति अुपजती है और जाती है — लय पाती है, परन्तु वह बना ही रहता है। अतअेव वह ब्रह्मदेवसे लेकर सब विश्वका शासन करता है। प्रकृति अुसके कारण जीती है। अुसीकी सत्तासे वह जगत्को अुत्पन्न करती है, अिसलिअे वह अुसका भर्ता है। अनन्त काल तक अिस सृष्टिका जो मेला चलता रहता है, कल्पान्तमें वह अुसके पेटमें समा जाता है। अैसा यह महत्-ब्रह्मका स्वामी, ब्रह्माण्डोंका सूत्रधार संसारकी अपारताको नापता है। फिर अिस देहमें जिसे 'परमात्मा' कहते हैं, वह भी यही है। अैसा जो कहा जाता है कि प्रकृतिसे परे अेक वस्तु है, वही तत्त्वतः यह पुरुष है।* (ज्ञानेश्वरी, अ० १३, ओ० १०२२–२९।)

---

* हा प्रकृति माजी अुभा। परि जुभी जैसा वोथंबा।
इया प्रकृति पृथ्वी नभा। तेतुला पाडु ॥ १०२२ ॥
प्रकृति सरितेच्या तटीं। मेरु होय हा, किरीटी।
माजीं बिंबे परी लोटीं। लोटों नेणे ॥ २३ ॥
प्रकृति होय जाये। हा तों असतु चि आहे।
म्हणोनि आब्रह्माचें होये। शासन हा ॥ २४ ॥
प्रकृति येणें जिये। याचिया सत्ता जग विये।
इया लागीं इये। वर पेतु हा ॥ २५ ॥
अनंतें काळें, किरीटी। जिया मिळती इया सृष्टि।
तिया रिगती ययाच्या पोटीं। कल्पांत समयीं ॥ २६ ॥
हा महद्ब्रह्मगोसावी। ब्रह्मगोळ लाघवी।
अपारपणें मवी। प्रपंचाते ॥ २७ ॥
पैं या देहा माझारीं। परमात्मा अैसी जे परी।
बोलिजे ते अवधारीं। ययातें चि ॥ २८ ॥
अगा प्रकृति परौता। अेकु आथी पंडुसुता।
अैसा प्रवादु तो तत्त्वता। पुरुषु हा पैं ॥ १०२९ ॥

प्रकृतिका दूसरा गुण क्रिया है, और पुरुष चैतन्य स्वरूप है। अब चैतन्य शब्द खुद ही क्रिया, संकल्प और ज्ञानका सूचक है। अिसमें क्रियाका तथा संकल्पका स्थान पहला और ज्ञानका दूसरा है; क्योंकि ज्ञान भी आखिर किसी क्रिया और संकल्पका ही तो होता है। यह हो सकता है कि ज्ञान प्रकट न दिखाअी दे। परन्तु क्रिया और संकल्प यदि अप्रकट हों, तो हम यह भी नहीं जान सकते कि वह चेतन है। फिर हम यह मानते आये हैं कि चित्तवान सृष्टिकी क्रियायें चैतन्यके सहारे चलती हैं। परन्तु यदि हम यह भी समझ लें कि चित्तहीन सृष्टिमें जो क्रियायें होती हैं वे भी अिस चैतन्यके द्वारा ही होती हैं, तो फिर यह बात समझमें आ जायगी कि जो चैतन्य है वही क्रिया है और अनुकूल परिस्थितिमें संकल्प तथा ज्ञान है। अथवा जो क्रिया है वही चैतन्य है और सत्त्वगुण-प्रधान अवस्थामें वह ज्ञानरूपमें व्यक्त होती है।

प्रकृतिका सत्त्वगुण व्यवस्थिति है, और पुरुषका स्वभाव अशोक है — अथवा हर्ष और शोक दोनों भावनाओंके अभावमें जो आनन्द और प्रसन्नता रहती है वैसा — आनन्दरूप है।*

व्यवस्थितिमें अेक प्रकारकी तालबद्धताका समावेश होता है। समस्त व्यवस्थित गतियोंमें कोअी अेक ताल अवश्य ही रहता है।+ आनन्दका अनुभव व्यवस्थितिमेंसे होता है। चित्तको जब अपना ताल हाथ आ जाता है, तब अेक प्रकारकी प्रसन्नता — धन्यता — मालूम होती

---

* वेदान्तमें आनन्द शब्दका अुपयोग हुआ है और अन्यत्र बताया गया है कि आनन्दका अर्थ शोकका अभाव सूचित करना ही है।

+ व्यवस्थित गतिमें सादी या अटपटी किन्तु किसी अेक ही प्रकारकी गतिका पुनरावर्तन सूचित होता है। अैसी गतिका अेक आवर्त पूरा होकर जब दूसरेकी शुरूआत होती है, तब वह पदार्थ अपनी मूल अथवा अुस दशाकी सहज स्थितिमें आया माना जाता है। अिस स्थितिको अुसका ताल कहते हैं। अुस समय अुसे बड़ी प्रसन्नता मालूम होती है। अैसा हो सकता है कि अन्य पदार्थोंके आघातोंके कारण पदार्थोंकी गतिमें क्षणिक या स्थायी नवीन प्रकारकी व्यवस्था अुत्पन्न हो और अिससे वह देरसे तालमें आवे अथवा कोअी नया ही ताल अुत्पन्न हो जाय।

है। तात्पर्य यह कि पुरुष आनन्दरूप — अशोकरूप — है अथवा प्रकृति व्यवस्थित या सत्त्वगुणी है, अिन दो वाक्योंका अेक ही अर्थ है।×

अिस तरह त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा सच्चिदानन्द पुरुष दोनों अेक ही तत्त्वकी भिन्न भिन्न व्याख्या है। विश्वको चाहे त्रिगुणात्मक प्रकृति कहें या चैतन्यका सागर कहें, अिससे वस्तु-भेद नहीं होता; हाँ, दृष्टि-भेद तथा संस्कार-भेद अलबत्ता होता है। प्रकृतिकी व्याख्यासे देखने लगें तो चैतन्य प्रकृतिका विकार और असत्य तथा काल्पनिक दिखाअी देता है; और पुरुषकी ओरसे देखने लगें तो प्रकृति अविद्या (नहीं जैसी) हो जाती है।

"वेद तो अेम वदे, श्रुति स्मृति साख दे,
कनक-कुण्डल महीं भेद न्होये;
घाट घडया पछी नाम रूप जूजवां,
अन्ते तो हेमनुं हेम होये।"* (नरसिंह महेता)

ये शब्द पुरुष तथा प्रकृति दोनों पर घट जाते हैं। प्रकृतिकी ओरसे देखनेमें अधिक स्थूल दृष्टि अथवा पूरी गहरी शोध नहीं है और अुससे अुत्पन्न संस्कार-भेद दक्षिणमार्ग और वाममार्गके जैसा तीव्र है। +

यहाँ अेक संशय पैदा हो सकता है। वह यह कि पुरुषको निर्विकार और निश्चल कहा है, जब कि जगत् सविकार और सदैव चंचल स्पष्ट रूपसे

× अिसकी विस्तृत चर्चा लेखककी 'केळवणीना पाया' (तालीमकी बुनियादें) पुस्तकके 'जीवनमें आनंदका स्थल' प्रकरणमें पायी जायगी।

* वेद कहते हैं, और श्रुति-स्मृति अुनका अनुमोदन करती हैं कि कनक और कुण्डलके बीच कोअी भेद नहीं, आकार बनाने पर अुनके नाम अलग अलग रखे जाते हैं। पर आखिरमें सब अेक कनक ही कनक है।

+ प्रकृतिमात्रवाद, शून्यवाद और ब्रह्ममात्रवाद अेक दूसरेसे अितने निकट हैं कि तीनोंमें मानो निर्विशेष भेदोंका पाण्डित्य ही अैसा भास होता है; परन्तु अैसी बात नहीं है। अिसमें विचारकी गहराअीका वास्तविक भेद है। जैसे सिनेमाको हिलता हुआ चित्र कहें, चित्र-परम्पराजन्य या गतिजन्य दृष्टि-छल कहें; अथवा अेक चित्रको आलिखित पदार्थ कहें, वस्तु-शून्य आभास कहें या रेखा-व्यवस्था कहें, तो अिनमें जैसे अेक ही पदार्थके शोधनमें दृष्टिकी गहराअीके भेद हैं, अुसी तरह अिस विषयमें भी भेद है।

दीखता है। अिससे अैसा लग सकता है कि अेक निर्विकार चित्-तत्त्व और दूसरा सविकार जड़-तत्त्व अिन दोको स्वीकार किये बिना गति नहीं। परिणामी प्रकृतिमें अखंडितताका भान क्यों होता है, अिस प्रश्न परसे तो प्रकृतिके मूलमें स्थित पुरुषकी शोध हुअी। तो अब फिर यह कहना कि पुरुष और प्रकृति अेक ही हैं, मानो पुनः वही कठिनाअी अुपस्थित करना है।

किन्तु यह कठिनाअी मात्र अूपरी ही है। अिसमें हमें सिर्फ 'विकार' शब्दका अर्थ ही समझ लेना है। विकार अनेक प्रकारके हैं; दूधसे दही होना अेक प्रकारका विकार है। अिसे हम मौलिक विकार कहेंगे। पानीसे बरफ या भाप बनना दूसरी तरहका विकार है। अिसे भूतविकार कह सकते हैं। पानीमें तरंगका होना सिर्फ क्रिया विकार है। दूसरे दो विकारोंकी अपेक्षा यह कम तात्त्विक है। सोनेके भिन्न भिन्न गहने बनाना भी अेक विकार है। किन्तु अिसे तात्त्विक विकार नहीं कह सकते। जलमें तरंगें अुठती हैं और लय पाती हैं, सोनेका पासा बनाओ या पुतली, अिनमें जलका जलत्व और सोनेका सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता। पुरुष या प्रकृतिका यह विश्व-रूप विकार चाहे जिस दृष्टिसे देखिये तात्त्विक नहीं है। जगत्में चाहे जिस प्रकारका बनाव-बिगाड़ हो, अुसमें अत्यन्त विचित्र पदार्थ अुपजें या नष्ट हों, तो भी यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ज्योंकी त्यों खड़ी है। पुरुषकी दृष्टिसे देखें तो सबमें पुरुषकी सत्ता और चैतन्यता अुसी तरह अनुस्यूतरूपमें (मालामें पिरोये हुअे धागेकी तरह) कायम रहती है। जैसे प्रकृतिका अप्रकृतित्व कहीं भी दिखाअी नहीं देता, वैसे ही पुरुषके पुरुषत्वका भी कहीं लोप नहीं दिखाअी देता। परन्तु, बीज जिस तरह वृक्षमें विकास पाता है, अुसी तरह बाह्यतः पुरुष अेक दशामेंसे दूसरी दशामें जाता है; अथवा जैसे सोनेके पासेसे नयी नयी चीजें — आकार — बनाअी जा सकती हैं, अुसी तरह पुरुष निरन्तर नये नये रूपमें प्रकट होता है। अब यदि अिन्हें विकार कहें तो अैसे विकार पुरुषमें हैं, यह कहनेमें कोअी बाधा नहीं। क्योंकि अैसा होनेमें ही पुरुषका चैतन्यत्व रहा है। प्रतिक्षण अैसे परिवर्तनोंका होना ही पुरुषकी चैतन्यताका प्रमाण है। और अिन परिवर्तनोंमें अुसकी सच्चिन्मयताका अखण्डित रहना

ही अुसका निर्विकारत्व है । सूर्य जैसे जगत्‌के व्यापारोंको शुरू नहीं करता, बल्कि अुसके अुगने-मात्रसे ही वे शुरू हो जाते हैं, अथवा जैसे ध्रुव ध्रुव-मत्स्यको (होकायंत्रके काँटेको) — कुतुबनुमाको — नहीं घुमाता, बल्कि अुसके अस्तित्वमात्रसे ही वह घूमता है — अैसे दृष्टान्त पुरुषको अकर्ता बतानेके लिअे देनेका रिवाज है । परन्तु ये दृष्टान्त कुछ अंशमें भ्रम अुत्पन्न करते हैं । हम चाहे जिसे ध्रुव कहने लगें और अुसकी शक्ति यदि व्यापार न करती हो, तो कुतुबनुमा घूमेगा नहीं; और सूर्य यदि प्रकाश डालनेकी क्रिया न करे, तो जगत्‌के काम शुरू न होंगे । अिस तरह पुरुष चैतन्य है, अिसका अर्थ ही यह है कि वह सदैव किसी न किसी तरह क्रियावान — व्यापारवान — है और अिसीसे विश्व पैदा होता और बदलता रहता है । वह निष्क्रिय है, अिसका अर्थ अितना ही है कि वह अकर्ता है; यानी वह दूसरे पर कोअी क्रिया नहीं करता; वह खुद ही क्रियावान रहता है और दूसरा कोअी तत्त्व ही नहीं होनेसे अुसकी क्रियायें खुद अपने पर ही चलती रहती हैं । अिस तरह वह विश्वरूप होते हुअे भी सदैव वहका वही रहता है । जो अिस प्रकारकी क्रिया भी अुसमें न हो, तो प्रकृति-तत्त्वको मानते हुअे भी विश्वकी संभावना नहीं हो सकती ।

सारांश यह कि पुरुष और प्रकृतिका अधिक गहरा विचार करनेसे यह निर्णय होता है कि ये दोनों स्वतंत्र तत्त्व नहीं बल्कि अेक ही तत्त्व हैं और तम-रज-सत्त्वगुणी प्रकृति सच्चिदानन्दात्मक पुरुषमें समा जाती है । यह वेदान्तका अन्तिम सिद्धान्त है । दूसरे सब वेदान्तवाद सांख्य और अन्तिम वेदान्त-सिद्धान्तके बीचमें आते हैं ।*

---

* वेदान्तके वादोंके लिअे देखिये परिशिष्ट २ । पुरुष अनेक और ब्रह्म अेक है — यह सांख्य और वेदान्तके बीचका मतभेद भी वेदान्तके अनेक झगड़ोंका कारण है । अिसका विचार दूसरे खण्डमें आ जाता है ।

गीताका वेदान्तमत

गीतामें सांख्य-दर्शनकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गअी है। फिर भी अुसमें पुरुष और प्रकृति अैसे दो स्वतंत्र तत्त्व नहीं माने गये हैं। बल्कि अेक ही ब्रह्म अथवा आत्म-तत्त्व स्वीकार किया गया है। भिन्न भिन्न भाष्यकारोंने गीता पर अपने दृष्टिबिन्दु जरूर घटाये हैं। परन्तु अिस सम्बन्धमें गीताका जो मत मैंने समझा है, वह नीचे देता हूँ। गीतामें किये गये तीन गुणोंका विवेचन दूसरे प्रकरणोंमें किया जा चुका है। अतः यहाँ अुसके विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं। गीताके वेदान्त-मतको जाननेके लिअे सातवाँ अध्याय कुंजीका काम देता है। दूसरे अध्याय अिसी विषयका निरूपण भिन्न भिन्न भाषामें करते हैं।

अिस अध्यायमें श्रीकृष्ण अर्जुनको 'विज्ञान सहित ज्ञान' समझाते हैं। ज्ञानका अर्थ मेरी रायमें है आत्माका ज्ञान, अथवा अदृश्य, अविनाशी, अखण्ड चैतन्य धर्मका ज्ञान; और विज्ञानका अर्थ है दृश्य, नाशवान और विकारी धर्मोंका ज्ञान। सांख्य परिभाषामें कहें तो ज्ञानका अर्थ होता है पुरुषका ज्ञान और विज्ञानका होता है प्रकृतिका ज्ञान। अथवा गीताकी भाषामें कहें तो परमात्माका ज्ञान ज्ञान है और परमात्माकी पर तथा अपर प्रकृतिका ज्ञान विज्ञान है। ज्ञानेश्वरी और लोकमान्यके गीता रहस्यमें, जहाँ तक मैंने समझा है, अैसा ही अर्थ किया गया है।

परन्तु 'प्रकृति' शब्द गीतामें (खास करके सातवें अध्यायमें) सांख्य-शास्त्रियोंके अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है। सातवें अध्यायमें अुसका अर्थ स्वभाव, खासियत, स्वयंसिद्ध शक्तियाँ, स्वयंभू धर्म, सहज धर्म, स्वरूपके साथ संलग्न गुण — अिस अर्थमें है। 'यह मनुष्य क्रोधी प्रकृतिका है', 'जलाना अग्निकी प्रकृति है', 'सर्प प्रकृतिसे ही विषैला है', अिन वाक्योंमें प्रकृतिका जो अर्थ है वही अुसमें स्वीकृत है।

अिस प्रकार गीता कहती है कि 'परमात्मा अथवा ब्रह्ममें दो प्रकारकी स्वयंसिद्ध अथवा सहजस्थित प्रकृति है: पर और अपर। परमात्माके

पर-स्वभावको जीवात्मक कहा है। जड़से विपरीत चेतन-प्रकृति भी अिसे कह सकते हैं।

परमात्माके अपर-स्वभावके आठ अंग हैं : भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। ये आठों अवयव अिकट्ठे मिलकर परमात्माका अपर-स्वभाव कहा जाता है। अिसका यह अर्थ हुआ कि जिसे हम आमतौर पर क्रमशः जड़-धर्म और जिसे चेतन-धर्म समझते हैं, वे दोनों परमात्माके स्वरूपभूत स्वभाव ही हैं।

परमात्माके अिन दो स्वभावोंमें ही तीन गुणोंके भाव अन्तर्भूत हैं; अथवा अिन दो प्रकारके स्वभावोंमेंसे ही सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके बल अुत्पन्न होते हैं। अिन तीन गुणोंके बलोंका परिणाम ही यह जगत् है।

परमात्मा अखण्ड अविनाशी है; अुसका अपर-स्वभाव प्रकट हो या अप्रकट — अदृश्य अथवा गुप्त — हो, पर अुसका तात्त्विक नाश नहीं होता; अर्थात् भूमित्व, जलत्व, अग्नित्व, बुद्धित्व आदि कभी नष्ट नहीं होते। ये तथा जीवत्व परमेश्वरके स्वभावमें सदा रहते ही हैं। अिस परमात्मासे अुत्पन्न तीन बल प्रकट होते हैं और लीन होते हैं, तथा अुन बलोंके कार्य पैदा होते और नाश पाते हैं, और अेक क्षण भी वे अेक ही स्थितिमें नहीं रहते।

अिस तरह मुझे सातवें अध्यायका तात्पर्य मालूम होता है। यह निरूपण यदि ठीक हो, तो अिसमें शांकर वेदान्तकी 'निर्गुण' ब्रह्म-विषयक कल्पना दिखाअी नहीं देती। शांकर-मतके अनुसार ब्रह्म विशेषण-रहित है, जबकि पूर्वोक्त विवेचनके अनुसार वह जीव तथा आठ तत्त्वोंसे मिलकर बना पर और अपर स्वभावयुक्त है तथा तीन गुण भी अुनकी प्रकृति (स्वभाव) मेंसे ही पैदा होते हैं। संक्षेपमें जगत्की अुत्पत्ति, पोषण और लय — ये क्रियायें परमात्माके स्वभावसे ही होती हैं।

अिन नवों धर्मोंको अलग अलग करके — व्यतिरेकसे — परमात्माका विचार करना गीताके दूसरे अध्यायके अर्थमें 'सांख्य-दृष्टि'का विचार

है। अिन नवों प्रकृतियोंके साथ — अन्वयसे — विश्वरूप परमात्माका विचार करना अुसी अध्यायके अर्थमें 'योग-दृष्टि'का विचार है।*

१६

अुपसंहार

(अिस खंडका संक्षिप्त निदर्शन)

गीता-मतमें और अिस खंडके निरूपणमें जो थोड़ा भेद है, वह नीचेके अुपसंहार परसे स्पष्ट हो जायगा। कह सकते हैं कि यह भेद शास्त्रीय है न कि व्यावहारिक। जब तक खुद तत्त्व-चिकित्सा करनेकी भावना या दृष्टि न पैदा हो, तब तक यह भेद अधिक महत्त्व नहीं रखता।

१. ब्रह्म — विश्व तथा विश्वमें जो कुछ नाम या रूप है, वह सब तत्त्वतः ब्रह्म है।

२. पुरुष-प्रकृति — शक्तिमत्ता अथवा अव्यक्त शक्ति अथवा अुपादान कारणकी दृष्टिसे ब्रह्म पुरुष यानी सत्ता, चिति और प्रसाद है और

---

* श्री सहजानंद स्वामीके 'वचनामृत'मेंसे नीचेवाला अवतरण यहाँ तुलना करने जैसा है — "सांख्यवाले विचार-क्षेत्रमें अपनी आत्माके अलावा जो कुछ पाँच अिन्द्रियों व चार अन्तःकरणोंके द्वारा भोगे जानेवाले विषय हैं, अुन्हें अतिशय तुच्छ मानते हैं . . . (अतः) जब कोअी अुनसे आकर यह कहता है कि 'यह पदार्थ तो बहुत ही सुन्दर है', तो अुससे वे कहते हैं कि 'कैसा ही सुन्दर होगा, पर होगा वह अैसा ही जो अिन्द्रियों व अन्तःकरणके द्वारा ग्रहण किया जाता है; और जो कुछ अिन्द्रियों व अन्तःकरणके द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह असत्य है, नाशमान् है'— अैसी सांख्यवालोंकी दृढ धारणा होती है और अपनी आत्माको वे शुद्ध मानते हैं। . . .

"परात्पर जो पुरुषोत्तम भगवान् हैं अुनका अिन प्रकृति-पुरुषादि सबसे अन्वय है, अतः यह सब भगवान् ही है और दिव्य-रूप है, और सत्य है, और ध्येय है — यह योगमार्ग वालोंका कथन है।"

शक्तिके व्यापारकी अथवा व्यक्त शक्तिकी अथवा कार्यकी दृष्टिसे वह प्रकृति* है। प्रकृतिके माने सत्व-रज-तम अथवा परिमिति-क्रिया-व्यवस्थिति।

२. **महत्-अहंकार** — प्रकृतिमें अथवा कार्यक्रममें (अर्थात् शक्तिके व्यापारमें) दो तत्व अथवा धर्म निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। तीन गुणोंके व्यापारके फलस्वरूप अिन धर्मोंकी अभिव्यक्तिमें — प्रकट होनेकी क्रियामें — संकोच, विकास और प्रकारान्तर होते दिखाअी देते हैं। तीन गुणों और दो तत्वोंका व्यापार अिस नाम-रूपात्मक भेदोंसे युक्त जगत्का निमित्त कारण है। ये तत्व हैं **महत्** और **अहंकार**। महत्का अर्थ है नाम या रूपमात्रमें स्थित धारण, आकर्षण, अपकर्षण, सायुज्य, वैयुज्य, संलग्नता आदि धर्म। प्रयोजनके अनुसार अिनमेंसे अेक या अधिक प्रकट होते हैं।

अहंकारका अर्थ है नाम या रूपमात्रमें स्थित स्वरूप-धृति और प्रत्याघात धर्म।

४. **महाभूत** — अहंकारके परिवर्तनोंकी मुख्यतः परिमितिकी दृष्टिसे खोज करके जगत्के समस्त नाम-रूपोंके चार वर्ग किये हैं: पृथ्वी, जल, वायु और आकाश। प्रत्येक वर्गका नाम **महाभूत** रखा गया है।

५. **मात्रायें** — जगत्में जो कुछ नाम-रूपात्मक है, अुसमें चलती और संचरती क्रियाओंके छह वर्ग बनाये हैं : शब्द, स्पर्श (अुष्णता और दबाव), प्रकाश, रस (स्वाद), गन्ध और संचार (विद्युत्, लोहचुम्बकत्व, चित्तप्रवेश आदि)। अहंकारके परिवर्तनको मुख्यतः रजोगुणमें पाकर यह वर्गीकरण किया गया है।

६. **चित्त-युक्तता** — अहंकारका सत्त्वगुणी परिवर्तन पदार्थकी परिमितिमें और गतिमें अन्तर्हित है। अिस परिवर्तनके दरमियान अुसकी

---

* सांख्य-दर्शनमें प्रकृतिको जो अव्यक्त कहा है सो अिस मतके अनुसार है कि पुरुष और प्रकृति दो स्वतंत्र तत्त्व हैं। प्रकृति जिस दशामें अपना कोअी व्यापार प्रकट न करती हो — अर्थात् तीन गुणोंका बल अेक दूसरेको सम्पूर्णतः क्षीण करके साम्य अवस्थामें हो, अुसका नाम अव्यक्त रखा गया है। अिस दशाकी कल्पना ही की जा सकती है।

अेक हद आने पर सृष्टिमें चित्त-युक्तता निर्माण हुअी है। सांख्य-दर्शनने मुख्यतः व्यवस्थिति गुणकी दृष्टिसे चित्त-हीन सृष्टिके वर्ग नहीं बनाये। मात्रा-शोधके बाद असने चित्तवान सृष्टिका ही और अुसमें भी मनुष्यका ही विचार हाथमें लिया है।

७. **कर्मेन्द्रियाँ** — चित्तवान सृष्टिमें पाँच कर्मेन्द्रियोंमें रजोगुणकी मुख्यता स्पष्ट और बाह्यतः जान पड़ती है; अिसके अुपरान्त शरीरके अन्तस्थ हृदय, फेफड़े अित्यादि अवयव भी अिसी वर्गके हैं। परन्तु सांख्य-दर्शनको अिसका विचार करनेकी जरूरत नहीं दिखाअी दी।

८. **चित्त (अथवा मन)** — चित्तवान सृष्टिके सत्त्वगुण-प्रधान वर्गीकरणमें पहला स्थान चित्तका है। सब मात्राओंसे संचारित होना — अुनका वाहन बनना — चित्तका लक्षण है। चित्त, मन और बुद्धि अेक ही अर्थमें आते हैं।

९. **ज्ञानेन्द्रियाँ** — पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ चित्तकी ही विशिष्ट शक्तियाँ हैं। स्थूल शरीरमें अिनके स्पष्ट गोलक दिखाअी देते हैं। अतअेव पृथक् तत्त्वके रूपमें अुनका निर्देश किया है। शेष शक्तियाँ चित्त शब्दसे ही प्रदर्शित की जाती हैं।

१०. **संख्या** — अिस तरह (१) ब्रह्म-पुरुष-प्रकृतिरूप सच्चिदानन्द या तम-रज-सत्त्वगुणी अेक तत्त्व, (२) महत्, (३) अहंकार, (४ से ७) चार महाभूत, (८ से १३) छह मात्रायें, (१४ से १८) पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (१९) चित्त और (२० से २४) ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर छह। अिस तरह कुल चौबीस तत्त्व होते हैं।

११. **सारांश** — जगत्में जो कुछ नाम या रूप है, अुसमें अिन तत्त्वोंमेंसे ब्रह्मशक्ति सबके मूलमें है; परन्तु दूसरे तत्त्वों (या धर्मों) के दर्शनके अभावमें वह अव्यक्त रहती है; और दूसरे तत्त्वोंके दर्शनमें ही अुसकी सत्ताका दर्शन होता है। दूसरे तत्त्व ज्ञानेन्द्रियों और चित्तके द्वारा जाने जा सकते हैं। ब्रह्मतत्त्व दूसरे तत्त्वोंका निरास करते हुअे स्वयंसिद्ध रूपमें शेष रहता है। शेष तेअीस तत्त्वोंमें महत्-धर्मोंमेंसे कमसे कम अेक, अहंकार, महाभूतोंमेंसे कोअी अेक अवस्था और मात्राओंमेंसे कोअी अेक, अिस तरह ब्रह्मके साथ कमसे

कम पांच तत्त्व और तीन गुण प्रत्येक नाम-रूपमें सदैव रहते हैं। अिससे अधिक, चित्तवान सृष्टिमें चित्तके कुछ धर्म और कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी कुछ शक्तियाँ (स्पष्ट स्थूल गोलकों सहित या अुनके विना भी) होती हैं।

अूर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ॥
(गीता, १५-१, २)

(जिस संसाररूपी वृक्षका मूल अूपर है और शाखायें नीचे हैं। गुणोंसे बढ़ी हुअी, विषयरूपी पत्तोंवाली अुसकी शाखायें अूपर और नीचे फैली हुअी हैं।)

परिशिष्ट १

सांख्यकारिकाका अनुवाद

(नोट : श्रीश्वरकृष्ण-रचित सांख्यकारिका सांख्यदर्शनका प्रमाणभूत ग्रंथ माना जाता है। असकी वाचस्पति-मिश्रकृत तत्त्वकौमुदी नामक व्याख्याके अनुसार कारिकाओंका अनुवाद नीचे दिया जाता है। अिसमें मैंने प्रचलित पद्धतिसे भिन्न अर्थ बैठानेका कहीं प्रयत्न नहीं किया है। अिसलिअे मूल कारिका देनेकी जरूरत नहीं समझी।)

१. तीन प्रकारके दुःखोंसे अभिभूत होनेके कारण अुनको दूर करनेके लिअे जिज्ञासा है; कहोगे कि अुसके अुपाय[1] तो प्रत्यक्ष हैं, अिसलिअे अुनकी जिज्ञासा फिजूल है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि दुःखनाशके परिपूर्ण और स्थायी अुपाय हैं ही नहीं।

२. प्रत्यक्षकी तरह आनुश्रविक[2] अुपाय भी अशुद्धि और क्षयसे युक्त हैं। जो अुपाय अिसके विपरीत (अर्थात् शुद्ध और अक्षय) है, वही श्रेय है; वह व्यक्त और अव्यक्तका विज्ञान है।

३. मूल प्रकृति किसीका विकार नहीं। महत् आदि सात अेक ओरसे विकृति और दूसरी ओरसे प्रकृति हैं; सोलह (तत्त्व) केवल विकार ही हैं; और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति ही[3]।

४. प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन[4] अिनमें सब प्रमाणोंका समावेश हो जाता है। अतः ये तीन अिष्ट प्रमाण हैं। जो कुछ सिद्ध करना है, वह प्रमाणों द्वारा ही है।

---

१. दवा, दारू, मंत्र, तंत्र, जंत्र आदि जैसे।

२. स्वर्गादि जैसे।

३. जो किसीसे पैदा नहीं होती, स्वयंभू है, किन्तु दूसरोंको पैदा करती है, सो प्रकृति है; जो किसीसे पैदा होती है और किसी दूसरेको पैदा भी करती है, सो प्रकृति-विकृति है; जो केवल पैदा होती है परन्तु किसीको पैदा नहीं करती, सो विकृति है; जो न तो पैदा होता है और न किसीको पैदा करता है, वह पुरुष है।

४. श्रद्धेय पुरुषका या शास्त्रका वचन।

५. अिन्द्रियगम्य प्रत्येक विषयका निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण है; अनुमान तीन प्रकारका है; अिन तीनोंमें चिह्न और चिह्नयुक्त पदार्थ होते हैं;[५] और श्रद्धेय श्रुतिको आप्तवचन कहते हैं।

६. स्थूल पदार्थोंका निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाणसे होता है; अतीन्द्रिय पदार्थोंका अनुमानसे और अिससे भी जो सिद्ध न हो सकें, अुन परोक्ष पदार्थोंका निश्चय आप्त-शास्त्रसे होता है।

७. अति दूर हो, अति पास हो, अिन्द्रियाँ सदोष हों, मनकी स्थिति ठीक न हो, अति सूक्ष्म हो, मन अन्यत्र लगा हो, बलवान कारणोंसे अिन्द्रियाँ चौंधिया गअी हों, अेकत्र हो गया हो (तो प्रतीति नहीं की जा सकती)।

८. सूक्ष्मताके कारण जो प्रतीति नहीं हो सकती, अुसका कारण (प्रधानका) अभाव नहीं; क्योंकि अुसके कार्योंसे अिसकी प्रतीति होती है। महत् आदि अिसका कार्य है; वह प्रकृतिके जैसा भी है और अुससे भिन्न प्रकारका भी है।

९. क्योंकि (१) अगर कार्य असत् होता, तो वह पैदा न हो सकता (किन्तु यह तो पैदा होता है); (२) फिर अुसे अुपादान[६] की ज़रूरत पड़ती है; और (३) हर अेक (पदार्थ) से हर अेक (पदार्थ) पैदा नहीं होता, बल्कि जो योग्य हो वही पैदा होता है; और (४) जो होने योग्य हो, अुसे ही पैदा कराया जा सकता है, तथा (५) वह (कार्य) कारणके स्वभाव अपनेमें धारण किये होता है। अिसलिअे कार्य सत् है।

१०. व्यक्त कारण-युक्त, अनित्य, अव्यापी, क्रियावान, अनेक, (अपने कारण पर) अवलम्बित, कारण-निर्देशक-चिन्हरूप अवयववान, और परतंत्र है; अव्यक्त अिससे अुलटे लक्षणोंवाला है।

---

५. अुदाहरण: धुअेंसे जब अग्निका अनुमान करते हैं तो वहाँ धुआँ चिह्न है और अग्नि चिह्नयुक्त पदार्थ है। अिस चिह्न परसे चिह्नयुक्तका अनुमान होता है।

६. जिस तरह घड़ेके लिअे मिट्टीकी ज़रूरत पड़ती है, अुसी तरह प्रत्येक कार्यके लिअे किसी न किसी अुत्पादक वस्तुकी ज़रूरत पड़ती है।

११. त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय बननेवाला, सबके लिअे अुपलब्ध, अचेतन, प्रसवधर्मी — ये व्यक्त तथा प्रधान दोनोंके धर्म हैं: पुरुष अिससे अुल्टा है।

१२. प्रीति, अप्रीति और विषादवाले, प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमके प्रयोजनवाले, परस्पर अभिभव, आश्रय, अुत्पत्ति और सहचारकी वृत्ति रखनेवाले — ये गुण हैं।

१३. लघु, प्रकाश-युक्त और अिष्ट सत्त्वगुण है, प्रेरक और चल रजोगुण है, गुरु और आवरण-रूप तमोगुण है; जैसे दियेमें तेल, बत्ती आदि प्रकाशहीन वस्तुओंसे प्रकाश पैदा होता है, अुसी तरह पुरुषके प्रयोजनके लिअे अिन गुणोंकी वृत्तियाँ हैं।

१४. अविवेकता आदि (ग्यारहवीं कारिकामें बताये) धर्म तीन गुणोंसे ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि पुरुषमें अुनका अभाव है। कार्यमें कारणके गुण रहते हैं, अिसीसे अव्यक्त भी सिद्ध होता है।[७]

१५–१६. भेद परिमिति-युक्त होते हैं अिसलिअे, अुनका समन्वय होता है अिसलिअे, शक्तिके कारण, प्रवृत्तिके कारण, कारण-कार्यका विभाग होता है अिसलिअे, और नानारूप कार्योंवाले (प्रधानमें) विभागका अभाव है अिसलिअे कारण अव्यक्त है; और (वह) तीन गुणों द्वारा, अुनके समुदाय द्वारा, (पानी जैसे भिन्न भिन्न वृक्षोंमें भिन्न भिन्न स्वाद पैदा करता है अिसी तरह) परिणामों द्वारा, और प्रत्येक गुणके भिन्न भिन्न आश्रय द्वारा (विविध प्रकारसे) प्रवर्त्तता है।

१७. (प्रकृतिके तत्त्वोंका) मेला किसी दूसरे (पुरुष)के लिअे होनेके कारण, त्रिगुण आदि (ग्यारहवीं कारिकाके) धर्मोंसे अुल्टे धर्मवाला होनेके कारण, अधिष्ठान रूप होनेके कारण, भोक्तापनका भाव होनेके कारण, और कैवल्यके लिअे (प्रधानकी) प्रवृत्ति होनेके कारण, पुरुषका अस्तित्व सिद्ध होता है।

---

७. अव्यक्त प्रधानके बिना यह सब नहीं हो सकता — यही प्रधानके अस्तित्वका प्रमाण है।

१८. जन्म, मरण और अिन्द्रियोंकी भिन्न भिन्न व्यवस्था होनेके कारणं, अिन सबकी अेक साथ प्रवृत्ति न होनेके कारण, अेवं त्रिगुणसे अुल्टे धर्म होनेके कारण पुरुष अनेक हैं।

१९. फिर, अिन्हीं विपरीत धर्मोंके कारण पुरुषका साक्षीपन भी सिद्ध होता है; अुसी तरह अुसकी केवलता, मध्यस्थता, द्रष्टापन और अकर्त्तापन भी।

२०. अिस कारणसे, अुसके संयोगके फल स्वरूप महत् आदि अचेतन होते हुअे भी चेतन जैसे (दिखाअी देते) हैं; और पुरुष अुदासीन होते हुअे भी और कर्तापन गुणोंका होते हुअे भी, कर्ता जैसा हो जाता है।

२१. पुरुषका (प्रधानके) दर्शनके लिअे, और प्रधानका (पुरुषके) कैवल्यके लिअे, अन्ध-पंगु-न्याय जैसा, दोनोंका संयोग है: अुससे सृष्टिकी रचना है।

२२. प्रकृतिसे महान्, अुससे अहंकार, अुससे सोलह तत्त्वोंका समुदाय, अुन सोलहके पाँचमेंसे फिर पाँचभूत — (अिस तरह अुत्पत्तिका क्रम है)।

२३. निश्चय करनेका धर्म रखनेवाली बुद्धि है; ज्ञान, वैराग्य और अैश्वर्य ये अुसके सात्विक रूप हैं; अिससे अुल्टे (अज्ञान, राग और अनैश्वर्य) लक्षण तामस रूप हैं।

२४. अहंकार का लक्षण अभिमान है: अिससे दो तरह सृष्टिकी रचना होती है: (१) ग्यारह (अिन्द्रियों)का समूह और (२) पाँच तन्मात्राका समूह।

२५. अहंकारकी सात्विक विकृतिसे ग्यारहका समूह हुआ है; तामसमें से भूतोंकी तन्मात्रा हुअी है; रजोगुणमें से दोनों होते हैं। (रजोगुण योद्धा-चहुत दोनोंमें रहता है।)

२६. ज्ञानेन्द्रियाँ — चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा हैं; वाणी, हाथ, पाँव, मलोत्सर्गकी और गुह्येन्द्रिय — ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

२७. दोनों (प्रकारकी अिन्द्रियों)से युक्त, संकल्प धर्मयुक्त मन (११वीं) अिन्द्रिय है; साधर्म्यके कारण अिसे अिन्द्रिय ही कहना

चाहिये। गुणोंके खास प्रकारके परिणामोंके कारण अिन्द्रियोंमें विविधता और बाह्य-भेद हैं।

२८. शब्दादिक पाँच विषयोंका ज्ञान (क्रमशः) पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियाँ (विशेषतायें) हैं; बोलना, लेना, चलना, मल-त्याग और सम्भोग— ये पाँच कर्मेन्द्रियोंकी विशेषतायें हैं।

२९. (महान्, अहंकार और मन ये तीन मिलकर अन्तःकरण है) प्रत्येक अन्तःकरणके जो खास धर्म हैं, वे हरअेककी विशेषता हैं। प्राण आदि पाँच वायुअें अिनका सामान्य धर्म है।

३०. दृश्य सृष्टिमें महान्, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अेक साथ अथवा क्रमशः अुठती हैं; अदृश्यमें तीन अन्तःकरणोंकी ही वृत्तियाँ अिस तरह अुठती हैं।

३१. पुरुषके अुपयोगके लिअे ही, (वह प्रयोजन पूर्वविदित ही होनेसे, मानो मनोगत पहलेसे ही मालूम हो, अिस तरह), परस्पर सहयोगसे वे सब अपना अपना व्यापार करते हैं; कोअी दूसरा अुनसे काम नहीं करवाता।

३२. तेरह अिन्द्रियोंका समूह, आहरण, धारण और प्रकाशनका साधन है। अिस प्रकारका आहरण, धारण, प्रकाशन अुनका कार्य है।

३३. तीन प्रकारका अन्तःकरण व दस प्रकारका बाह्यकरण है; अिनमेंसे दस तीनका विषय (साधन) है। बाह्य अिन्द्रियोंका व्यापार वर्तमान कालमें ही होता है; अन्तःकरणका व्यापार तीनों कालमें चलता है।

३४. अिन्द्रियोंमेंसे पाँच महाभूत व तन्मात्रायें ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं; वाणीका विषय है शब्द; और शेष चार कर्मेन्द्रियोंके विषय पाँच महाभूत ही हैं।

३५. अहंकार और मन-सहित बुद्धि सब विषयोंको ग्रहण करती है, अतः शेष अिन्द्रियाँ त्रिविध अन्तःकरणके द्वार हैं।

३६. ये सब अिन्द्रियाँ, दीपककी तरह, अेक-दूसरेसे विलक्षण और विशेष गुणयुक्त हैं। वे पुरुषके समग्र अर्थ (प्रयोजन) पर प्रकाश डालकर अुसे बुद्धिके सामने लाती हैं।

वही, बादमें प्रधान और पुरुषके बीचका सूक्ष्म विवेक कर दिखाती है।

३७. बुद्धि पुरुषके सब अुपयोगोंको सिद्ध कर देती है अिसलिअे

३८. तन्मात्रायें अविशेष कहलाती हैं। अुन पाँचमेंसे पाँचभूत होते हैं; अुन्हें विशेष कहते हैं; वे शान्त, घोर और मूढ़, तीन प्रकारके हैं।

३९. सूक्ष्म (शरीर), माँ-बापसे अुत्पन्न शरीर और महाभूत — अिस तरह तीन प्रकारके विशेष हैं; अिनमेंसे सूक्ष्म चिरंतन है और माँ-बापसे अुत्पन्न मरणको पाता है।

४०. पहले ही (सृष्टिके आरंभमें) अुत्पन्न हुआ, आसक्ति-हीन, चिरंतन, महत्से लेकर मात्राओं तकके तत्त्वोंसे युक्त, अुपभोगके लिअे अयोग्य, भावोंसे भरा,[८] लिंग (शरीर) संसृतिको प्राप्त होता है।

४१. जिस तरह आश्रयके बिना चित्र, अथवा स्थूल पदार्थके बिना छाया नहीं हो सकती, अुसी प्रकार विशेष (महाभूत तथा माँ-बापसे अुत्पन्न शरीर) के आश्रयके बिना लिंग-शरीर नहीं रहता।

४२. पुरुषके लिअे प्रवृत्ति करनेवाला लिंग-शरीर निमित्त (कारण) और नैमित्तिक (परिस्थिति) के प्रसंगसे तथा प्रकृतिकी विभुताके योगसे नटकी तरह बरतता है।

४३. जन्मसिद्ध भाव प्राकृतिक हैं; धर्म आदिके प्रयत्नसे अुत्पन्न भाव वैकृतिक हैं; स्थूलधर्म अिन्द्रियाश्रित हैं; और मांस आदिके धर्म कार्य (शरीर) के आश्रित हैं।

४४. धर्मसे अूर्ध्वगति, अधर्मसे अधोगति, ज्ञानसे मोक्ष और अज्ञानसे बन्ध होता है।

४५. वैराग्यसे प्रकृतिका लय होता है; राजस आसक्तिसे संसार होता है; अैश्वर्यसे निर्विघ्नता मिलती है, और अनैश्वर्यसे विघ्न होता है।

४६. अिस प्रकारका संसार विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि-युक्त मालूम होता है। गुणोंकी विषमताके कारण सब मिलकर अिसके पचास भेद होते हैं।

---

८ धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, अैश्वर्यानैश्वर्य — ये भाव हैं।

४७. विपर्ययके पाँच भेद हैं, अिन्द्रियोंकी खामीके कारण (अुत्पन्न) अशक्तिके अट्ठाअीस भेद हैं; तुष्टि नौ प्रकारकी है; और सिद्धि आठ प्रकारकी।

४८. (पाँच विपर्ययके नाम — तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र);[९] तमःके आठ प्रकार हैं,[१०] मोहके भी अितने ही हैं,[११] महामोहके दस,[१२] तामिस्रके अठारह,[१३] और अन्धतामिस्रके अठारह।[१४]

४९. ग्यारह अिन्द्रियोंकी विकलता तथा नौ प्रकारकी तुष्टि और आठ प्रकारकी सिद्धिमें कमी (खामी) के कारण बुद्धिमें अट्ठाअीस प्रकारकी अशक्ति आती है।

५०. प्रकृति, अुपादान, काल और भाग्यके कारण चार प्रकारकी आध्यात्मिक और पाँच विषयोंके अुपभोगसे पाँच बाह्य, अिस तरह नौ प्रकारकी तुष्टि है।

५१. तर्क, शब्द, अध्ययन, तीन प्रकारके दुःखजय, मित्रप्राप्ति और दान — ये आठ सिद्धियाँ हैं; अिस सिद्धि पर तीन अंकुश हैं— विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि।

५२. धर्माधर्मादि भावके बिना लिंग-शरीर सम्भव नहीं; और लिंग-शरीर बिना भाव सम्भव नहीं; अतः लिंग-शरीर तथा भाववान (स्थूल शरीर) रूपी दो प्रकारका अुत्पत्ति-क्रम है।

---

९. ये पाँच विपर्यय और योगदर्शनमें बताये अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश अेक ही हैं — अैसा टीकापरसे मालूम होता है।

१०. प्रधान्, महत्, अहंकार और पंच तन्मात्रा, अिन आठमें आत्मबुद्धि तमः है।

११. अिसीमें अस्मिता होना आठ प्रकारके मोह हैं।

१२. पाँच विषयों (दिव्य तथा अदिव्य भेदसे दस)में राग दस महामोह हैं।

१३. अुपरके आठ+दसमें द्वेष-बुद्धि अठारह तामिस्र हैं।

१४. अिन अठारह विषयोंमें भय अठारह अन्धतामिस्र हैं।

५३. देवसृष्टिके आठ, तिर्यक् योनिके पाँच, और मनुष्यका अेक प्रकार — अिसमें भौतिक सृष्टिका समास हो जाता है।

५४. अूर्ध्वलोक सत्वप्रधान, नीचेका लोक तमःप्रधान, और ब्रह्मासे स्तंब पर्यंतका मध्यलोक रजःप्रधान है।

५५. अिन सबमें चेतन-पुरुष जरामरणका दुःख भोगता है; जब तक लिंग-शरीर नहीं छूटता तब तक; अतअेव दुःख स्वभावतः ही है।

५६. अैसा, महत्से लेकर विशेष भूत तकका प्रकृतिका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिअे, मानो स्वार्थके लिअे हो अिस तरह परार्थके लिअे है।

५७. बछड़ेकी वृद्धिके लिअे जैसे अचेतन दूध बहता है, अुसी तरह पुरुषके मोक्षके लिअे प्रधानकी प्रवृत्ति है।

५८. जिस तरह लोग कुतूहलकी शान्तिके लिअे क्रियामें प्रवृत्त होते हैं, अुसी तरह पुरुषके मोक्षके लिअे प्रधानकी प्रवृत्ति है।

५९. नर्तकी जिस तरह रंगभूमिपर अपनी कला दिखाकर नाचसे निवृत्त होती है, अिसी तरह प्रकृति अपनेको पुरुषके सामने प्रकट करके निवृत्त होती है।

६०. अनुपकारी और गुणहीन सत्ता-मात्र पुरुष पर अुपकार करनेवाली, गुणवती प्रकृति, नाना प्रकारके अुपायोंसे, अुसके लिअे अपार्थ (निष्काम) श्रम करती है।

६१. मेरे मतानुसार प्रकृतिसे अधिक कोमल स्वभाववान् कोअी नहीं है; "मैं देखी गअी हूँ" अैसा समझते ही वह फिर पुरुषको दर्शन नहीं देती।

६२. अिसलिअे प्रकृतिसे किसीको न बन्धन, न मोक्ष, न संसृति होती है; नाना प्रकारके आश्रयवाली प्रकृति ही बँधती है, मुक्त होती है और संसृतिको प्राप्त होती है।

६३. प्रकृति खुद ही अपनेको सात रूपोंसे बाँधती है और फिर वही पुरुषके लिअे अपनेको अेक रूपसे छोड़ती है।[१५]

६४. अिस प्रकार तत्त्वाभ्याससे, 'मैं नहीं हूँ,[१६] मेरा नहीं है, मुझे मैं-पन नहीं है,' अैसा परिशेष-हीन (सम्पूर्ण), विपर्यय-रहित होनेके कारण विशुद्ध, केवल ज्ञान अुत्पन्न होता है।

६५. अिस प्रकार प्रयोजनवश प्रवृत्ति होनेसे प्रसव-धर्मसे निवृत्त और सात भावोंसे पार हुअी प्रकृतिको स्वच्छ पुरुष दर्शककी तरह देखता है।

६६. 'मैंने अिसको देख लिया है' अिस कारणसे पुरुष और 'मैं देख ली गअी' अिस कारणसे प्रकृति दोनों विराम पाते हैं, और फिर दोनोंका संयोग होते हुअे भी संसृतिका प्रयोजन नहीं रहता।

६७. अिसके बाद, सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जानेके कारण हेतु बिना ही धर्मादिककी प्राप्तिके लिअे संस्कार-वश होकर (कुम्हारके) चाककी तरह शरीर रहता है।

६८. फिर शरीरका अन्त होनेपर प्रधानकी प्रवृत्तिका प्रयोजन समाप्त होकर अुसके निवृत्त हो जानेसे दोनों अेकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य प्राप्त करते हैं।

६९. परम ऋषि (कपिल) ने अिस प्रकार पुरुषार्थका ज्ञान बताया है। अिस ज्ञानमें प्राणियोंकी स्थिति, अुत्पत्ति और प्रलयका विचार किया गया है।

७०. यह श्रेष्ठ और पवित्र ज्ञान अिस मुनिने अनुकम्पापूर्वक आसुरीको दिया; आसुरीने पंचशिख मुनिको बताया; और अुसने तंत्रोंमें अुसका विस्तार किया।

७१. अिस तरह शिष्य-परम्परासे आया यह ज्ञान अुदार-बुद्धि अीश्वरकृष्णने सिद्धान्तको अच्छी तरह समझ कर संक्षिप्त रूपसे आर्या छन्दमें रचा।

---

१५. कारिका ४०में बताये आठ भावोंमेंसे सात भाव बन्धनकारक हैं, और ज्ञान मोक्षदायक है।

१६. मतअेव 'मैं कुछ नहीं करता' अैसा अर्थ किया है।

सांख्यकारिकाका अनुवाद

७२. समग्र साठों तंत्रोंमें गर्भित पूरा अर्थ अिन ७० आर्याओंमें आ गया है, सिर्फ अुस पर रची आख्यायिकायें तथा अुलट-पुलट वाद छोड़ दिये गये हैं ।

सांख्यकारिकाके अनुसार तत्त्वक्रम

पुरुष[1] × प्रकृति[2]

महत् अथवा बुद्धि[3]

अहंकार[3]

सत्त्व—राजस   तमो—राजस

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ[4] पाँच कर्मेन्द्रियाँ[4] मन[4]

शब्द स्पर्श रूप रस गंध

(तन्मात्रा)[3]

आकाश[4] वायु[4] तेज[4] जल[4] पृथ्वी[4]

जड़सृष्टि

लिंग शरीर   स्थूल शरीर

जीवसृष्टि

---
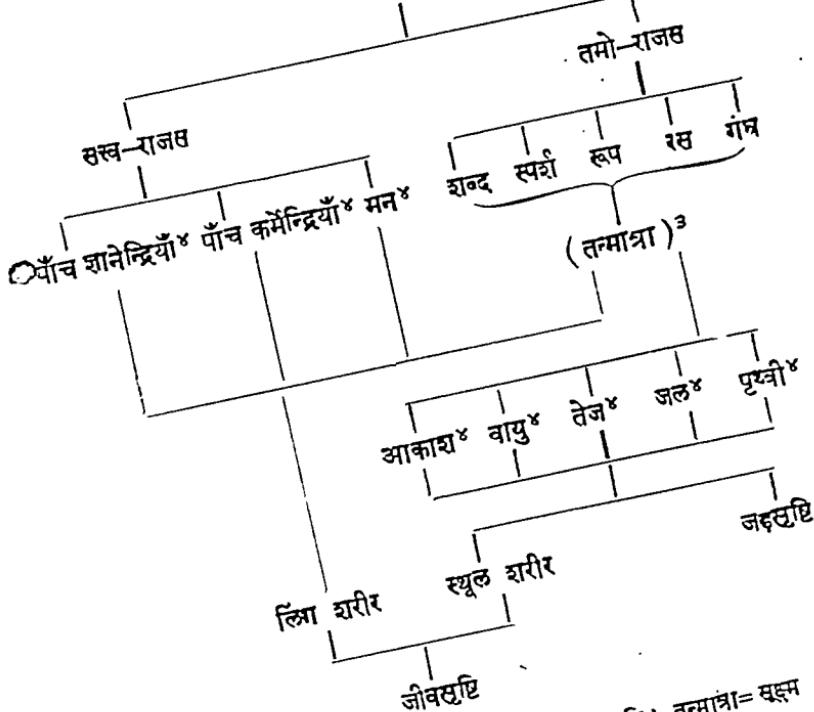
१. न प्रकृति, न विकृति,
२. प्रकृति ।
३. प्रकृतिविकृति । तन्मात्रा= सूक्ष्म महाभूत
४. विकृति

परिशिष्ट २

आत्मा-विषयक मतोंपर संक्षिप्त टिप्पणी

१. सेश्वर सांख्य: सांख्य–दर्शनने पुरुष अगणित माने हैं; अीश्वर-विषयक विचार नहीं किया। प्रत्येक पुरुषको स्वतंत्र माना है। परन्तु विश्वमें अेक-जैसा नियमन व परस्पराश्रय देखा जाता है। अतः सब पुरुषों सहित विश्वमें सूत्ररूपी कोअी अेक तत्त्व होना चाहिये; वही अीश्वर है। पुरुषोंका भी सूत्रधार; सब ज्ञानशक्तिका बीज-रूप; परन्तु पुरुषकी तरह ही अकर्ता और अलिप्त।

२. शांकर मत — ब्रह्मका लक्षण तत्त्वतः सांख्यकृत पुरुषकी व्याख्या जैसा है। किन्तु सांख्यमें अनेक पुरुष हैं, जब कि शांकर वेदान्तमें अेक ब्रह्म है। सृष्टिकी अुत्पत्ति, स्थिति, लय, तथा बन्ध और मोक्ष — भ्रमजन्य आभास: सांख्यकी तरह ब्रह्म निरन्तर शुद्ध, बुद्ध, और मुक्त; भ्रमका कारण प्रत्यक्-चैतन्यमें अज्ञान और अीश्वर-पुरुषमें ज्ञान-पूर्वक अुपाधि। अज्ञान अथवा अुपाधि ही माया अथवा प्रकृति। प्रत्यक्-चैतन्य तथा अीश्वरके भेदकी प्रतीति भी मायकृत आभास ही है। अिस मायाका स्वरूप अगम्य है। अिसे है अैसा भी नहीं कह सकते; नहीं कहें तो प्रतीत होती है — अतअेव अनिर्वचनीय। अिसका भास अनादि कालसे होता आया है। सारांश, ब्रह्म-तत्त्वके सम्बन्धमें निश्चयात्मक सिद्धान्त, परन्तु प्रकृति अथवा मायाके सम्बन्धमें संदिग्धता। अर्थात् अेक तत्त्व तो है ही, पर दूसरा सिद्ध होता है या नहीं?

३. **विशिष्टाद्वैत** : (१) ब्रह्मके लक्षणके विषयमें अूपरके दोनोंसे तात्त्विक भेद : वह अकर्ता और ज्ञानमात्र सत्ता नहीं बल्कि ज्ञाता और कर्ता है। फिर वह समग्र गुणोंका भण्डार है; गुणहीन नहीं, न गुणोंका केवल बीजरूप ही है।

(२) अिसके अलावा, चित्तहीन और चित्तयुक्त दो प्रकारकी सृष्टिको क्रमशः जड़ और चित् प्रकृति कहा है। अैसी जड़चिदात्मक प्रकृति और प्रत्यक्-पुरुषोंका आश्रयदाता अुनका आत्मा अथवा शरीरी-रूप जो तत्त्व वही ब्रह्म। पुरुष भी ज्ञान-शक्ति नहीं बल्कि ज्ञाता और कर्ता। अिस तरह प्रकृति, प्रत्यक्-पुरुष और ब्रह्म अिन तीन तत्त्वोंकी तीन स्वतन्त्र अनादि और अविनाशी पदार्थोंके रूपमें मान्यता। पहले दोका और ब्रह्मका सम्बन्ध शरीर-शरीरी जैसा। (अिसके साथ गीताके मतकी तुलना कीजिये — प्रकरण १५ में।)

४. **शुद्धाद्वैत** : ब्रह्म-विषयक विशिष्टाद्वैत-मतकी व्याख्याका पहला भाग मान्य; दूसरे भागमें भेद; प्रकृति तथा प्रत्यक्-चैतन्य अनादि भी नहीं और अविनाशी भी नहीं, स्वतंत्र तत्त्व (पदार्थ) भी नहीं। ब्रह्म अपनी अिच्छासे अपने विनोदके लिअे प्रकृति तथा जीवरूप होता है। और अपनी अिच्छासे किसीको या सबको फिर अपनेमें समेट लेता है। अपनी स्वतन्त्र अस्मिताका और अुसके फलस्वरूप कर्ता-भोक्तापनका विचार ही अज्ञान और दुःखका कारण है; वस्तुतः ब्रह्म ही कर्ता और भोक्ता है।

५. **द्वैत** : विशिष्टाद्वैतका पहला भाग मान्य। जीवात्माका स्वतंत्र, अनादि, अविनाशी अस्तित्व भी मान्य। परन्तु जीव ब्रह्म नहीं, ब्रह्मके शरीरका घटक भी नहीं, किन्तु क्रमशः विकास पाकर ब्रह्मके साधर्म्यको पानेवाला; साधर्म्य ही ब्रह्मके साथ निकटता है। ब्रह्म जीवका ध्येय और अुपास्य आदर्श।

जैन : आत्माकी व्याख्या विशिष्टाद्वैतादि मतोंके जीव जैसी। और बातोंमें सांख्य-मतकी तरह।

सिंहावलोकन

१. पुरुष निर्गुण ज्ञानमात्र सत्ता? या ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता और किसी प्रकारके गुणवाला? यह विचार तथा अीश्वर-विचार ये दो बातें सब वादोंके मूलमें हैं। वादके वाद अंशतः पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध निश्चित करनेसे सम्बन्ध रखते हैं और अंशतः प्रत्यक्-पुरुष और अीश्वर-पुरुषका सम्बन्ध स्थिर करनेके लिअे हैं।

२. अिन वादोंमें भिन्न भिन्न तत्त्व-चिंतकोंके अपने अवलोकन और विचारका जितना हिस्सा है, अुतना ही श्रुतियोंमें अेकवाक्यता लानेके आग्रहका भी है। माना गया है कि श्रुति-वाक्योंमें भिन्न भिन्न समयपर हुअे भिन्न भिन्न विचारकोंके स्वतंत्र या भिन्न भिन्न मत नहीं, बल्कि अेक ही मतके विचारकोंकी भिन्न भिन्न परिभाषा और भाषण-शैली है। अिस मान्यताको समस्त वैदिक वादोंमें निश्चित सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार कर लिया गया है।

३. वादियोंके दो मुख्य पक्ष बनाये जा सकते हैं: अेकमें सांख्य, सेश्वर सांख्य और शांकर-वेदान्त। अिन तीनोंमें पुरुष, अीश्वर या ब्रह्म सांख्यका बताया पुरुषलक्षण — ज्ञप्तिमात्र गुणहीन सत्ता — स्वीकृत है।

दूसरे पक्षमें जैन, द्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि आते हैं। अिनमें प्रत्यक्–पुरुष तथा अीश्वर और ब्रह्म ये ज्ञप्तिमात्र नहीं, बल्कि ज्ञाता हैं और ब्रह्म विभूतियों या गुणोंसे रहित नहीं, गुणोंका बीज भी नहीं, बल्कि गुणोंका भंडार है।

४. प्रत्यक्–पुरुषका अस्तित्व सब मानते हैं। सांख्य और जैनोंको छोड़कर दूसरे सब मतोंमें अीश्वर किसी न किसी रूपमें माना गया है। फिर अुनके सम्बन्ध बिठानेमें या जोड़नेमें शब्द और कल्पनायें बढ़ती चली गअी हैं। अिस तरह जीव, अीश्वर, माया, ब्रह्म, परब्रह्म तक अेक

तरफसे और क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष, पुरुषोत्तम, पूर्ण-पुरुषोत्तम तक दूसरी तरफसे भेद निकलते ही चले गये हैं।

५. सृष्टि अनन्त प्रकारकी है। भेदोंको खोजने लगें, तो अनन्त भेद किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक (scientist)का काम भेदोंको खोजना और विविधताको जानना है। तत्व-चिंतक (philosopher) का काम भेदोंका समाहार करना है। जिन दो भेदोंका समाहार न किया जा सके, अुन्हींको वह स्वतंत्र तत्त्वोंके रूपमें स्वीकार करता है।

अिस प्रकार सांख्यने भेदोंको दो तत्त्वों पर लाकर छोड़ दिया। फिर अिन दोका भी समाहार करनेकी ओर वेदान्तकी दृष्टि गअी। परन्तु अिसी बीच वैज्ञानिकोंने अीश्वर-पुरुषका भेद ढूंढ़ निकाला,* और वेदान्तने ब्रह्ममें अुसका समाहार कर लिया।

परन्तु बीचमें पुरुष (और अीश्वर) की कल्पना ही बदल गअी। ज्ञान-शक्तिकी जगह वह ज्ञाताके रूपमें माना जाने लगा। यही आरोपण ब्रह्ममें हुआ।

ये दो तत्त्व-भेद नहीं, बल्कि मतभेद हैं। अिनका समाहार करनेकी ज़रूरत ही नहीं। अिसमें तो अितना ही विचार करनेकी ज़रूरत है कि कौनसी व्याख्या सही है और कौनसी गलत। परन्तु तत्त्व-चिंतकोंने अुसका भी समाहार करना अपना कर्त्तव्य माना।

अिसका परिणाम यह हुआ कि समाहारके प्रयत्नमें भेद अुल्टे बढ़ गये। ब्रह्म-विषयक दो व्याख्याओं परसे ब्रह्ममें ही सगुण और निर्गुण अैसे दो भेद पड़ गये।

परन्तु अिस विचारमें भी ब्रह्मकी तत्त्वरूपमें ही व्याख्या हुअी। परन्तु ब्रह्मका अेक तत्त्व अथवा पदार्थके रूपमें विचार करना भक्तको अरुचिकर मालूम हुआ। तत्त्वमें भक्ति नहीं पैदा हो सकती। यह शब्द

* यहाँ यह कहनेका मतलब नहीं है कि वैज्ञानिकोंने काल्पनिक भेद ढूंढ़ निकाला।

ही तटस्थताका भाव पैदा करता है। अतः रुचिकी रक्षाके लिअे तत्त्वके स्वामी परब्रह्मकी कल्पना हुअी।

अिस तरह नीचे लिखे अनुसार वृक्ष बना :

अिस तरह धीरे धीरे विज्ञान, मतभेद और रुचिकरता तीनोंका संकर हो गया।

जीवन-शोधन

[शोधनका अर्थ है अज्ञातकी खोज करना और ज्ञातका संशोधन करना]

खण्ड ६

योगविचारशोधन

१

प्रास्ताविक

पहले मैं यह कह चुका हूँ कि आत्मशोधनमें चित्तशोधन ही मुख्य है। चित्तशोधनमें दो बातोंका समावेश होता है : (१) भावनाओंकी शुद्धि और बुद्धिका विकास तथा (२) चित्तके व्यापारोंका सूक्ष्म अवलोकन —अर्थात् जब चित्त कुछ अनुभव करता है अथवा स्मरण करता है, तब अुसमें किस किस प्रकारकी क्रियायें होती हैं अिसकी जाँच। अिनमेंसे पहला विषय 'अदृश्यशोधन' के खण्डमें चर्चित हो चुका है। अुसके सिलसिलेमें चित्तके व्यापारोंका जो अवलोकन व विचार करना पड़ता है, वह धर्म-चर्चाका विषय है। अुसका भी यहाँ विचार नहीं करना है। परन्तु चित्त चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, अुसके अूपर कहे अनुसार जो सामान्य व्यापार होते हैं, अुनका सूक्ष्म अवलोकन करना योगशास्त्रका विषय है।

हमने 'चित्त और चैतन्य' नामक प्रकरणमें देखा कि चित्तकी बदौलत ही प्राणी ज्ञानवान होता है, और आत्मा तो स्वयं ही ज्ञानरूप है। अिससे आत्मा व चित्तमें बार बार अेक-रूपता लगती है और आम तौर पर लोग चित्त और आत्माका भेद नहीं समझ सकते। अिसी कारणसे अंतःकरणके लिअे 'आत्मा' शब्द भी बार बार साहित्यमें तथा बातचीतमें बरता जाता है। अब हमें चित्तका परीक्षण अिस तरह करना है कि जिससे चित्तके व्यापारोंको अलग करके अुसके पीछे परदेकी तरह स्थित ज्ञान-सत्ताका परिचय हो जाय। यह योगशास्त्रका विषय है।

तत्त्वोंका पृथक्करण सांख्यदर्शनका विषय था। अर्थात् अुसमें कुछ अंश तक अवलोकनका और अुस अवलोकन परसे क्या राय कायम की जाय, अिसका विचार था। अिससे वह वैज्ञानिक व तार्किक दो प्रकारका था। अतः यह स्वाभाविक है कि अुसमें मतभेदकी बहुत गुंजाअिश हो। फिर अुसमें 'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना' भी हो सकती है। परन्तु योगका विषय अैसा नहीं है। यह वैज्ञानिक व व्यावहारिक विषय है, अैसा कह सकते हैं। अिसमें कही बात अनुभवकी कसौटी पर सही अुतर जाय तो ही वह निरूपण सही, नहीं तो सिर्फ़ कल्पना। अिसमें यदि कहीं तत्त्वचर्चा

आ भी जाय, तो अुसे गौण ही समझना चाहिये। अिस कारण पतंजलिने अपने योगसूत्रोंमें, जो कि योगविषयक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है, तत्त्वचर्चाकी दृष्टिसे सेश्वर सांख्यकी विचारसरणी ही स्वीकार कर ली है। दूसरी कोअी तत्त्वचर्चा हो भी, तो अुसका अधिक महत्त्व नहीं है। योगसूत्रोंको समझ लेनेका महत्त्व अुनके तत्त्वदर्शनके लिअे नहीं, बल्कि अुनमें अुल्लिखित चित्त-परीक्षणके मार्गके लिअे और अुस परीक्षणके सिलसिलेमें होनेवाले अनुभवोंके अुल्लेखके लिअे है।

अिस दृष्टिसे मैंने यहाँ योगके कुछ सूत्रोंको समझानेका प्रयत्न किया है। अिसका मुख्य प्रयोजन यह है कि कुछ सूत्रोंका अर्थ जिस तरह भाष्य अथवा टीकाओंमें समझाया गया है, वह मुझे सन्तोषजनक व साधकके लिअे महत्त्वपूर्ण बातोंमें सहायक नहीं प्रतीत हुआ। अतः अिस खण्डमें मैं अुन सूत्रोंका अर्थ किस तरह लगाता हूँ, यह बताना चाहता हूँ।

पर यदि मुझे कोअी निश्चयपूर्वक यह कहे कि मेरे सुझाये अर्थ सूत्रोंमेंसे नहीं बैठते, तो मैं अुनके साथ शास्त्रार्थमें नहीं अुतर सकूँगा। अैसी अवस्थामें मेरी यही विनती है कि साधक अितना ही देखें कि मैं जो अर्थ लगाता हूँ, वैसी वस्तुस्थिति अनुभवमें आ सकती है या नहीं; और यदि सूत्रोंसे वैसा अर्थ न निकलता हो, तो अैसे सूत्र बनाये जायँ जिनसे अभीष्ट अर्थ निकले। यही कारण है कि मैं अिन अर्थोंके सम्बन्धमें दूसरे टीकाकारोंके साथ खण्डन-मण्डनमें नहीं पड़ता, सिर्फ अपना अर्थ स्पष्ट करके ही सन्तोष मान लेता हूँ।

पाठकोंसे अेक और भी विनय है। अुन्होंने अिससे पहले कुछ भाष्य, टीकायें या योग-विषयक अन्य पुस्तकें पढ़ी हों, तो अिन अर्थोंको पढ़ते समय अुन्हें भूल जानेका यत्न करें; और जहाँ कहीं अिस खण्डमें योगसूत्रोंके शब्दोंका अुपयोग हुआ हो, वहाँ अुन शब्दोंका मेरा लगाया अर्थ ठीक तरहसे समझ कर अुसी अर्थको खयालमें रखनेका प्रयत्न करें, दूसरे किसी साहित्यके रूढ़ अर्थको नहीं। नहीं तो विषय स्पष्ट होनेके बदले अुल्टे अुलझन बढ़ जानेका अंदेशा है।

जिन पाठकोंको सूत्रोंके अर्थ जाननेमें दिलचस्पी न हो और केवल ध्यानोपयोगी सूचनायें ही जानना हो, वे छोटे टाअिपका मजमून न भी

पढ़ें तो काम चल जायगा। अुनके लाभ व सुविधाके लिअे यह खण्ड खास तौर पर दो प्रकारके अक्षरोंमें छापा गया है।

अिस खण्डका मूल मसविदा मैंने अपने स्नेही और आदरणीय मित्र, गुजरात विद्यापीठ तथा पुरातत्व मन्दिरके (भूतपूर्व) अध्यापक पंडित सुखलालजीको पढ़ सुनाया था। अुन्होंने अिस विषयमें मेरे साथ चर्चा भी की थी। अुससे लाभ अुठाकर मैंने मूलमें बहुत-कुछ घटा-बढ़ी भी की है और अुसे अिस स्वरूपमें रखा है। अुनके अिस परिश्रमके लिअे मैं अुनका कृतज्ञ हूँ।

योगखण्डका सार रूप अेक सूत्रात्मक प्रकरण भी अन्तमें जोड़ दिया है, जो आशा है पाठकोंके लिअे अुपयोगी साबित होगा।

सांख्यकारिकायें जिन्होंने पढ़ी हैं, अुन्होंने देखा होगा कि अुनमें मुख्य तत्त्वोंके अलावा दूसरी कअी वातोंका भी समावेश हुआ है। किसी शास्त्रीय ग्रन्थके लिअे भले ही वे वातें आवश्यक समझी जायँ परन्तु सर्व-साधारणके लिअे अुनकी जरूरत नहीं है। अैसी बातोंको मैंने छोड़ दिया है। अिसी तरह योग-सूत्रोंमें भी अिस तरहकी कअी बातोंका मैंने विचार नहीं किया है। जितने सूत्र चित्त-परीक्षणके लिअे महत्त्वके हैं, अुन्हींका मैंने विचार किया है।

सांख्य-मत-शोधनमें मुझे मूल दर्शनकारके साथ ही कुछ विचार-भेद दिखलाना पड़ा है। यहाँ योगसूत्रोंके साथ मेरा कोअी झगड़ा नहीं है, बल्कि अुनके समझानेकी पद्धति पर कहीं कहीं आपत्ति है। मुझे वह ढंग ठीक नहीं मालूम होता, अितना ही मेरा कहना है। 'मालूम होता है' अिस शंका-दर्शक शब्द-प्रयोगका अितना ही कारण है कि भाष्यकारों व टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थ प्राचीन व परम्परागत हैं। अुनके भाषा व व्याकरण-ज्ञानके सामने मेरा ज्ञान किसी गिनतीमें नहीं है। अतः मैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि अुनके किये अर्थ पतंजलिकी धारणाके विपरीत हैं। अिसमें तो अनुभवी लोगोंका मत ही आखिरी निश्चयात्मक सिद्धान्त माना जा सकता है।

२

योगका अर्थ

योगकी व्याख्या

दूसरे सूत्रमें[1] योगकी व्याख्या अिस प्रकार की है — 'योगका अर्थ है चित्तवृत्तिका निरोध'। चित्तकी वृत्तिको अुसका व्यापार करनेसे रोकना योग कहलाता है।

'युज्' (जुड़ना) धातुसे 'योग' शब्द बना है। अतः आम तौरपर अुसका अर्थ किया जाता है किसी विषयके साथ चित्तको जोड़ना। और 'समाधि' शब्दको अुसका पर्यायवाची माना जाता है।[2] मेरा खयाल है कि जो लोग पतंजलिके योगसे भिन्न प्रकारके योगका विचार करते हैं, वे भी योग व समाधिको अेक ही अर्थमें लेते हैं।

परन्तु पतंजलिने 'योग' व 'समाधि' शब्दोंका खास अर्थमें ही प्रयोग किया है, और 'समाधि' को योगके आठ अंगोंमेंसे अेक बताया है,[3] और जहाँ तक मैंने समझा है, सारे ग्रन्थमें अुन्होंने अिसी अर्थका निर्वाह किया है।

अब यह बात अलग है कि पतंजलि-ग्राह्य अर्थ 'युज्' धातुसे सिद्ध हो सकता है या नहीं।[4] चाहें तो अुसके लिअे भले ही पतंजलिको दोष दिया जाय।

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १–२ ॥

२. 'योगः समाधिः' योगभाष्य, पहले सूत्रपर।

३. २–२९।

४. अेक टीकाकार कहते हैं कि आत्मा अथवा पुरुषका अपने स्वरूपके साथ योग— चित्तवृत्तिके निरोधका परिणाम होनेके कारण 'योग' शब्दका यह अुपयोग धातुके अन्वर्थमें ही है। यह तो ठीक है, परन्तु जो यह कहते हैं कि आत्माका स्वरूपसे वियोग कभी हो ही नहीं सकता, अुनकी दृष्टिसे यह अधिक नहीं तो भाषा शैथिल्य अवश्य है; परन्तु अिसे अक्षम्य नहीं कह सकते।

परन्तु योगसूत्रोंका अध्ययन करते समय 'योग'का अर्थ चित्तवृत्तिका निरोध ही मानना चाहिये और 'समाधि' शब्दका वही अर्थ लेना चाहिये जो अुसकी व्याख्यासे निकलता हो।*

तो अिसका अर्थ यह हुआ कि हमें 'योग' व 'समाधि'को समझनेके लिअे गहराअीमें अुतरना पड़ेगा।

चित्तवृत्ति माने क्या?

परन्तु योगको चित्तवृत्तिका निरोध कहा है, अतः पहले यह पता लगाना होगा कि चित्तवृत्ति किसे कहते हैं। क्योंकि पतंजलिको समझनेके लिअे 'चित्त' व 'वृत्ति' शब्द भी अेक खाअीकी तरह हैं।

वृत्ति

'वृत्ति' शब्द हिन्दीमें काफी रूढ़ है, अतः हम अक्सर किसी रूढ़ अर्थमें अिसे समझ लेनेकी भूल कर बैठते हैं। 'वृत्ति' शब्द कुछ अनिश्चितताके साथ अिच्छा,[1] भावना,[2] आशय,[3] आवेग,[4] स्वभाव,[5] बुद्धिकी स्थिति,[6] आदि अर्थोंमें बरता जाता है। अैसे अनिश्चित अर्थोंको अगर ध्यानमें लावें, तो वृत्तियाँ असंख्य मालूम पड़ती हैं। अिसलिअे जब हम यह देखते हैं कि पतञ्जलिने सिर्फ पाँच ही वृत्तियाँ गिनाअी हैं, तो हमें ज़बरदस्त आश्चर्य होता है।

---

*. तदेव (ध्यानमेव) अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। ३-३॥ (ध्यान ही जब सिर्फ पदार्थका ही दर्शानेवाला और स्वरूपशून्य जैसा हो जाय, तब वह समाधि कहलाती है।)

१. जैसे कि, मेरी जानेकी वृत्ति नहीं होती।

२. जैसे कि, हिंसावृत्ति, दयावृत्ति, अित्यादि।

३. जैसे कि, शुद्धवृत्ति, मलिनवृत्ति, अित्यादि।

४. जैसे कि, मैं लिखने बैठा हो था कि अेकाअेक मुझे आपसे मिलनेकी वृत्ति हो आअी।

५. जैसे कि, सात्त्विकवृत्ति, पापीवृत्ति, अित्यादि।

६. जैसे कि, संशयवृत्ति, निःशंकवृत्ति, तटस्थवृत्ति, अज्ञेयवृत्ति, अित्यादि।

चित्त

परन्तु अिसका कारण तो यह है कि 'चित्त' शब्दकी भी हमारी समझ अनिश्चित है। सामान्य बोलचालमें हम चित्तमें भावना, चिन्तन, प्रेरणा आदिका समावेश करते हैं। वेदान्तके पंचीकरणमें अन्तःकरणकी चिन्तनकारिणी शक्तिको चित्त कहा है, और अन्तःकरणके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (तथा कुछ लोगोंके मतमें स्मृति भी) अैसे चार (या पाँच) भेद किये गये हैं। परन्तु पातञ्जल योगमें चित्त और बुद्धिमें कोअी भेद नहीं समझा जाता है और अुसका अर्थ होता है अन्तःकरणकी निश्चय-कारिणी शक्ति। और यह अर्थ सांख्यदर्शनके अनुसार है।[1]

हमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत्की क्रियाओंका और सञ्चार द्वारा अपने शरीरकी क्रियाओंका निश्चय होता है। अिस निश्चयका साधन हमारा चित्त या बुद्धि है। पतञ्जलिके अर्थमें समस्त भावना, आशय, अिच्छा, आवेग आदि चित्त या बुद्धिकी 'वृत्तियाँ' नहीं, बल्कि 'संचार' हैं[2]; वे चित्तमें अुठती हुअी क्रियाओंके संस्कार हैं। चित्तमें वृत्ति अुठनेसे अिन संस्कारोंका परीक्षण और अुनके विषयमें निश्चय होता है।

वृत्तिके भेद

यह चित्त अथवा बुद्धि — यदि अुसका व्यापार अधूरा न रहा हो तो — पाँच प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान अुपजाती है;

१. प्रमाणभूत अथवा वास्तविक निश्चय;

२. विपर्ययी अथवा भ्रमयुक्त, फिर भी अुस समयमें पक्का लगनेवाला निश्चय;

३. विकल्पात्मक[3] — परन्तु वहाँ भी अुस समय तो पक्का — निश्चय;

४. निद्रा थी अैसा निश्चय; अथवा

५. केवल स्मरणका निश्चय।

---

१. देखिये सांख्यकारिका २३ (खण्ड ५, परिशिष्ट १में); बुद्धि अर्थात् अध्यवसाय, निश्चय।

२. संचारके अर्थके लिअे देखिये खण्ड ५, प्रकरण १०।

३. अिसके अर्थकी चर्चा आगे आवेगी।

जब बुद्धिका व्यापार पूरा हो जाय, तो अुसके फलस्वरूप कोअी अेक निश्चय प्रकट होना चाहिये।[1]

अिन सबमेंसे स्मृति दूसरी चार वृत्तियोंमें अन्तर्भूत भी है। स्मृतिके परदे पर दूसरी चार वृत्तियोंके चित्र बनते हैं। परन्तु दूसरी किसी भी वृत्तिका चित्र न बनते हुअे केवल स्मृतिका ही निश्चय करके बुद्धिका व्यापार पूर्ण हो सकता है, अतः अुसे जुदा वृत्ति भी माना गया है।

---

१. बुद्धिका व्यापार निरोधसे अधूरा रहता है। यह निरोध या तो योगाभ्याससे प्रयत्नपूर्वक हो सकता है अथवा आकस्मिक कारणोंसे नैसर्गिक हो सकता है।

यहाँ यह न समझना चाहिये कि जहाँ निश्चयका अभाव है, वहाँ बुद्धिका व्यापार अधूरा है। क्योंकि वहाँ 'निश्चयका अभाव है' यह निश्चित ज्ञान तो हुआ है। बुद्धिके अज्ञानका भान भी निश्चयात्मक वृत्ति है। मैं अिसका समावेश निद्रावृत्तिमें ही करना चाहता हूँ। यह खयाल गलत मालूम होता है कि केवल गाढ नींदमें ही बुद्धि निद्रित होती है। वह तो जाग्रत अवस्थामें वर्तमान अेक अवस्थाका केवल तीव्र स्वरूप है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्थामें रहते हुअे भी अिन्द्रियोंके समक्ष न रहनेवाले विषयोंके विचारमें लीन हो जाना स्वप्नदशा ही है, अुसी तरह जाग्रतिमें जिन जिन विषयोंके विषयमें बुद्धि अनिश्चित है अुन विषयोंमें वह निद्रित है, अैसा कहना चाहिये। 'निश्चय नहीं होता' अिस तरहके अेक प्रकारके अभावप्रत्ययकी ही अुसमें निश्चितवृत्ति है। अिसी अर्थमें सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयः (४-१८) यह सूत्र सही हो सकता है।

निरोधमें निश्चय करनेकी क्रिया रुक जाती है। फिर निश्चय करनेका काम ही नहीं रखा जाता। लेकिन निश्चयके अभावमें प्रमाण करनेका प्रयत्न या अिच्छा बन्द नहीं हुअी है।

अमुक विषय अज्ञेय है, अैसे निश्चयको कौनसी वृत्ति समझना चाहिये? पतंजलि कह सकते हैं कि हम तो किसीको अज्ञेय मानते ही नहीं. अैसा समझिये कि अज्ञेयताके निश्चयमें अभी संशोधन होना बाकी है। आज भले ही निश्चित रूपसे अैसा लगे कि अमुक पदार्थ अज्ञेय ही है, परन्तु यह ज्ञानकी प्रान्तभूमि नहीं है। अतः अज्ञेयताका निश्चय या तो गलत अनुमान प्रमाणकी या निद्राकी वृत्ति अैसा है। यदि कुछ भी अज्ञेय न होनेका सिद्धान्त मान न लिया जाय, तो भी अज्ञेयत्वका निश्चय अनुमान प्रमाणकी वृत्ति तो होगा ही।

ये सब वृत्तियाँ क्लेशदायक और क्लेशरहित दोनों तरहकी हो सकती हैं। अिन दो भेदोंके अनुसार अुनको क्लिष्ट और अक्लिष्ट कहा गया है।[1]

प्रमाण, विपर्यय

प्रमाण तथा विपर्यय वृत्तिके विषयमें अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। जो प्रमाणभूत निश्चय प्रत्यक्ष रीतिसे, अनुमानसे या आप्तपुरुष अथवा शास्त्र-वचनसे होता है, वह बुद्धिकी प्रमाण वृत्ति है। रस्सीमें साँपका, मृगजलमें सरोवरका, अित्यादि जो निश्चय अुस क्षण तो प्रमाणभूत लगता है, किन्तु बादमें भ्रमयुक्त साबित होता है, अुसे विपर्यय वृत्ति कहते हैं।

विकल्प

किन्तु विकल्प शब्दका विचार करनेकी जरूरत है। टीकाओंमें विकल्पके अुदाहरणरूपमें राहुका सिर, पुरुषका चैतन्य जैसे शब्दप्रयोग बताये जाते हैं। अिनमें स्वामित्वदर्शक सम्बन्धकारका 'का' प्रत्यय निरर्थक है। वास्तवमें राहु ही सिर है, और पुरुष ही चैतन्य है। कोअी अेक राहु (अथवा पुरुष) और अुसका अवयव सिर (या चैतन्य) अैसे दो पदार्थ हैं ही नहीं। परन्तु जब कि अैसा शब्दप्रयोग होता है तो वह हमारे चित्तमें क्षणिक ही क्यों न हो, धर्मी व धर्म अैसे दो विषयोंकी अपेक्षा अुत्पन्न करता है। अिस तरह अर्थ घटित करनेसे नवें सूत्रका[2] अर्थ अैसा होता है कि शब्दज्ञानके पीछे अुपजती, परन्तु सचमुचमें वस्तुशून्य, बुद्धिकी जो अपेक्षा है वही विकल्प वृत्ति है।

लेकिन मैंने अूपर बताया है कि सत्य वा मिथ्या कोअी निश्चय हो, तो ही अुसे योगदर्शनमें वृत्ति शब्दसे दर्शाया जाता है। यदि मेरा यह कथन सच हो, तो विकल्पवृत्तिका पूर्वोक्त अर्थ सही नहीं मालूम होता। क्योंकि पूर्वोक्त शब्दप्रयोगोंमें कोअी भी निश्चयकारक ज्ञान होता ही नहीं। हाँ, सिर्फ अेक अपेक्षा अुपस्थित होती है और थोड़ा ही विचार करनेसे वह विलीन हो जाती है। फिर भी यदि हम यह कहें कि अिस क्षणिक अपेक्षामें भी निश्चयात्मक वृत्ति ही है, तो भले ही अिन

---

१. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाश्च।
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ १–५, ६॥
(वृत्तियाँ पाँच वर्गकी हैं; क्लिष्ट और अक्लिष्ट: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।)

२. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। १–९॥ (जो शब्दज्ञानके पीछे अुठता है परन्तु वस्तुशून्य है अुसे विकल्प कहते हैं।)

अुदाहरणोंका भी समास विकल्पवृत्तिमें हो जाय। परन्तु मैं समझता हूँ कि अिसका क्षेत्र अधिक विशाल है।

मैं विकल्पका अर्थ अिस तरह घटाता हूँ: त्रिविध प्रकारके सांकेतिक अथवा कल्पनायुक्त संस्कारोंके कारण पदार्थोंमें अुनके वास्तविक धर्मोंके अुपरान्त दूसरे आरोपित धर्मोंका निश्चय। अुदाहरणके लिअे मूर्ति, झण्डा, आदि प्रतीकोंमें जिन पदार्थोंसे ये बने हैं अुनके धर्मोंके अलावा यह देव है, देश है, आदि प्रकारका निश्चय। यह जो दूसरे प्रकारका निश्चय है वह आरोपित है; विशेष प्रकारकी कल्पनासे अुत्पन्न हुआ है; मूर्ति, झण्डा, आदि शब्दोंके ज्ञानके पीछे वह अुपजता है, अिन शब्दोंका ज्ञान यदि न हो तो यह नहीं अुपजता; क्योंकि यह विशेष निश्चय वस्तुशून्य है। अिस पदार्थमें देव या देश-सूचक — अिस तरहके संकेतके सिवा — कोअी पदार्थ नहीं है। अिस तरह शब्द-ज्ञानके साथ अुत्पन्न होनेवाला परन्तु अुस शब्दके विषयमें वस्तुशून्य निश्चय विकल्प है। हम यह कह सकते हैं कि निश्चयके अिस क्षेत्रका असर जीवनके बहुतेरे व्यापारों पर होता है।

समाधिके सविकल्प और निर्विकल्प अैसे दो भेद करनेकी प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। ये दो शब्द कहाँसे पैदा हुअे हैं, यह मुझे मालूम नहीं। पतञ्जलिने तो अिन शब्दोंका कहीं प्रयोग किया नहीं है। किन्तु टीकाओंमें ये मिलते हैं। टीकाओंमें अधिकांश सविकल्प समाधि, सबीज समाधि, और सम्प्रज्ञात योग तीनों शब्दोंका अेक ही अर्थमें प्रयोग मिलता है। अिसी तरह निर्विकल्प समाधि, निर्बीज समाधि और असंप्रज्ञात योगका अेक ही अर्थ समझा जाता है। मेरी नाकिस रायमें विकल्प, समाधि, योग, आदि शब्दोंको पतञ्जलिके अर्थमें न समझनेसे और कदाचित् दूसरे प्रकारके योग-विषयक ग्रन्थोंकी परिभाषाको यहाँ घटानेका प्रयत्न करनेसे यह अुलझन पैदा हुअी है।

सविकल्प व निर्विकल्प समाधि अिन शब्द-प्रयोगोंमें 'वि' अुपसर्ग सप्रयोजन हो, अैसा नहीं लगता। निर्विकल्प समाधिको अुन्मनी अवस्था भी कहते हैं। चित्तके व्यापारको बिलकुल रोककर बैठना, भीतर बाहर किसी बातका ज्ञान न हो अैसी स्थिति चित्तकी बनाकर बैठना — अिसे अुन्मनी अवस्था या निर्विकल्प समाधि कहते हैं। कअी योगाभ्यासी अिस स्थितिको पहुँचनेका यत्न करते हैं। और अिसे योगाभ्यासकी अन्तिम भूमिका समझते हैं। पतञ्जलिका असंप्रज्ञात योग और

यह निर्विकल्प समाधि अेक ही है या नहीं, यह चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं है। यहाँ तो अिसका अुल्लेख अिस बात पर ध्यान दिलानेके लिअे किया है कि पतञ्जलिने समाधि या योगके लिअे सविकल्प-निर्विकल्प शब्दोंका अुपयोग नहीं किया है और अुन्होंने विकल्प शब्दका प्रयोग खास प्रकारकी विशेष कल्पनावाली वृत्तिके अर्थमें किया है।

दसवें सूत्रमें[1] निद्रावृत्तिकी व्याख्या आती है। अिस सूत्रमें 'प्रत्यय' शब्द विचारने योग्य है।

'प्रत्यय' शब्द नीचे पादटिप्पणीमें[2] सूचित सूत्रोंमें पाया जाता है। आम तौर पर शास्त्रीय ग्रन्थोंसे यह अपेक्षा रखी जाती है कि अुनमें बार बार प्रयुक्त शब्द किसी अेक ही अर्थमें ग्रहण किया जाय। अपवाद-रूपमें ही साफ तौरपर अेकाध जगह किसी दूसरे रूढ़ अर्थमें अुनका प्रयोग भले ही हो। किन्तु अिस 'प्रत्यय' शब्दको टीकाकारोंने सर्वत्र अेक ही अर्थमें घटानेका प्रयत्न किया दिखाओी नहीं देता।

प्रत्यय

मैं समझता हूँ कि लगभग सभी जगहोंमें 'विषयजन्य संस्कार' के अर्थमें प्रत्यय शब्दको घटानेसे अिन सूत्रोंका अैसा सरल अर्थ हो जाता है, जो आसानीसे समझमें आ जाय। जिस पदार्थके लिअे वृत्तिने प्रमाण, विपर्यय आदि रूप धारण किया हो वह विषय है; अुस विषयका चित्तपर जो संस्कार पड़ता है वह अुस वृत्तिका प्रत्यय है। पदार्थ अथवा विषय भले ही अेक हो, परन्तु अुसके प्रत्यय अनेक हो सकते हैं। क्योंकि क्षण क्षणमें यह विषय चित्त पर संस्कार डाल सकता है। अैसा प्रत्येक संस्कार अुस वृत्तिका जुदा जुदा प्रत्यय है।[3] जैसे हम अेक गाय देखते हैं। वह हमारी अिन्द्रियोंका विषय हुओी। अब जितनी बार यह गाय हम देखते हैं, अुतनी ही बार अिस देखनेकी क्रियासे हमारे चित्तपर संस्कार

१. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १-१० ॥ (अभावरूपी विषयका आलम्बन करके रहनेवाली वृत्ति निद्रा है।)

२. १-१०; १-१८; १-१९; २-२०; ३-२; ३-१२; ३-१९; ३-३४; ४-२७।

३. 'प्रत्यय' शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार ही यह अर्थ होता है। व्याकरणमें जैसे विभक्तिके प्रत्यय संज्ञाके साथ आते हैं, अुसी तरह वृत्तिके साथ ही जानेवाले ये विषयके प्रत्यय हैं।

अुठते ही रहेंगे। ये संस्कार कभी अेक ही तरहके होंगे, कभी भिन्न-भिन्न प्रकारके भी। अिनमें हर समय विषय तो अेक ही है, परन्तु प्रत्येक संस्कारके समय वह चित्तकी वृत्तिके साथ बार बार जुड़ता है। अैसे प्रत्येक समय विषयके साथ चित्तका जो सम्पर्क होता है, अुसीका नाम प्रत्यय है।

अिस तरह अभावका (कुछ है ही नहीं अथवा कुछ निश्चय नहीं है अैसे संस्कारका) आलम्बन करनेसे वृत्ति निद्रारूप होती है अथवा वृत्तिमें निद्राका निश्चय होता है।

अिस वाक्य पर टीका करते हुअे पंडित श्री सुखलालजी लिखते हैं — "(निद्राकी) यह (आपकी) व्याख्या मुझे गलत मालूम होती है। क्योंकि जो वृत्ति 'कुछ है ही नहीं' अैसे अभावको प्रत्यय बनाती है, वह भी जाग्रत वृत्ति ही हुअी। जाग्रतवृत्ति अुसीको कहते हैं, जिसमें सच्चा या झूठा, भाव या अभाव रूप कोअी पदार्थ भासित हो। सचमुच तो निद्रावृत्ति अुस समय अुदय होती है, जब वह यह कुछ भी नहीं जानती कि कुछ है या नहीं। बल्कि अुस समय ज्ञानात्मक सब वृत्तियाँ लय पा जाती हैं। आपकी व्याख्याके अनुसार तो निद्रा भी अेक ज्ञानात्मक वृत्ति ही हुअी, फिर भले ही अुसमें शून्यताका भान क्यों न हो"

अिसका खुलासा —

१. सांख्यकारिका ३३ याद रखने योग्य है: अुसमें कहा है कि "बाह्येन्द्रियोंका व्यापार वर्तमानकालमें ही है; अन्तःकरणका व्यापार तीनों कालमें चलता है।"[1] मतलब कि बुद्धिकी वृत्ति (निश्चय) का प्रत्ययके साथ ही अुठना आवश्यक नहीं है; वह प्रत्ययके बाद भी अुठ सकती है। जिस क्षणमें निश्चय होता है, अुसी समय कह सकते हैं कि वृत्ति अुठी। अुस समय बाहरसे विषयोंका संस्कार पड़ना जरूरी नहीं है। जो संस्कार पड़ चुका है, अुसकी स्मृतिसे भी निश्चय हो सकता है। स्मृतिसे वह संस्कार जाग्रत होता है — यही प्रत्यय है। अिस प्रत्ययका आलम्बन लेकर निश्चय होता है। यदि यह कहें कि निद्राका निश्चय पीछेसे होता है, तो भी अिससे पूर्वोक्त व्याख्याको बाधा नहीं पहुँचती। परन्तु अिसके लिअे दूसरा भी खुलासा है।

२. निद्रावस्था व निद्रावृत्ति अिन दोका भेद समझ लेना चाहिये। हम कहते तो हैं कि नींदमें हमें अैसा कोअी भान नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं, प्राज्ञता (प्रकृष्टेण अज्ञता — घोर अज्ञान) होती है। परन्तु अुस समय प्राज्ञता होती है, अिसका निश्चय हमने किस बात परसे किया? हमें अुस दशाका स्मरण रहता है, अिस परसे अुस प्राज्ञ दशाको देखनेवाला कोअी जाग्रत था अैसा जान पड़ता है। वह

[1] साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यंतरं करणम्॥

चित्तकी अिस प्राज्ञदशाको — निद्राको — निश्चित्त रूपसे जानता है। हाँ, यह ठीक है कि अैसा अनुमान वादको आनेवाली जाग्रतिमें होता है। परन्तु यह कोअी निद्राज्ञानकी ही विशेषता नहीं है। **ज्ञानमात्र अनुभव-समयकी लीनता (सारूप्य) के चले जानेके बाद अुसके स्मरणसे अुत्पन्न होता है।** जिस समय किसी प्रत्ययमें हमारी तन्मयता हो जाती है, अुस समय अुस विषयका हमें क्या ज्ञान हुआ, यह हम नहीं जान सकते। तन्मयताके चले जानेके बाद अुस अनुभवका स्मरण करनेसे अुस विषयमें हम निश्चय करते हैं। तन्मयता यदि क्षणिक हो, तो निश्चय तुरन्त हो जाता है; अधिक समय तक रहे तो निश्चय देरसे होता है। अिस प्रकार होनेवाला निश्चय यदि अधिक समय तक टिके अथवा बार-बार हो, तो वह प्रमाण कोटिका हो जाता है। बदल जाय या चला जाय, तो वह विकल्प या विपर्यय-कोटिका होगा। अिस तरह अभाव-प्रत्यय-सम्बन्धी तन्मयताके मिटनेके बाद हम यह निश्चय करते हैं कि अुस समय अभाव-प्रत्यय — निद्रा — प्राज्ञदशा थी।

जाग्रतिमें भी बुद्धिमें किसी विषयके रहे अज्ञानका भान भी अेक प्रकारकी निद्रावृत्ति ही है, अैसा अूपर (पृष्ठ ३४९, टिप्पणी १ में) बताया गया है। यह प्राज्ञदशा नहीं, बल्कि अज्ञदशा है। सच पूछो तो अज्ञान जैसी वस्तु स्वतंत्र रूपसे कुछ है ही नहीं। जिस विषयके संयोगसे प्रत्यय अुत्पन्न होता है, अुस विषयके सम्बन्धमें 'निश्चयका अभाव है, अैसे ज्ञानको' विषय-सम्बन्धी निश्चय करनेकी अुत्सुकताके कारण हम अज्ञान कहते हैं। अज्ञान विषयके बारेमें है, प्रत्ययके बारेमें नहीं।[1]

---

१. महाराष्ट्रीय योगी कवि मुकुन्दराज लिखते हैं:

न कळे अैसें जाणवळे। तें न कळण्यासि 'नाहीं कळ्ळें! ॥ ६–४ ॥

'नहीं समझमें आया' अैसा जो समझा, सो 'अज्ञान'की समझमें तो नहीं आया!

आपुलिया जाणिवा। धरिशी नेणिव भावा।
या कारणें तो गोंवा। पडे जयाचा तयासि ॥ ६–५ ॥

'अपने जानपन (ज्ञानत्व) को ही तू अज्ञानता मान लेता है; अिससे तुझे अपने आपकी ही गड़बड़ पैदा हो जाती है।'

नेणिवेच्या नेणिवभावा। तूचि जाणसी स्वयमेवा! ७-२ ॥

अज्ञानके अज्ञानपनको तू ही स्वयमेव जानता है।

आपण आपणासि नेणें। अैसे आपण चि जाणें।
जाणपण हें नुमजणें। तें चि पैं तें ॥ ११–१ ॥

खुद अपनेको नहीं जानता — यह खुद ही जानता है। अिस तरह (विषयके बारेमें अज्ञान) और अुस अज्ञानका ज्ञान अिन दोका भेद ध्यानमें नहीं आता, यही

यदि हम यह याद रखें कि निश्चयमात्रका तन्मयता मिटनेके बाद स्मृतिसे अुद्भव होता है, और स्मृति दूसरी सब वृत्तियोंके पीछे रही हुआी भूमिका — पार्श्वभूमि — जैसी है, तो यह बात समझमें आ जायगी कि निद्रावस्था — नींद अथवा किसी विषयका निश्चय करनेके बारेमें दुविधायुक्त स्थिति — कोअी वृत्ति नहीं; बल्कि स्मृतिकी अेक स्थिति है। नींद अुसकी तीव्रता है। अिस तीव्र स्थितिमें जगत्को भूलनेका प्रयत्न है।[1] यह स्थिति कैसी है, अिसका निश्चय ही निद्रावृत्ति है। यह दूसरी वृत्तियोंसे पृथक् अिसलिअे पड़ जाती है कि अिसमें अभाव — विषयोंका भूलावा — प्रत्यय है; दूसरी वृत्तियोंमें कोअी भावरूप विषय प्रत्यय होता है।

जाग्रत अवस्थामें, मूर्च्छामें तथा नींदमें सर्वत्र रहे अज्ञानका निश्चय — अिस वृत्तिके लिअे अधिक व्यापक अथवा स्पष्ट सूत्र हो तो जरूर अच्छा रहे। अिस वृत्तिको निद्रा कहनेके बजाय यदि कोअी दूसरा व्यापक अर्थवाला शब्द योजित किया जाय तो अच्छा हो। जैसे — **मूढत्वप्रत्ययालम्बनमावरणम्** — मूढ़ताके प्रत्ययका अवलम्बन करके रहनेवाला निश्चय आवरणवृत्ति है। निद्रा अिसका अेक भेद है।

अिस तरह बुद्धिकी पाँच वृत्तियाँ — निश्चय हैं। अिन वृत्तियोंका निरोध करना योग है।

अब हमें यह देखना है कि निरोध क्या है और वह कैसे होता है? यह खोज हमें योगके भेद बतानेवाले सूत्रोंमेंसे करनी पड़ेगी।

अज्ञान (भ्रम) है। — **परमामृतसे** स्फुट अुद्धरण। ('परमामृतका' विषय विषय-सम्बन्धी अज्ञानसे नहीं, बल्कि स्वरूप-सम्बन्धी अज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। परन्तु दोनोंमें अेक ही विचारधारा लागू पड़ती है।)

१. बहुत प्रयत्न करने पर भी जब नींद नहीं आती हो, कोअी न कोअी स्मृति जाग्रत होकर नींदके यत्नको निष्फल करती हो, तब क्या हम जगत्को भूलनेका प्रयत्न नहीं करते? यह अभावप्रत्ययका आलम्बन लेनेका ही प्रयत्न है। थकान आदिसे यह स्थिति अपने-आप भी आ सकती है और जो अभ्यास द्वारा अिस कलाको हस्तगत कर सकें, वे अिच्छा-पूर्वक भी अुसे ला सकते हैं।

३

सम्प्रज्ञात योग

१७वें और १८ वें सूत्रमें योगके दो भेद किये गये हैं — सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। [1]

सम्प्रज्ञान

सम्प्रज्ञातका अर्थ है 'अच्छी तरह जाना हुआ'। सीधी-सादी भाषामें कहें, तो सम्प्रज्ञानका अर्थ है स्पष्ट भान। अिसका अर्थ यह हुआ कि दूसरे योगमें संप्रज्ञान — स्पष्ट भान — नहीं है, केवल संस्कार शेष है।

वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिताका क्रमशः निरोध करनेसे सम्प्रज्ञात योग होता है, अैसा १७ वें सूत्रका शब्दार्थ होता है।[2]

परन्तु यह तो सूत्रका शब्द-स्पर्श हुआ। यह विचारना तो बाकी ही रहता है कि अिसका आशय क्या है? अेक अुदाहरणसे अिसे समझानेका यत्न करता हूँ।

अुदाहरण

हमें यह निश्चय हुआ कि सामने जो प्राणी चरता है, वह 'गाय' है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणकी वृत्ति है। विचार करनेसे मालूम होगा कि जब कोअी अैसी वृत्ति अुठती है, तब हमारे चित्तमें चलनेवाले व्यापारके अेक पर अेक अैसे चार स्तर होते हैं। अिन चारों स्तरोंको हम प्रयत्नसे साफतौर पर मालूम कर सकते हैं।

---

१. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः [वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिताके (निरोधके) पीछे जो आता है, वह सम्प्रज्ञात।] विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोन्यः। (विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वक संस्कारशेष अन्य है।) अिस अन्यको टीकाकारोंने असम्प्रज्ञात नाम दिया है, पतंजलिने नहीं। अितना ध्यानमें रखना ठीक रहेगा। अिस दूसरेका कुछ नाम तो होना ही चाहिये, अिसलिअे मैंने अिसीको स्वीकार कर लिया है।

२. क्या अिसमें तथा बौद्ध परिभाषामें — जिसमें आनंद और अस्मिताकी जगह अनुक्रमसे प्रीति व सुख शब्दोंका प्रयोग किया गया है — अिसके सिवाय कुछ फर्क है? देखिये श्री धर्मानंद कोसंबी लिखित 'बुद्ध, धर्म आणी संघ' — परिशिष्ट।

वितर्क

पहले स्तरमें अिस व्यापारसे अुपजता वितर्क ज्ञान रहता है। अिस वितर्क शब्दका अर्थ ४२ वें सूत्रमें मिल सकता है।[1] गाय अेक पद अथवा शब्द है। 'गाय' शब्दके ज्ञानसे अुसका शब्द-स्पर्श या पद-ज्ञान हुआ। 'गाय'के माने 'धेनु' कहें, तो कहना होगा कि यह पदपर्याय या शब्दपर्यायका ज्ञान हुआ। परन्तु 'गाय' शब्दसे जो प्राणी जाना जाता है, वह अिस पदसे जाना जानेवाला अर्थ — पदार्थ — है। अिस प्राणीका ज्ञान पदार्थ-ज्ञान है। यह हो सकता है कि पदज्ञान तो हो, किन्तु पदपर्यायका ज्ञान न हो; और दोनों हों फिर भी पदार्थज्ञान न हो; अिसके विपरीत पदार्थज्ञान तो हो, किन्तु पदज्ञान या पदपर्याय-ज्ञान न हो। अिनमें पदज्ञान (गाय) व पदार्थज्ञान (गाय नामक प्राणीकी जानकारी) यह तर्क है। गाय शब्दमें अथवा गाय पदार्थमें देखनेवालेके संस्कारानुसार आरोपित विशेष अर्थ — जैसे मातापनका — विकल्प है। विकल्पयुक्त तर्क वितर्क (विशेष तर्क) है।

'सामने चरनेवाला प्राणी गाय है' अिस निश्चयके पहले स्तरमें 'गाय' शब्द, 'गाय' प्राणी, और गायके विषयमें आरोपित धर्मोंका सम्प्रज्ञान है। यह **वितर्क** सम्प्रज्ञान है।

विचार

परन्तु, आम तौर पर, बुद्धिका व्यापार अितना ही निश्चय करके नहीं रह जाता। यह गाय किसकी है, कैसी है, कहाँ है, क्या करती है, आदि निश्चय भी अुपजाता है। 'यह गाय है' यह सम्प्रज्ञान सामान्य है। किसकी है, कैसी है, क्या करती है, आदि निश्चयोंसे युक्त सम्प्रज्ञान अनुषंगी (associated) है। अिस प्रकारके वितर्कानुगामी सम्प्रज्ञानका नाम **विचार** है।

---

१. **तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः** — शब्दज्ञान, शब्दार्थ (=पदार्थ) ज्ञान और विकल्पसे मिश्रित सवितर्क समापत्ति है।

आनंद

चित्तपर जब किसी भी प्रकारका आघात होता है, तो आनन्द और शोककी स्थिति भी अुत्पन्न होती है। असावधानताके कारण भले ही हमें अिस स्थितिके प्रकारोंको क्षण-क्षणमें पहचाननेका भान न रहे, परन्तु यदि जागरूक रहकर अुसकी जाँच करें, तो खयालमें आये बिना न रहेगा कि अैसी कोअी न कोअी अवस्थाका सम्प्रज्ञान हरअेक निश्चयके साथ अवश्य सम्मिलित रहता है। यह अवस्था (शोकरूप) क्लिष्ट या (आनन्दरूप) अक्लिष्ट किसी भी प्रकारकी हो सकती है; परन्तु अपेक्षा यह होनेसे कि योगाभ्यासी तो अुसी पदार्थको पसन्द करेगा जो अक्लिष्ट वृत्ति अुपजावेगा, अुसका तीसरा सम्प्रज्ञान आनन्द या प्रीतिका ही हो सकता है। अतअेव तीसरे सम्प्रज्ञानका नाम — योगाभ्यासीके लिअे — **आनन्द** है।

अस्मिता

यह बात तो थोड़ा ही विचार करनेसे समझमें आनेवाली है। किन्तु अिन तीनों सम्प्रज्ञानोंकि मूलमें अेक चौथा सम्प्रज्ञान भी रहा है, यह बात अेकाअेक खयालमें नहीं आती। वह है अस्मिताका — 'मैं हूँ' अैसे स्पष्ट भानका — सम्प्रज्ञान। किसीके मनमें यह प्रश्न अुठेगा कि क्या 'मैं हूँ' अिस भानके लिअे बुद्धिका कोअी व्यापार आवश्यक है? वह तो है ही। परन्तु हकीकत यह नहीं है। जो अैसा प्रतीत होता है कि वह तो हमेशा है ही, अुसका कारण यह है कि यह बात हमारे खयालमें ही कभी नहीं आती कि चित्तका प्रवाह कहीं कभी रुकता है। चित्तका व्यापार किसी न किसी प्रत्ययका आलम्बन लेकर अविराम चलता ही रहनेवाला मालूम होता है और अिसलिअे अस्मिताका भान भी सदैव अुठता रहता है। परन्तु जरा गहरा विचार करनेसे मालूम होगा कि यदि चित्तका व्यापार बन्द हो जाय, तो हमें अस्मिताका भी भान न हो।

अिस बातका विचार अेक दूसरी तरहसे भी किया जा सकता है। क्या हमें अपने शरीरके प्रत्येक अवयवका भान सदैव रहता है? जो अवयव नीरोगी होता है, अुसका भान हमें अकसर नहीं रहता है। परन्तु जब किसी कारणसे अुसकी ओर ध्यान जाता है, अर्थात् अुसमें

अन्यवस्था या दूसरी व्यवस्था पैदा हो, तभी अुसके अस्तित्वका भान हमें होता है। और जब तक वह असामान्य व्यवस्था रहती है, तब तक अुसका भान हमें रहा करता है, क्योंकि प्रतिक्षण चित्तपर अुसके प्रत्यय अुठते रहते हैं।

अिसी तरह हमें अपनी अस्मिताका भान भी तभी होता है, जब चित्तका व्यापार जारी रहता है। हमारे चित्तमें जो कुछ वृत्तियाँ या सम्प्रज्ञान अुठते हैं, अुनमें चाहे कितनी ही विविधता हो, भ्रम या सत्यांश हो, या क्लिष्टाक्लिष्टता हो, अुन सबमें अेक सम्प्रज्ञान दूसरे तीन सम्प्रज्ञानोंके बाद सामान्य स्तरकी तरह अुठता ही है — और वह है 'मैं हूँ' अिस भानका। विषयोंके आघात जुदा-जुदा संस्कारोंके कारण भले ही विविध वृत्तियाँ अुपजायें और विषयोंके बारेमें जुदी-जुदी कल्पनायें करायें; यदि अुन सब कल्पनाओंको अूपरके स्तरकी तरह अलग कर डालें, तो भी वे आघात अेक वस्तुका निश्चय कराये बिना नहीं रहते, और वह है 'मैं हूँ' अिस भानका।

अिसी तरह चित्तके हरअेक पूर्ण व्यापारके साथ वितर्क, विचार, आनन्द अथवा प्रीति (या शोक अथवा द्वेष) और अस्मिताके सम्प्रज्ञान अुठते हैं। अिनका क्रमशः निरोध ही सम्प्रज्ञात-योगका विषय है। यह भी अुदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट होगा।

सम्प्रज्ञानोंका निरोध

कल्पना कीजिये कि कोअी साधक रामकी मूर्तिका× आलम्बन लेकर योगाभ्यास करता है। ध्यानमें तन्मयता होनेके बाद अुसे चित्तके प्रत्येक व्यापारके साथ मूर्ति विषयक वितर्क, तत्सम्बन्धी कोअी आनुषंगिक विचार, आनन्दावस्था और अस्मिताके सम्प्रज्ञान अुठते रहते हैं। चारों सम्प्रज्ञानोंको पृथक् करके देखनेकी शक्ति अभी अुसे नहीं आयी है। अतः वह चारोंको अेक ही रूपमें ग्रहण करता है। अस्मिताके भानकी हस्तीकी तरफ अुसका खयाल

× मूर्ति नेत्रेन्द्रियका विषय है, परन्तु दूसरी ज्ञानेन्द्रियोंके विषयके साथ भी यही क्रम लागू पड़ता है। जैसे — मंत्रजप। आम तौरपर जप और मूर्तिका आलम्बन अेक साथ लेनेका तरीका है। और यह अेक-दूसरेकी सहायताके लिअे है।

तक नहीं जाता। आनन्दको जानता हो, तो भी पृथक् रूपसे नहीं। शब्दोंमें प्रकट करना हो तो 'यह मनमोहन मर्यादापुरुषोत्तम घनश्याम मूर्ति राम खड़े हैं' अैसा यह भान है। अिसमें 'मनमोहन' शब्द अुसके चित्तकी आनन्दावस्था प्रकट करता है। 'मर्यादापुरुषोत्तम' राम सम्बन्धी अुसका अभिप्राय बताता है। 'घनश्याम' मूर्तिके बारेमें वितर्क, 'राम' संज्ञा, और 'खड़े हैं' यह शब्द अपनी भिन्न अस्मिताके भानकी हस्तीको प्रकट करता है।

वितर्क-निरोध

परन्तु अूपर लिखे अनुसार अभ्यास दृढ़ होने पर अुसे पहले वितर्कका निरोध करना होता है; अर्थात् अब वह मूर्तिकी बाह्य आकृति (मेघश्यामत्व) या अुसमें आरोपित धर्मोंका स्मरण रखने या करनेका प्रयत्न नहीं करता*। बल्कि रामकी मूर्तिके साथ जो आनुषंगिक विचार आते थे, अुनमेंसे किसी अेक ही विचार पर चित्तको अेकाग्र रखता है। जैसे कि रामके साथ अुनकी धर्मनिष्ठाका ही विचार पैदा होता हो, तो वह रामकी साकार मूर्तिसे निकलकर धर्मनिष्ठाके विचार पर ध्यानस्थ होनेका प्रयत्न करता है। यह अुसके अभ्यासका दूसरा कदम है। अिस अभ्यासमें आकृतिका और आकृतिसे अुत्पन्न विकल्पोंका भान धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है, और धर्मनिष्ठाके विचारके साथ ही अुसकी तन्मयता हो रहती है। अिस तरह वितर्कके निरोधमेंसे विचार-समाधि फलित होती है। वितर्क जब बिल्कुल क्षीण हो जाता है, तब तत्संबंधी सम्प्रज्ञात योग सिद्ध हो जाता है। भाषामें यह भान 'यह कल्याणरूप धर्मावतार' अिन शब्दोंमें ही वर्णन किया जा सकता है।

अब, वृत्तिका बल तीन ही संप्रज्ञानों पर रुक जानेके कारण ये तीन ही संप्रज्ञान विशेष पुष्ट होते हैं। अिसमें आनन्द या प्रीतिका अनुभव अधिक जोरसे होता है और अस्मिता भी थोड़ी-बहुत व्यक्त होती है।

---

* अिन दोनोंके बीचमें अेक और कदम है। अुसकी चर्चा समापत्तिके विचारमें की जायगी।

फिर साधकके लिअे दूसरा प्रयत्न है अुन विचारोंका भी निरोध करना। वितर्क व विचारसे जो आनन्द या प्रीति अुमड़ती है, अुसके स्वरूपको जाँचना और अुसके ध्यानमें स्थिर होना और पिछले दो संप्रज्ञानोंकी ओर ध्यान न देना अुसका तीसरा अभ्यास है। अिस तरह विचारके निरोधमेंसे आनन्द-समाधि फलित होती है। यहाँसे अुसका वास्तविक स्वचित्त परीक्षण शुरू होता है। वितर्क व विचारमें अुसके ध्यानका बीज बाहर था। यहाँ अुसका बीज अपने अन्दर ही है। अिस अभ्यासमें आनन्द या प्रीति अधिक पुष्ट होती है, और अस्मिताका संप्रज्ञान अधिक स्पष्ट होता है। यदि अस्मिताके प्रति अिससे पहले ही अुसका ध्यान न गया हो, तो अब कभी न कभी खिंचता है। भाषामें आनन्द-समाधिमें "मैं आनन्द या प्रेमरूप हूँ", तथा सानन्दता — आनन्द-सम्प्रज्ञानमें "आनन्द — आनन्द है" अैसा अिस भानका स्वरूप होता है।

विचार-निरोध

अतः अब अिसका तीसरा प्रयत्न आनन्द (या प्रीति) का भी निरोध करके केवल अस्मिताके भानको जाँचनेका होता है।* दूसरे पादके छठे सूत्रमें अस्मिताकी व्याख्या अिस प्रकार की है — **दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता** ॥ दृग् अथवा चितशक्ति (पुरुष) और दर्शन-शक्ति अथवा चित्त दोनोंकी अेकता जैसा लगना अस्मिता है।

आनन्द-निरोध

अब यहाँ अेक बातकी याद दिलाना जरूरी है। योगाभ्यासी अपना अभ्यास किसी अेक स्थानमें अपने चित्तकी धारणा करके करता है। अितने ही स्थानमें वह अपने चित्तको बाँध रखता है× और जिस प्रत्ययका अुसने आलम्बन लिया हो, अुसको वहीं जाँचता है। अतः यह समझना चाहिये कि अुसकी धारणाके स्थान पर ही चित्त बँधा रहा है। तीन संप्रज्ञानोंके निरोधके बाद अुसे अस्मिताका भान अिस धारणाके स्थानपर ही होता है। यह अुसका चौथा अभ्यास है। अिस तरह आनन्दके

* वेदान्ती जिसे निर्गुणका ध्यान कहते हैं अुसका प्रवेश यहाँसे होता है, अैसा मैं समझता हूँ।

× देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३-१ ॥

निरोधमेंसे अस्मिता–समाधि फलित होती है। अतः वह यही समझता है कि मैं अपनी धारणाके स्थानक पर ही हूँ। यदि धारणा हृदयमें की हो तो वह समझता है कि हृदयमें मेरा (चैतन्यका) वास है, और यदि किसी दूसरी जगह धारणा हो तो वहाँ समझता है। वास्तवमें यह नहीं कहा जा सकता कि चैतन्यशक्ति किसी अेक ही स्थानमें है; परन्तु चूँकि वह चित्त और चैतन्यको अभेदरूपसे देखता है, अतः यह समझता है कि चैतन्यका वास विशेषतः धारणाके स्थान पर ही है। यही है दृग् और दर्शनशक्तियोंकी अेकात्मताका भास। "मैं शान्त स्वरूप हूँ अथवा सुखरूप हूँ" अितना ही अुसका वर्णन हो सकता है। अिसीका नाम अस्मितामें समाधि है। अिससे आगे अस्मिताके सम्प्रज्ञानमें "शान्ति है, सुख है" यह भान होता है।

अस्मिता-निरोध

अुसके बादका चौथा प्रयत्न है अस्मिताके निरोधका। जहाँतक मैं समझता हूँ, यही चित्तको अुन्मत्त करनेका अभ्यास है। 'मैं हूँ' अिस सम्प्रज्ञानको भी क्षीण करके चित्तकी कोअी वृत्ति (किसी भी प्रकारके निश्चयका भान) न हो, अैसी स्थितिमें रहनेका यह प्रयत्न है। अस्मिता-समाधि और अस्मिता-निरोधके बीचका भेद अितना सूक्ष्म है कि अिन दोमें गड़बड़ी पैदा हो जाती है। जैसे निद्रामें चित्तका व्यापार बन्द नहीं होता, परन्तु अभाव-प्रत्ययके कारण अैसा प्रतीत होता है कि अुस समय अस्मिताका स्पष्ट भान नहीं होता (वस्तुतः तो कुछ न कुछ है), अुसी तरह अस्मिता–समाधिमें चित्तका व्यापार बन्द नहीं है, परन्तु प्रत्ययाभावके कारण अस्मिताका सम्प्रज्ञान भी नहीं अुठता। निद्रामें अभावका प्रत्यय है, तो अस्मिता-समाधिमें प्रत्ययका अभाव है। पहली विवशता-जात स्थिति है, दूसरी प्रयत्नपूर्वक स्वाधीनतासे प्राप्त स्थिति है। फिर भी बाह्य दृष्टिसे दोनों अेक-जैसी लगती हैं। मीठी नींदमें जैसे सुख है, वैसे ही यह स्थिति प्रयत्नपूर्वक प्राप्त होनेके कारण और चित्त तथा ज्ञानेन्द्रियोंको विशेष विश्राम और तनावका अभाव होनेके कारण अिसमें अुसे निद्रासे बहुत अधिक सुख प्रतीत हो, तो यह समझमें आने जैसी बात है। अिस स्थितिको प्राप्त करनेका प्रयत्न सफल होनेसे बादको अत्यन्त आनन्दका अनुभव होना भी स्वाभाविक है। अिसे शून्याकार

वृत्ति अथवा शून्यका अनुभव करें तो चलेगा। मेरी रायमें बहुतसे वेदांती योगी अिसीको निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

लेकिन पूर्वोक्त निरूपणसे यह ध्यानमें आवेगा कि अस्मिताके निरोधकी भूमिका तक पहुँचनेके पहले अस्मितामें समाधि तकके सब अभ्यासोंमें चित्तके एक अंशमें निरोध है, तो दूसरे अंशमें समाधि है। वितर्कके निरोधमेंसे विचार-समाधि, विचारके निरोधमेंसे आनन्द-समाधि, और आनन्दके निरोधमेंसे अस्मिता-समाधि फलित होती है। अस्मिताके निरोधके बाद समाधिका अन्त आता है। अिसकी विशेष स्पष्टता जब हम समाधिकी व्याख्याका विचार करेंगे तब होगी।

४

असम्प्रज्ञात योग

अब हम दूसरे योगका विचार करें।

यहाँ मुझे कबूल करना होगा कि टीकाकारोंके अर्थको मैं ठीक ठीक नहीं समझ सका। सम्भव है, अिसका कारण मेरी संस्कृतमें विशेष गतिका न होना हो। जो अर्थ मैंने किया है वही यदि टीकाकारोंको अभीष्ट हो, तो मुझे कुछ नहीं कहना। योगके अिस भागके विषयमें मेरा अपना जो प्रवेश है, अुसे ही मैं दर्शाता हूँ।

हमने अब तक यह देखा कि अस्मिताके निरोधको छोड़कर दूसरी सब स्थितियोंमें किसी न किसी प्रत्ययका आलम्बन लेकर ही चित्तका व्यापार चलता है। यदि अेक ही प्रकारका प्रत्यय बार बार, अेकके बाद दूसरा, अुठता रहे तो वह अेकाग्रता होती है; नवीन नवीन प्रत्यय होते रहें, तो अुसे सर्वार्थता कहते हैं। यदि दूसरे प्रकारके प्रत्यय पर चित्त दौड़ जाता है, तो वह पिछले प्रत्ययसे अुठे किन्हीं आनुषंगिक विचारोंके द्वारा ही। अिस प्रकार सतत चलते रहनेसे चित्तको नदीके प्रवाहकी अुपमा दी जाती है और यह माना जाता है कि अुसमें रुकावट या भंग कभी नहीं होता।

परन्तु चाहे सर्वार्थता हो या अेकाग्रता, सच पूछो तो जब चित्त अेक प्रत्ययसे दूसरे अुसी जातिके या भिन्न जातिके प्रत्यय पर जाता है, तब अुस प्रवाहमें क्षणिक भंग जरूर होता है। अिस क्षणमें चित्त अेक प्रत्यय परसे अुठा है, पर अभी अुसने दूसरेको पकड़ा नहीं है। ज्ञानेश्वरने अपनी रसमयी वाणीमें चित्तकी अिस स्थितिका अनेक अुपमाओं द्वारा वर्णन किया है।

अुठिला तरंगु बैसे।
पुढें आन ही नुमसे।
अैसा ठायीं जैसें।
पाणी होय॥

अुठी हुअी तरंग बैठ गअी हो, परन्तु अभी दूसरी अुठ न पाअी हो, अुस क्षणमें पानीकी जो स्थिति होती है;

कां नीद सरोनि गेली।
जागृति नाहीं चेयिली।
तेव्हां होय आपुली।
जैसी स्थिति॥

अथवा, नींद पूरी हो चुकी है, परन्तु अभी जागृति आयी नहीं है, अुस समय हमारी जैसी दशा होती है;

ना ना येका ठाअूनि अुठी।
अन्यत्र नव्हे पैठी।
हे गमे तैशिया दृष्टि।
दिठी सुर्ता॥

अथवा, अेक स्थानसे दृष्टि हट गअी हो, परन्तु दूसरी जगह न बैठी हो, अुस स्थितिका विचार करते हुअे (यह योगभूमिका) समझमें आ जायगी;

कां मावळो सरला दिवो।
रात्रीचा न करी प्रसवो।
तेणें गगनें हा भावो।
वाखाणिला॥

अथवा, सूर्य अस्त हो गया हो, परन्तु रातका प्रसव न हुआ हो, अुस समयका आकाश अिस भावोंको प्रदर्शित करता है;

घेतला स्वासु वुडाला।
घापता नाहीं अुठिला।
तैसा दोहींसि सिवतला।
नव्हे जो अर्थु॥

अथवा, लिया हुआ आश्वास शान्त हो गया है, परन्तु अभी अुच्छ्वास शुरू नहीं हुआ, अिस तरह दोनों तरफसे (प्रत्ययसे) अछूता रहा जो पदार्थ;

कीं अवयांचीं करणीं ।	अथवा, समस्त अिन्द्रियोंके
विषयांचीं घेणीं ।	द्वारा अेक साथ विषयोंका ग्रहण
करितां त्रि येकें क्षणीं ।	करनेका प्रयत्न करते हुअे जो कुछ
जे कीं आहे ॥	स्थिति हो जाती है;*
तया सारिखा ठावो ।	अुस तरहकी स्थिति असल
हा निकराचा आत्मभावो ।	आत्मभाव है ।+
(अमृतानुभव — ७, १८६–९२)	

चित्तके अेक प्रत्ययको छोड़कर दूसरेको ग्रहण करनेके बीचके विराम या सन्धिको बारबार खोजनेका अभ्यास असम्प्रज्ञातयोगका अभ्यास है। अिस विरामकालीन स्थितिको न अनुभव कहा जा सकता है न ज्ञान; क्योंकि अुस समय किसी प्रकारका अनुभव या ज्ञान नहीं होता है। अिस स्थितिके चले जानेके बाद चित्त सिर्फ अितना ही स्मरण कर सकता है कि अैसी अेक — समझिये खाली या प्रवाह-भंगकी — स्थिति गअी। अिस स्मृतिके संस्कारको ही यदि अनुभव या ज्ञान कहना हो, तो भले कहें; पर सच पूछिये तो यह किसी अनुभवकी स्मृति नहीं है; बल्कि अेक अैसा संस्कार-मात्र या स्थिरभाव है, जिसमें न अनुभव है, न ज्ञान और न अननुभव है, न अज्ञान ही।

अस्मिता-समाधि तथा निद्राकी तरह ही यह भी शून्यका अनुभव लगना सम्भव है। परन्तु शून्य यानी, दूसरे परिच्छेदमें निद्राका लक्षण जाँचते हुअे कहा अुस तरह, अभावका प्रत्यय तथा प्रत्ययका अभाव समझें, तो प्रमाणादिक वृत्तियोंका प्रत्यय हो सकता है। क्योंकि अभावका प्रत्यय और प्रत्ययका अभाव दोनोंको बुद्धि मझ सकती है। किन्तु अिसमें तो चित्त चलनका भंग है। केवल चित् शक्ति नयुक्त जैसी स्थित है।

---

* अिसके लिअे दो तीन अुपमायें और भी दी जा सकती हैं: (१) घड़ीका लोलक अेक तरफ चढ़ चुका है, किन्तु अभी वापिस लौटनेकी शुरुआत नहीं हुअी है — अिस स्थितिको, अथवा (२) विद्युत् प्रवाह तेजीसे सव्यापसव्य (alternate) होते हों, अथवा (३) सूर्यकी किरणें या पानीके फौवारे प्रवृत्त-निरुद्ध (intermittent) होते हों, अुस समय जो स्थिति होती है अुसकी।

+ यहाँ जिसको आत्मभाव कहा है, अुसे पतञ्जलिने द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान (द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ १–३ ॥) कहा है। शंकराचार्यने 'लघुवाक्य-वृत्ति' और 'सदाचार' में अिस अभ्यासका वर्णन किया है।

'परमामृत' में अिस स्थितिमें तथा शून्यके बीच नीचे लिखे अनुसार भेद किया है —

जरी तें शून्य भाविजे तरी कल्पूनि नांव ठेविजे जे आपणा आपण बुझे तें शून्य कैसे ?	यद्यपि वह शून्य जैसा लगता है, फिर भी अुसके (भावरूप) नामकी कल्पना की जानी चाहिये। क्योंकि जो खुद अपनेको जानता है, अुसे शून्य कैसे कहा जा सकता है?
जो सर्व शून्यातें जाणे । तया शून्य असे कवण म्हणे ? जे कांही नाहीं तेणे आपणा केवि जाणिजे ? ॥	जो सब शून्यको जानता है, अुसको शून्य कौन कह सकता है ? (शून्यका अर्थ है 'कुछ नहीं') जो कुछ नहीं है, वह अपनेको किस तरह जानेगा ? (मैं शून्य रूप हूँ, यह किस तरह समझ सकेगा ?);
यया स्वरूपीं नुरे दृश्य । दृश्यासि द्रष्टुत्व अदृश्य । जया चे तयासी च प्रकाश । स्वस्वरूप सदा ॥	जिस स्वरूपमें दृश्य नहीं रहता, अिसलिअे दृश्यके प्रति द्रष्टापन अदृश्य हो जाता है, और केवल अपना ही स्वरूप स्थित प्रकाश बाकी रहता है;*
सर्वहि निरसूनि जाणीव । अुरले सांडून नेणिव । तया ज्ञाना जाणावया भाव । न स्फुरे कांहीं ॥	सारे ज्ञातृत्वका त्याग करके और अज्ञानको भी फेंक कर जो बाकी रहता है, अुस ज्ञानको जाननेके लिअे (चित्तमें) कोअी भाव स्फुरित नहीं हो सकता;
म्हणोनि अभाव अैसा भासे । परी शून्या म्हणावें कैसें ? जे सर्वांसि जाणोनि असे । शून्यासमवेत ! ॥	अतः वह अभावके जैसा लगता है, परन्तु जो शून्य सहित सबको जानता है, अुसको शून्य कैसे कह सकते हैं ?

(परमामृत—८, २-५)

परन्तु यह तो असंप्रज्ञातयोगका विवरण हुआ। अब यह देखना है कि अिस तरहका अर्थ सूत्रसे निकलता है या नहीं। सूत्र

सूत्रार्थ

यह है — **विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥**
(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वक संस्कारशेष दूसरा योग है।)

---

* जैसे सूर्यको यदि किसी पदार्थको प्रकाशित करनेका न हो, तो अुसका प्रकाश विना प्रकाश्यके ही रहेगा; प्रकाश्यके न होनेसे अुसे प्रकाशिता नहीं कह सकते, पर सिर्फ प्रकाशवान ही कहेंगे; अुसी तरह दृश्यके होनेसे दृक्शक्ति द्रष्टा कहलाती है, नहीं तो केवल स्वयंप्रकाश दृक्शक्ति ही है।

पहले समासका अर्थ अिस तरह बिठा सकते हैं — विरामके प्रत्ययका अभ्यास जिसके पहले है। परन्तु अेक दृष्टिसे देखें, तो अुसमें भाषा-शैथिल्य होता है। प्रत्ययके अर्थका ज़रा विस्तार करना पड़ता है; क्योंकि अूपर बताये अनुसार यहाँ न तो वृत्ति है, न चित्तका चलन ही है, तो फिर यह कैसे कह सकते हैं कि अुसका आलम्बन—प्रत्यय—है? विरामको प्रत्यय कहना प्रत्यय व वृत्तिके अर्थको मरोड़ने जैसा है। राजविद्या, राजयोग,* आदि समासोंकी तरह **विराम अिव प्रत्यययोः** (विराम मानो दो प्रत्ययोंमें) अिस तरह समास घटाया जा सकता है या नहीं, सो मैं नहीं कह सकता। यदि अिस तरह क्लिष्टताका दोष किये बिना अैसा किया जा सकता हो, तो यह सूत्र ठीक बैठ जाता है, नहीं तो सूत्रार्थ लगानेके लिअे क्लिष्टताका दोष मुझे स्वीकार करना पड़ेगा।

५

निरोधके कारण तथा समाधि

अब निरोध शब्दका अर्थ अधिक स्पष्ट हुआ होगा। जब निरोध-कारण-सम्बन्धी सूत्रोंका विचार करेंगे, तब वह और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

१९वाँ सूत्र

पहले पादके १९ और २० वें सूत्रमें यह बताया गया है कि वृत्तिका निरोध किन कारणोंसे होता है। अिनमें १९वें[१] सूत्रकी व्याख्यायें जिस तरह टीकाकारोंने की हैं, वे मुझे बहुत ही कम सन्तोषजनक मालूम होती हैं। तमाम व्याख्यायें मानो कल्पनाके विशाल क्षेत्रमें दौड़ कर लाअी गअी हैं। और यदि अिन व्याख्याओंको मान लें, तो यह समझना मुश्किल होता है कि अिस सूत्रका मनुष्य-साधकसे क्या सम्बन्ध है। मैं अिसका जो अर्थ लगाता हूँ, वह मुझे बुद्धिगम्य और मनुष्योपयोगी मालूम होता है। किन्तु यह कौन कह सकता है कि पतंजलिको भी यही अर्थ अभीष्ट था? अतः मैं अपना अर्थ यहाँ बताकर खामोश रहूँ, यही अुचित है।

---

* राजा मानो विद्याओंमें, योगोंमें आदि।

१. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

विदेहप्रकृतिलयानाम् — अर्थात् बेसुध अवस्थामें लवलीनोंको, जो **भवप्रत्यय** — अर्थात् अस्तित्वका जो संस्कार अथवा वृत्तिका आलम्बन रहता है, (अुसमें भी योग अर्थात् चित्तवृत्तिका निरोध है ।)[1]

यह निरोध प्राकृतिक है; परन्तु यह सूत्र अिस बातको जाननेमें अुपयोगी है कि निरोधमें दरअसल होता क्या है? अिस अर्थकी योग्यायोग्यता और २० वें सूत्रके साथ अुसका मेल बैठता है या नहीं, अिसका विचार पाठकों पर ही छोड़ता हूँ ।

निरोधका दूसरा कारण सावधान मनुष्योंके लिअे २० वें[2] सूत्रके अनुसार **श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि** और **प्रज्ञापूर्वक** (अनुष्ठान) है । अिस सूत्रका शब्दार्थ स्पष्ट है । परन्तु यहाँ यह बात अच्छी तरह साफ हो जाती है कि समाधि और योग पतञ्जलिके अर्थमें अेक ही नहीं हैं । समाधि पतञ्जलिका ध्येय नहीं है । समाधिका फल प्रज्ञाप्राप्ति है[3] और श्रद्धासे लेकर प्रज्ञा तक योगकी ओर ले जानेवाली वह पूँजी या साधन-सम्पत्ति है ।[4]

२० वाँ सूत्र

---

१. मूर्छा आदिसे जैसे बेसुध अवस्थामें लीन हो जाते हैं, अुसी तरह श्वासोच्छ्वासको रोकनेके अभ्याससे भी हो सकते हैं । मतलब यह है कि चित्तका चलन श्वासके चलनके साथ ही होता है; अतः श्वासके रोकनेसे चित्तका निरोध हो जाता है ।

२. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक अितरेषाम् ॥

३. देखिये सूत्र तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ३—५ ॥

४. अिस सिलसिलेमें 'बुद्धलीला' से नीचे दिया अुद्धरण ध्यानमें रखने योग्य है : "सिद्धार्थने . . . विचार किया । मेरे आचार्यने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा अिन पाँच मानसिक शक्तियोंका समत्व प्राप्त करनेका मुझसे कहा, यह तो ठीक ही है; क्योंकि व्यवहारमें भी अिन शक्तियोंका साम्य होना अत्यंत जरूरी है । सिर्फ हमारी श्रद्धा ही बढ़ती चले और अुसके साथ-साथ प्रज्ञाकी यदि वृद्धि न हो, तो हम किसी भी वस्तु पर विश्वास रखने लग जायँगे । जिसने जो कुछ कहा, वही हमें सच लगेगा । अिसके विरुद्ध, हमारी प्रज्ञा बढ़ती जाय और अुस पर श्रद्धाका बन्धन न हो, तो वह अुच्छृंखल बन जाती है । अिससे हमें गरूर पैदा होता है और हम दंभके शिकार हो जाते हैं । पर प्रज्ञाके साथ जब श्रद्धाका योग हो जाता है, तब अिन दो मानसिक शक्तियोंका सुखकारक परिणाम निकलता है । अिसी तरह वीर्य (अुत्साह) बढ़ता जाय और अुसे समाधिका बन्धन न हो,

यहाँ श्रद्धाका अर्थ है दृढ़ता, आत्मविश्वास और अभ्यासमें विश्वास; वीर्यके मानी हैं अुत्साह; स्मृति अर्थात् जागृति, जिस कार्यका आरम्भ हमने किया है, अुसके अलावा दूसरी बातकी स्मृति न अुठने देनेकी जागरूकता; समाधिका अर्थ विस्तारसे करेंगे; और प्रज्ञाका अर्थ है अनुभव (अथवा वेदना या संस्कार) का अवलोकन (अथवा निरीक्षण या ग्रहण) और अुसी कोटिके दूसरे अनुभवोंके स्मरणसे अुनकी तुलना करके देखनेकी ज्ञानशक्ति।

समाधि

समापत्ति

अब समाधिका ठीक-ठीक विचार किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। किन्तु अिसके लिअे हमें पहले समापत्तिका विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि अिन दोनोंका निकट सम्बन्ध है। पहले पादके ४१से ४६ तकके सूत्रोंमें सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार समापत्तिका वर्णन है। और यह बताया है कि निर्वितर्क तथा निर्विचार समापत्ति मिलकर सबीज समाधि होती है। मुख्य सूत्रोंका अर्थ नीचेके अनुसार होता है:

४१. जैसे शुद्ध काँचके नीचे कोअी रंग रख दिया जाय तो अैसा भास होता है, मानो खुद काँच ही रंगीन है, काँचकी शुद्ध पारदर्शकताके कारण अेक तरहसे काँचका स्वतन्त्र दर्शन ही चला जाता है, और दूसरी ओर नीचे रखे रंगका भी स्वतन्त्र दर्शन चला जाता

तो वह अुच्छृंखल बन जाता है। अतिशय अुत्साहसे वह क्या करता है, अुसका भान अुसे नहीं रहता। अिसी तरह, अकेली समाधि भी नुकसान करती है। समाधिकी शक्ति बढ़ जाय, तो आदमी आलसी बनता है, और वह कुछ भी लोकोपयोगी काम नहीं कर सकता। पर वीर्य और समाधि अिन दो शक्तियोंकी समता प्राप्त की जाय, तो परिणाम बहुत बढ़िया निकलेगा। स्मृतिका अुपयोग सर्वत्र ही करना चाहिये। . . . . राजाका मुख्य प्रधान जैसे दूसरे प्रधानोंके काम पर ध्यान व देखरेख रखता है, वैसे ही स्मृतिको श्रद्धा और प्रज्ञा तथा वीर्य और समाधिके कार्य पर देखरेख रखना है"। (पृ. १२६-२७, गुजराती तीसरी आवृत्ति परसे)

है, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें होने पर भी अेक ही रूपसे ग्रहण होती हैं, — अिसी तरह चित्त अेक संस्कार-ग्राहक शुद्ध साधन है। जब अिसकी निश्चयकारिणी वृत्ति क्षीण होती है, तब चित्त (प्रत्यय-ग्राहक), प्रत्ययग्रहणकी क्रिया (ज्ञानेन्द्रियों या संचारके द्वारा), और प्रत्यय तीनों अेकरूप ही मालूम पड़ते हैं। अिस तरह तीनोंके तादात्म्यको समापत्ति (साथमें पड़ना) कहते हैं।[1]

४२. अैसी समापत्ति जब विषयके नाम तथा विषय (पदार्थ)के ज्ञान तथा विकल्पसे युक्त होती है, तब अुसे सवितर्क समापत्ति कहते हैं।[2]

४३. जब विषयका नाम तथा पदार्थज्ञान और विकल्पका भान न हो, परन्तु स्मृतिके अत्यन्त शुद्ध होनेसे मानो स्वरूप भी शून्य हो गया हो, अिस तरह चित्त केवल पदार्थमय ही बन गया हो, तब अुसे निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं।[3]

निर्वितर्क समापत्ति और समाधिके लक्षण तुलना करने योग्य हैं।[4] निर्वितर्क समापत्ति अेक समाधि ही है, अुसमें प्रत्ययके साथ केवल चित्तकी तदाकारता ही है। पदार्थके नाम या विकल्पका भान नहीं है। चित्त केवल पदार्थको व्याप्त करके स्थिर हो रहा है। अिसमें यह भान नहीं कि मैं द्रष्टा हूँ। दर्शनकी क्रियाका भी भान नहीं है। दृश्य क्या है अिस विषयमें कुछ निर्णय करनेका भी यत्न नहीं है। अिस तरह यह क्षीणवृत्ति है। केवल पदार्थमय चित्त बन रहा है। अिस स्थितिसे जबतक व्युत्थान न हो, तबतक अैसा लग सकता है कि मैं स्वतः ही दृश्यरूप हूँ।[5] यह

---

१. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहितृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ १–४१ ॥

२. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ १–४२ ॥
अिसके संबंधमें पहले ३ रे प्रकरणमें विशेष स्पष्टीकरण हो चुका है।

३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ १–४३ ॥

४. तद् (ध्यानम्) अेवाऽर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३–३ ॥

५. जैसे कि मैं ही राम हूँ, मैं ही कृष्ण हूँ, अित्यादि।

स्थिति यदि अभ्यासपूर्वक व स्मृतिपूर्वक होती है, तो अुसे समाधि कहते हैं। यदि रागद्वेषादिके जोरसे विवशतापूर्वक हो, तो चित्तभ्रम कहलाती है।

चित्तमेंसे प्रत्ययके हटे बिना, अर्थात् प्रत्ययके साथकी तदाकारता टूटे बिना, अुसकी निर्वितर्कता चली जाय अर्थात् द्रष्टा-दृश्य-दर्शनके भान सहित तदाकारता रहे, तो अुसे सवितर्क समापत्ति कहते हैं।

विचार करनेसे मालूम होगा कि चित्त जब किसी प्रत्यय पर लगाता है, तब वह निर्वितर्क भावसे ही लगता है। परन्तु साधारणतः चित्तभ्रम या बुद्धिपूर्वक अभ्यासके बिना यह निर्वितर्क स्थिति अधिक समय तक नहीं टिक सकती। समनस्क पुरुषोंके लिअे स्वरूप-शून्यता जैसी स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती। **टीकाकारोंका आम ख़याल होता है कि सवितर्क स्थितिमेंसे निर्वितर्क स्थितिमें जाया जाता है। परन्तु वस्तुतः निर्वितर्कतामेंसे सवितर्कतामें जाया जाता है।** निर्वितर्कताको रोकने पर भी प्रत्ययके साथ तदाकारता — प्रत्ययकी अविस्मृति रखना — वितर्क सम्प्रज्ञान है। अुसके बाद वितर्कका निरोध करके निर्विचार समापत्ति-रूप समाधिमें ही स्थिर रहना पहला सम्प्रज्ञात योग है, जिसका वर्णन पहले हो चुका है (पृ. २६०)। अिसके बाद सविचार समापत्ति — विचार सम्प्रज्ञान — में प्रवेश, फिर विचार-सम्प्रज्ञानका निरोध और आनन्द-समाधि; फिर आनन्द सम्प्रज्ञान — सानंदता — में प्रवेश और फिर आनन्दका निरोध और अस्मितामें समाधि, तथा अन्तमें अस्मिता सम्प्रज्ञान — सास्मिता; सास्मिताका निरोध। अस्मिताके निरोधसे जब सब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब वह निर्बीज समाधि कहलाती है।

असम्प्रज्ञात योगके लिअे निर्बीज समाधि, व्युत्थान या निरोध कुछ भी कहना कठिन है। क्योंकि अिस स्थितिके योग्य चित्तको बनानेके लिअे अैसा कोअी भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता; प्रयत्न ही अप्रयत्न-रूप हो जाता है। जो कुछ भी प्रयत्न किये हों, वे सब प्रज्ञाको सूक्ष्म करने तक ही अुपयोगी हैं। असम्प्रज्ञात योगके लिअे अिसका कोअी सीधा अुपयोग नहीं है। क्योंकि, **असम्प्रज्ञात योगकी स्थिति प्रतिक्षण स्वयम्भू होती जाती है। आवश्यक यही है कि प्रज्ञा अितनी सूक्ष्म हो जाय कि अिस स्थिति तक अुसकी निगाह पहुँच सके।**

यदि यह विवेचन ठीक हो तो तीसरे पादमें प्रयुक्त कुछ शब्दोंका अर्थ सामान्य प्रचलित अर्थसे भिन्न प्रकारसे घटाना होगा । जैसे —

व्युत्थान

'व्युत्थान' शब्द : तीसरे पादमें* यह बताया गया है कि निरोध कब होता है । आम धारणा यह है और भाष्यका अर्थ भी अैसा समझा जाता है कि यदि समाधिमें भंग पड़े या अुसमेंसे जागें, तो व्युत्थान होता है । अेक तरहसे यह सही है; परन्तु मेरी समझसे पतञ्जलिने अिसका अर्थ अधिक मर्यादित किया है, अथवा समाधि-भंगके दो भेद करके प्रत्येकके लिअे अलहदा शब्दकी योजना की है । अिसका कारण यह है :

समाधि-भंग दो तरहसे हो सकता है : अेक तो ध्येय-प्रत्ययके साथका सम्बन्ध टूटे विना सिर्फ स्वरूप-शून्य जैसी स्थितिमें भंग हो तब; दूसरे शब्दोंमें, **सम्प्रज्ञानका तो प्रादुर्भाव हो, किन्तु अेकाग्रता या समापत्तिका नाश न हो । यह परिणाम 'व्युत्थान'के द्वारा दर्शित किया गया है ।** परन्तु अिससे आगे जाकर **चित्त ध्येय-प्रत्ययसे चलित होकर किसी दूसरे प्रत्यय पर ही लग जाय, तो अिस परिणामके लिअे 'सर्वार्थता' शब्दका प्रयोग होता है ।***

सर्वार्थता और व्युत्थानके अिस भेदको ठीक तौरसे समझ लेनेकी ज़रूरत है; नहीं तो 'समाधि-परिणाम' और 'निरोध-परिणाम' विषयक सूत्र केवल भेदहीन शब्दान्तर जैसे हो जायेंगे ।

---

* व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ३–९ ॥ (व्युत्थान संस्कारका जब अभिभव और निरोध संस्कारका प्रादुर्भाव होता हो, तब निरोध-क्षणके साथका चित्तका जो सम्बन्ध है, वह निरोध-परिणाम है ।)

* सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ३–११ ॥

सर्वार्थता और अेकाग्रता

चित्त जब ध्येयका चिन्तन छोड़कर अन्य विषयोंका चिन्तन करने लगता है, तब सर्वार्थता होती है। जैसे-जैसे अन्य विषय आते जायें, वैसे-वैसे अुन्हें प्रयत्नसे रोककर फिर ध्येय पर लगाना चाहिये। अिस क्रियामें प्रतिक्षण सर्वार्थताका क्षय करने और अेकाग्रताको सिद्ध करनेका प्रयत्न है। अिस प्रयत्नका परिणाम समाधि है।

हृदय जैसे सिकुड़ता है व फूलता है, अथवा खास किस्मके दीपक जैसे झपकते हैं — अपने प्रकाशमें प्रतिक्षण न्यूनाधिकता दिखाते हैं, अथवा अंजन जैसे चलते वक्त अेकके बाद अेक भक्‌भक् आवाज निकालता है, अुसी तरह अैसी कल्पना कीजिये कि चैतन्य अेकके बाद अेक ज्ञानग्राही किरण अुत्पन्न करता है +। यह निश्चित नहीं है कि प्रत्येक किरण अुत्पन्न होकर किस विषयपर व्याप्त होगी। यदि हर समय वह भिन्न-भिन्न विषयपर व्याप्त हो, तो वहाँ सर्वार्थता है। यदि हर बार अेक ही अर्थ पर चिपकी रहे तो अेकाग्रता है। यदि यह सर्वार्थता परिपूर्ण हो जाय अर्थात् प्रकाशदाता चैतन्यकी पृथक्ताके भानसे शून्य हो, तो अुसे 'वृत्तिसारूप्य' कहा है; यदि अेकाग्रता अिसी तरहकी हो तो वह समाधि है।

परन्तु यदि सर्वार्थता या अेकाग्रता प्रत्यय पर परिपूर्ण व्याप्त न हो, बल्कि अैसे भानसे युक्त हो कि प्रत्यय और मैं अलग हूँ, (जिसके कारण प्रत्ययके प्रति निश्चयात्मक — वृत्तियुक्त — हो) तभी मैं अुसे व्युत्थान कहूँगा। अिस अर्थमें व्युत्थान (यानी विशेषरूपसे अुत्थान) अेक अच्छी तरह जाग्रत अवस्था है। अिसमें साधक अपने चित्तमेंसे जो स्फुरण अुठता

+ चैतन्यसे ज्ञान-किरण चलती या अुठती है यह कल्पना सांख्य अथवा योग मतके अनुकूल नहीं है, अितना ध्यानमें रखना चाहिये। अिन मतोंके अनुसार । चैतन्य निर्व्यापार है। अतः अुसमेंसे ज्ञान-किरणें कैसे निकलेंगी? जो कुछ व्यापार है, वह तो सब चित्तका ही है। खैर, चाहे जिसकी किरणें कहिये, मतलब यह है कि जब वह निश्चयात्मक स्वरूप लेती है, तब 'वृत्ति' कहलाती है। मैं क्यों चैतन्यकी ज्ञान-किरण कहता हूँ, यह सांख्यमत-सम्बन्धी समालोचनात्मक प्रकरण (१४ वें) में बता चुका हूँ। चैतन्यमेंसे अुपजनेवाली जो ज्ञान या शक्तिरूप किरण है, वही सचित्त प्राणियोंमें चित्त है।

है, अुसे सावधानतासे देखता है; वह स्फुरण जिस प्रत्यय पर चिपकता है, अुसका चिन्तन अपने स्वरूपका भान न भूलते हुअे करता है। जो अितना कर सकता है, वह निरोधका अभ्यास कर सकता है।

यहाँ यह याद रखना चाहिये कि भाष्यकार अिसीको व्युत्थान नहीं कहते हैं। वे तो 'सर्वार्थता' और 'व्युत्थान'को अेक ही अर्थमें लेते दिखाअी देते हैं। अुनका मत है कि जहाँ वृत्तिसारूप्य है, वहाँ सब जगह व्युत्थान है।* अिसका अर्थ यह हुआ कि भाष्यकार जिसे व्युत्थान कहते हैं, वह अनभ्यासी पुरुषकी स्थिति है और अिसलिअे अस्पृहणीय है।

धीरे धीरे साधकके खयालमें यह बात आने लगती है कि आम तौर पर जो हमें यह प्रतीत होता है कि चित्तका व्यापार अखण्ड प्रवाहकी तरह चल रहा है, सो वस्तुतः अैसा नहीं है; बल्कि अूपर बताये दृष्टान्तोंकी तरह अेकके बाद अेक ज्ञान-किरणोंके भिन्न-भिन्न झपके हैं। किरण निकल कर अुसी-अुसी विषय पर व्याप्त होकर — समान प्रत्यय अुपजा कर — चाहे अेकाग्र रहती हो या जुदा प्रत्ययोंपर व्याप्त होकर सर्वार्थी होती हो, वह देखता है कि अुसका व्यापार प्रवृत्त-निरुद्ध (intermittent) होता है। अुठे हुअे दो स्फुरणोंके बीचमें चित्तकी अैसी दशा होती है कि जिस समय अुसे न प्रवृत्त ही कह सकते हैं, न निरुद्ध ही। अिसे निरोध-परिणाम कहते हैं। यही असम्प्रज्ञात योग है। अैसे समय यदि यह कहें कि अुसे अपनी पृथक्ताकी स्मृति है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि अैसी स्मृति हो तो अुसमें अस्मिताका सम्प्रज्ञान होगा, और जहाँ सम्प्रज्ञान है, वहाँ वृत्ति अुठी हुअी है ही। दो वृत्तियोंके बीचके खण्डको अुत्पन्न करनेका प्रयत्न करना अेक तरहसे अप्रयत्न जैसा हो जाता है। अिस कारण अिसमें अभ्यासीको सामान्य प्रयत्न शिथिल करने पड़ते हैं। वह न समाधिका आग्रह रखता है, न सर्वार्थता अुपजानेका। अेक ही बात अिसमें अपेक्षित है — सम्यक् स्मृति अर्थात् जागृति या सावधानता।

---

* देखो सूत्र — वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ १–४ ॥ (अन्यत्र वृत्तिसारूप्य होता है।) अिसका भाष्य: व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। (व्युत्थानमें जो चित्तकी वृत्तियाँ हैं, अुनसे अभिन्नतः पुरुष रहता है)। वाचस्पति भी अितरत्रका अर्थ 'व्युत्थाने' ही करते हैं।

निरोधके कारण तथा समाधि

अितना विवेचन करनेके बाद अब साधककी दृष्टिसे अभ्यासकी भिन्न-भिन्न भूमिकाओंका विचार करना ठीक होगा :

१. साधारण चित्त सर्वार्थता रखनेवाला होता है। यह निश्चित नहीं कि चित्तकी वृत्ति अुत्पन्न होकर किस प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रत्यय पर व्याप्त होगी। फिर साधारण चित्तकी वृत्तिके साथ अेकरूप हो जानेकी आदत होती है। क्षणिक ही क्यों न हो, जिस प्रत्ययको वृत्ति पकड़ती है, अुसके साथ सोलहों आने अेकरूप हो जाती है। अुस समय यह भान नहीं रहता कि वृत्तिका स्वामी जो वह खुद है, प्रत्ययसे अलग है। यदि देहको प्रत्यय बनाता है तो देहरूप, कुटुम्बको बनाता है तो कुटुम्बरूप, विषयको बनाता है तो विषयरूप (विषयी) हो जाता है।

प्रत्ययान्तर होते ही रहते हैं, अिससे वह अेकरूपमें नहीं रहता; और जब अेक प्रत्ययके साथकी अेकरूपताका नाश होता है, तब यह अपनी पृथक्ताको जरूर अनुभव करता है। परन्तु फिर तुरन्त ही दूसरे प्रत्ययके साथ अेकरूप हो जाता है।

अैसे चित्तमें स्मृति — जागृति — सावधानताका अभाव है। अिस स्मृति या जागृतिको तीव्र करना साधकका अन्तिम ध्येय है। पृथक्ताकी यह स्मृति ही विवेकख्याति है।

२. अिसके लिअे पहला अभ्यास चित्तको सर्वार्थतासे अेकाग्रता पर लानेका है। चित्त भले ही प्रत्ययके साथ अेकरूप होता हो, परन्तु व्यभिचारी न हो तो बस है। अिस साधनामें अुसकी स्मृति — जागरूकता — को तालीम मिलती है।

३. किसी अेक ही प्रत्ययके साथ अिस तरह अेकरूप होनेकी टेव पड़ जानेके बाद चित्तकी यह अेकरूप होनेकी टेव छुड़ानेका अभ्यास करना चाहिये। विचार करते ही मालूम पड़ता है कि मैं प्रत्ययसे अलग हूँ। अुसके साथ जो मैं अेकरूप हो जाता हूँ, यह भूल है। अिससे वह धीरे-धीरे प्रत्ययको बिलकुल न छोड़ देकर अुसके साथ अेकरूप न होनेका अभ्यास करे।

अिसके लिअे अुसे सम्प्रज्ञात योगकी भूमिकाओंका क्रमशः अभ्यास करना चाहिये।* अिसका विवरण पहले आ ही गया है; अतः अुसे यहाँ दुहरानेकी ज़रूरत नहीं है। विचार करनेसे यह मालूम हो जायगा कि अिसमें भी स्मृति — जागरूकता — बढ़ाये विना काम नहीं चल सकता।

४. यह भी अूपर बताया जा चुका है कि सम्प्रज्ञात योगसे क्रमशः अथवा अेकदम असम्प्रज्ञात योग किस तरह सिद्ध होता है।

अिसमें **जो बात याद रखनी है वह तो यह कि** योगमें स्मृति — जागरूकता — सबसे प्रथम महत्वकी वस्तु है, समाधि नहीं। समाधिका अुद्देश्य चित्तको अेक केन्द्रमें लाकर अुसे परीक्षण या शोधनके लिअे सुविधाजनक बना देना, प्रज्ञाको सूक्ष्म करना और स्मृतिको तीव्र करना है। अतः निर्वितर्कता, निर्विचारता, आनंदरूपता, या अस्मिताकी बनिस्बत सवितर्कता, सविचारता, सानंदता, या सास्मिताका भिन्न रूपसे अनुभव होना अधिक महत्वपूर्ण है।

---

* यह बात नहीं कि संप्रज्ञात योगकी सभी भूमिकाओंमेंसे गुजरनेकी जरूरत हो या सब भूमिकाओंमें समान समय लगे। यह शक्य है कि जिसकी जागरूकता शुरूसे ही तीव्र हो, वह निर्वितर्क और सवितर्क समापत्तिका भेद ध्यानमें आते ही अेकदम सवितर्क समापत्ति-रूप प्रत्ययोंके व्युत्थान और निरोधके अभिभव-प्रादुर्भावको ध्यानमें ला सकता है। अस्मिताके निरोधकी — अुन्मनी — स्थितिका मुझे स्पष्ट अनुभव नहीं है।

६

योगके मार्ग

यहाँतक चित्त, चित्तवृत्ति, वृत्तिनिरोध, निरोधके कारण, योगके प्रकार, योगकी भूमिकायें और समाधि अिन विषयोंका विचार हुआ। अब योगाभ्यासके मार्गोंका विचार करें।

बारहवें सूत्र[1]में कहा है कि अभ्यास व वैराग्यसे निरोध सिद्ध हो सकता है, और फिर अभ्यास तथा वैराग्यकी व्याख्या[2] तथा अुनके वेग और मात्राओंका विवरण किया है[3]। अुनके सम्बन्धमें मुझे विशेष नहीं कहना है।

अिसके बाद विचारने जैसा सूत्र '**अीश्वरप्रणिधानाद्वा**' (१-२३) है। अिसका शब्दार्थ 'अथवा, अीश्वरप्रणिधानसे (योग्य सिद्ध होता है)' अैसा होता है। यहाँ 'अथवा' अव्यय किस सूत्रके साथ लगाया जाय, यह विचारणीय प्रश्न है।

अीश्वरप्रणिधान टीकाकारोंने अिसका सम्बन्ध २० वें सूत्रसे जोड़ा है। अर्थात् योगसाधना श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञारूपी साधनोंसे होती है अथवा अीश्वर-प्रणिधानसे। परन्तु अिस योजनाका अर्थ यह हुआ कि अीश्वर-प्रणिधानमें श्रद्धा आदि सम्पत्तिकी अपेक्षा नहीं रहती। सो यह कथन ठीक नहीं मालूम होता। योगाभ्यासकी किसी भी पद्धतिसे काम लिया जाय, तो भी श्रद्धादिक पाँच सम्पत्तियोंके बिना अुसकी सिद्धि असम्भव है। अिन पाँच सम्पत्तियोंके बिना अीश्वर-प्रणिधान कैसे हो सकता है?

---

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १-१२ ॥

२. तत्र स्थितो यत्नोऽभ्यासः ॥ १-१३ ॥ दृष्टाऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १-१५ ॥ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १-१६ ॥

३. तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ १-२१ ॥ मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ १-२२ ॥

अतअेव मैं अिस सूत्रको पूर्वोक्त १२ वें सूत्रके साथ जोड़ता हूँ। २१वें व २२वें सूत्रमें जो वेग और मात्राओंका अुल्लेख किया गया है, वे अभ्यास व वैराग्यके वेग और मात्रायें हैं। यह स्पष्ट ही है। और मैं समझता हूँ कि अिस विषयमें टीकाकारोंकी भी राय मिलती है। मेरी राय है कि २३वें सूत्रका भी विकल्प १२वें के साथ ही है। अर्थात् योगके मार्ग दो हैं — अभ्यास और वैराग्य अथवा अीश्वर-प्रणिधान।

मैंने अूपर कहा है कि श्रद्धादि सम्पत्तिके विना अीश्वर-प्रणिधान नहीं हो सकता। पाठक पूछेंगे कि तब क्या अभ्यास और वैराग्यके विना हो सकता है? अिसका स्पष्टीकरण प्रणिधानका अर्थ करते समय हो जायगा।

२८वें सूत्र + में प्रणिधानका अर्थ बताया गया है — प्रणवका जप और अुसके अर्थकी भावना। परन्तु यह तो प्रणिधानका कर्म-काण्ड हुआ। अुसे करनेकी पद्धति हुअी। पर यह प्रणिधानका तत्त्व नहीं है। वह तो अुस शब्दकी व्युत्पत्तिमें ही मौजूद है। **प्रणिधानका अर्थ है अच्छी तरह निधान: अीश्वरमें अच्छी तरह — अर्थात् अत्यन्त प्रेम व विश्वासयुक्त प्रपत्ति, शरण, आश्रय।** प्रणिधान शब्दमें केवल जप और अर्थ-भावनाकी बाह्य क्रियाका भाव नहीं है, बल्कि आन्तरिक भावनाका भाव अन्तर्भूत है।

२०वें सूत्रमें हमने देखा है कि योगमें समाधिका अभ्यास आ जाता है। परन्तु अिस अभ्यासके लिअे साधक अेक काँचके टुकड़े या घड़ीकी टिक् टिक्को भी प्रत्यय बना सकता है; अथवा पुरुष-ख्यातिके अुपायरूप तीसरे पादमें बताअी दूसरी समाधियाँ भी साध सकता है। जो साधक अैसे प्रत्ययोंका आलम्बन लेता है, अुसे अुन प्रत्ययोंके प्रति प्रेम या विश्वास अुमड़ नहीं सकता। वह तो अुन्हें अपने अभ्यास तक ही अंगीकार करता है और अुसके बाद अुनका विसर्जन कर देगा। अैसे साधकके लिअे चित्तको अेकाग्र करनेका काम स्वभावतः ही अधिक कठिन होगा। अुसका चित्त अुसमें अुसी हालतमें चिपक सकता है, जब

+ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ १-२८ ॥

अुसे अिस तरहके अभ्यासका हार्दिक शौक हो और अुसीमें अुसे आनन्द आता हो। अिसके लिअे अुसके मनमें दूसरे सुखोपभोग तथा कर्मोंके लिअे भरपूर वैराग्यका भाव होना चाहिये। अुसने अपने लिअे ध्यानका जो प्रत्यय स्वीकार किया है, वह अुसके हृदयमें प्रेम या विश्वासका भाव पैदा कर सकनेवाला न होनेसे अुसके चित्तमें अनेक विषय स्फुरित होते रहेंगे। अिससे अुसका चित्त तभी काबूमें आ सकेगा, जब अिन सबसे सफलतापूर्वक झगड़नेके लिअे वह अभ्यास और वैराग्य रूपी बख्तर सदा कसता ही रहे। अिसीलिअे अैसे प्रयत्नके विषयमें कहा गया है कि — अभ्यास और वैराग्यसे अुसका निरोध होता है।

परन्तु अीश्वर-प्रणिधानीके तो ध्यानका प्रत्यय ही अैसा है कि अुसीमें अुसे अपना जीवन-सर्वस्व प्रतीत होता है। यह प्रत्यय अुसके लिअे प्रियतम है और अुसका अनन्य शरण है। अुसमें चित्त लगानेके लिअे या दूसरे प्रत्ययोंसे चित्तको हटानेके लिअे अुसे कोअी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अिसलिअे अुसे अभ्यासकी गरजसे अभ्यासको व वैराग्यकी गरजसे वैराग्यको ग्रहण नहीं करना पड़ता।* अीश्वर-प्रणिधानकी बदौलत ये दोनों अुसे सहज साध्य हैं। अतः अीश्वर-प्रणिधान अभ्यास-वैराग्यके बजाय योगका अेक मार्ग है।+

मालूम होता है कि अिस तरह पतंजलिने योगके दो मार्ग माने हैं। अिसमें अुन्होंने पहला स्थान अभ्यास-वैराग्य योगको दिया है। क्योंकि वह योगकी शास्त्रीय पद्धति है। प्रणिधान-योगका भी फल तो अन्तमें वही निकलता है। किन्तु दोनोंमें अेक भेद है। अभ्यास-योगसे वह यह जानता रहता है कि मैं क्या साध रहा हूँ, क्या प्राप्त करता हूँ और कहाँ हूँ। वह जो कुछ करता है ज्ञान-पूर्वक करता है। प्रणिधान-योगीको साधन-कालमें

---

* स्वामीनारायण संप्रदायकी शिक्षा-पत्रीमें वैराग्यकी व्याख्या ही अैसी की है — वैराग्यं ज्ञेयमप्रीतिः श्रीकृष्णेतरवस्तुषु — श्रीकृष्णके सिवा अन्य विषयोंमें अप्रीतिका ही नाम वैराग्य है।

+ अीश्वर-विषयक विचार दूसरे खण्डमें सविस्तर आ चुका है। अतः तत्संबन्धी सूत्रोंका विचार यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

अैसा स्पष्ट पता नहीं लगता। अन्ततक पहुँचनेके बाद पीछेसे भले ही वह प्रत्यावलोक (retrospect) से देख ले।

परन्तु दूसरी ओर प्रणिधान-योगीमें भावनाकी पुष्टि होती है और अुससे समाजको लाभ पहुँचता है। अुसका हृदय प्रेमभीना व कोमल रहता है। पहलेवालेमें समाजके प्रति अेक अंशतक निरादर और अुसके लिअे समभावकी न्यूनताके संस्कार यत्नतः पोषित किये जानेके कारण अुसका कुछ न कुछ अंश बाकी रह ही जाता है। पीछे भले ही विचार करके वह अुसे हटानेका यत्न करे, परन्तु वह अुसे आचरणमें लानेमें हमेशा कृतकार्य नहीं होता।*

७

योगका फल और महत्व

अब योगके फल और महत्त्वका विचार करते हैं।

तीसरे सूत्र*में कहा है कि निरोधके फल-स्वरूप द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान होता है। अब तक जो विवेचन हो चुका है, अुससे यह समझमें आ सकता है। न आवे तो अुसका अुपाय अेक अभ्यास ही है। चौथे सूत्र +में कहा है कि जहाँ निरोध नहीं है, वहाँ वृत्तिसारूप्य होता है।

---

* ३४से ३९ तकके सूत्रोंका अीश्वरप्रणिधानाद्वा अिस सूत्रसे कोअी सम्बन्ध मैं नहीं मानता। केवल ३३वें सूत्रसे ही अुनका सम्बन्ध हो सकता है। 'प्रसन्न-चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।' (गीता, २-६५) यह अनुभव सिद्ध है कि प्रसन्नचित्त बुद्धि शीघ्र स्थिर हो सकती है। ३३से ३९ तकके सूत्रोंमें यह बताया है कि चित्तकी प्रसन्नता कैसे प्राप्त की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि ३२वाँ सूत्र ३१वें सूत्रका अुपाय-रूप है। ३३वें सूत्रसे नया विषय शुरू होता है — चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका।

* तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ + वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥

बड़े छिद्रमेंसे जो सूर्य-बिम्ब आते हैं, वे छिद्राकार धूप डालते हैं। छोटे छिद्रमेंसे आनेवाला बिम्ब सूर्याकृति बनाता है। अिसका कारण यह नहीं है कि बड़े छिद्रोंमेंसे सूर्याकार बिम्ब नहीं आते हैं, बल्कि छिद्रके बड़ा होनेके कारण अनेक किरणोंकी खिचड़ी हो जानेसे धूप छिद्राकार हो जाती है।

अथवा, सूर्यकी किरणें जब सामान्य पदार्थों पर पड़ती हैं, तो अुनके द्वारा वे सूर्यको नहीं दिखलातीं, बल्कि अुस पदार्थको ही दिखाती हैं; परन्तु वे ही जब साफ आअिने पर पड़ती हैं तो आअिनेको नहीं, बल्कि सूर्यको दिखलाती हैं। अिसका कारण यह नहीं कि सूर्यकी किरणोंका धर्म बदल जाता है, बल्कि प्रकाश्य पदार्थकी शुद्धि-अशुद्धिके कारण अैसा भेद अुत्पन्न हो जाता है।

यदि धूप या रोशनीके आकारकी ओर ध्यान न दें और अैसे परिमाणवाला छेद लें कि जिससे हमारी खोजमें अनुकूलता हो, तो वे छिद्र हमें सूर्यकी ओर ही अँगुली दिखाते मालूम पड़ेंगे। यदि प्रकाश्य पदार्थको हम चिकना व साफ बना दें, तो वह भी सूर्यको बता देगा।

प्रज्ञा किरणरूप है, चित्त और अिन्द्रियाँ छिद्ररूप हैं, अथवा दर्पण-रूप हैं, और विषय सामान्य पदार्थ-रूप हैं।

प्रज्ञाके द्वारा यदि हम अुसके अुगमस्थानको न देखें, बल्कि अुससे प्रकाशित प्रत्ययों अथवा अुसके प्रवेश-द्वाररूप चित्त या अिन्द्रियोंको देखें, तो वह प्रज्ञा ही प्रत्ययोंके सम्बन्धमें भिन्न भिन्न संप्रज्ञान अुत्पन्न करनेवाली वृत्ति-रूप मालूम होगी। अर्थात् हुआ यह कि वृत्ति प्रत्ययरूप होती है, प्रज्ञा वृत्ति-रूप होती है, और चूँकि चैतन्य प्रज्ञावान है अिसलिअे अुसके प अेकरूप मालूम होता है। अिस तरह परम्परासे चैतन्य वृत्ति-रूप होता लूम पड़ता है। परन्तु प्रज्ञा चाहे चित्त या अिन्द्रियरूप भासित हो, ा वहाँसे प्रतिबिम्बित होनेवाली वृत्तियों-रूप भासित हो, या अुससे प्रकाशित होनेवाले प्रत्यय-रूप भासित हो, ठीक तरहसे छानबीन करें तो वह अपने मूल — चैतन्यका ही दर्शन कराती है।

अब जीवनमें योगाभ्यासका कितना महत्त्व है, अिसका विचार करके यह खण्ड पूरा करेंगे।

समाधि व योगके सम्बन्धमें आम लोगोंमें बहुत विचित्र कल्पनायें पाओी जाती हैं। निर्विकल्प स्थिति, समाधि दशा, कुण्डलिनीकी जागृति, यौगिक प्रत्यक्ष, सिद्धियोंकी प्राप्ति, आदि बड़े बड़े शब्दोंका बहुत प्रचार हो गया है। परन्तु अुनके अर्थ और यथोचित कीमतके बारेमें बहुत कम ज्ञान पाया जाता है। और वैज्ञानिक जिस प्रकार नये नये शब्दोंसे लोगोंको चकित करते हैं, अुसी तरह अिस मार्गके लोग भी अैसे शब्दोंसे लोगोंको चकित कर देते हैं, और लोग भी अुनमें चकाचौंध रहते हैं। चूँकि यह विषय अगाध व दुर्बोध्य समझा जाता है, अुसे ठीक तरहसे समझ लेनेका प्रयास नहीं होता; और जो समझमें नहीं आता है अुसे बेकार समझ कर त्याज्य भी नहीं माना जाता, बल्कि अुसमें अंधश्रद्धा रखने और रखानेका यत्न किया जाता है। कितने ही साधक बेचारे अिनके भँवरमें पड़कर व्यर्थ ही चक्कर काटते रहते हैं। यही बात यदि सीधेसादे तौरसे कही जाय, तो वह अगम्य न मालूम होगी।

अिसमें पहले तो यह न माना जाय कि योग या समाधिका अनुभव मामूली लोगोंको होता ही नहीं। ये चित्तके स्वाभाविक धर्म हैं, और प्रत्येक व्यक्तिको अिनका कुछ न कुछ अनुभव होता ही है। परन्तु अिनकी तरफ अुनका ध्यान गया नहीं, यह अेक भेद हुआ। और दूसरा यह कि अुन्होंने अुस पर नियंत्रण नहीं प्राप्त कर लिया है। अुदाहरणके लिअे मुझ जैसा अनगढ़ यदि लकड़ी पर बसूला मारेगा तो अुससे भी लकड़ी छिलेगी और अेक बढ़अी मारेगा तो भी छिलेगी, परन्तु मैं निश्चित जगह पर बसूला मारकर निश्चित गहराअीका छेद न कर सकूँगा। और बढ़अी स्वाधीनतापूर्वक अैसा कर सकेगा। सामान्य व अभ्यासी चित्तमें अैसा ही भेद समझना चाहिये।

अेकाग्रताका महत्त्व समझानेकी जरूरत नहीं है। अेकान्त गुफामें आसन जमाकर व प्राणायाम साधकर किसने कितनी सिद्धियाँ सचमुच प्राप्त की हैं और अुसका समाजके लिअे कितना सदुपयोग या दुरुपयोग हुआ, और अुससे कितना प्रमाणभूत ज्ञान प्राप्त हुआ, यह जानना कठिन है। परन्तु पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने जो दूरदर्शन, दूरश्रवण और दूसरी हजारों सिद्धियाँ प्राप्त की हैं अुन्हें सारा संसार जानता है और अेक अनगढ़

व्यक्ति भी अुनका अच्छा या बुरा अुपयोग कर सकता है। फिर वे जो कुछ ज्ञान फैलाते हैं, वह केवल श्रद्धेय नहीं बल्कि आधारयुक्त होता है।

पश्चिमी विज्ञानकी ये खोजें बिना अेकाग्रताके नहीं हुअी हैं। सारा जीवन अेक अेक विषयके चिन्तनमें खर्च करके प्रकृतिका अेक अेक नियम शोधा गया है। यही समाधि है। अपनी कोठरीमें घुसकर हृदय-कमलमें सूर्यकी धारणा करनेसे मैं जो सूर्यमण्डलका 'साक्षात्कार' करूँगा वह सच होगा या नहीं, अिसका क्या विश्वास? अधिक संभव यही है कि वह मेरी कल्पना ही हो, और अिसलिअे मैं दूसरोंको अुसका प्रत्यय न दिला सकूँगा। परन्तु वेधशालामें जाकर रोज खगोलका अध्ययन यदि करूँ, तो अुससे जो कुछ, धीमा ही सही, ज्ञान मिलेगा, वह अैसा होगा कि जिसका प्रत्यय तो दूसरोंको दिलाया जा सकेगा।

अिसलिअे समाधि-साधन यानी अेक खाली कोठरी, पद्मासन जैसा कोअी आसन, प्राणका निरोध आदि कल्पनायें गलत हैं। जो ज्ञेय हो अुसे जाननेके लिअे अनुकूल परिस्थिति बनाकर अुसका परीक्षण, चिन्तन, आदि ही वास्तविक समाधि-साधन है। मैं अिस नतीजे पर नहीं पहुँचा हूँ कि पतंजलिके सूत्र अिस मतके विरोधी हैं।

यह तो हर कोअी सहज ही समझ सकता है कि अपने चित्तके परीक्षणके लिअे अेकान्त निरुपाधिक चिन्तन आवश्यक है, परन्तु प्रत्येक प्रकारके ज्ञेयके लिअे यही अेक साधन नहीं है।

यह तो हुआ समाधि-विषयक गलत खयालोंके सम्बन्धमें।

अब योगके मूल्यके विषयमें।

दुर्निग्रह और चंचल मनको अपने अधीन करनेकी युक्ति जानना, अिसकी आवश्यकता और महत्ताके सम्बन्धमें विचारशील व्यक्तिको शायद ही कोअी सन्देह हो। अपनी अस्मिताके मूल कारण तक, और प्रत्ययोंके विराम तक, प्रज्ञाका पहुँच जाना — यह ज्ञान-सम्बन्धी पुरुषार्थका अेक

सिरा है। अिससे अेक प्रकारकी अैसी निःसंशय स्थिति प्राप्त होती है, जिससे दूसरे तात्त्विक वादसे वह अुलझनमें नहीं पड़ सकता।

परन्तु अिसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि केवल अितना हो जानेसे, या येनकेन प्रकारेण हो जानेसे, जीवनकी पूर्णता या कृतार्थता सिद्ध नहीं हो जाती। पूर्वोक्त निरूपणसे यह मालूम हुआ होगा कि चित्त चार धर्मोंका द्योतक है: प्रज्ञा, अस्मिता, आनंदादिक अवस्था और प्रेमादिक भावना। अिनमें अस्मिता स्थिर है और अुसमें घट-बढ़ नहीं है; आनंदादिक अवस्थायें बिना भावनाके कम मूल्य रखती हैं। परन्तु प्रज्ञाकी शुद्धि जैसे चित्त-विकासका अेक अंग है, वैसे ही प्रेमादिक भावनाकी शुद्धि व पुष्टि भी चित्त-विकासका अुतना ही महत्वपूर्ण अंग है। बौद्ध समाधिमार्गमें अवस्थादर्शक आनंदकी जगह भावनादर्शक प्रीति शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो विशेष मौजूँ है।

योगाभ्यास मुख्यतः प्रज्ञाको सूक्ष्म बनाता है। परन्तु भावनाकी शुद्धि व पुष्टिके बिना प्रज्ञाकी सूक्ष्मता भी पर्याप्त शान्ति या समाधान नहीं दे सकती। अतअेव जबतक चित्त शुद्ध प्रेमसे पुष्ट होकर अुससे परिप्लुत और समाजोपयोगी न हो, तबतक स्थायी समाधान रखना शक्य नहीं है। यदि अैसा व्यक्ति, जो प्रेमार्द्र हृदय रखता हो, अभ्यासयोगका आश्रय ले, तो यह वाञ्छनीय है। परन्तु अेक शुष्क हृदयीको अभ्यास-योगकी पूर्णतासे भी सम्पूर्णताका अनुभव न हो सकेगा।

८

साक्षात्कारके सम्बन्धमें भ्रम

समझकर हो या बे-समझे, 'साक्षात्कार' शब्द हमारी भाषामें रूढ़ हो गया है। अकसर कहा जाता है — 'अमुकको आत्माका या परमेश्वरका साक्षात्कार हो गया है', 'यह बात यौगिक साक्षात्कारसे मालूम होती है।' — आदि। और सदुपयोगकी अपेक्षा अिसका दुरुपयोग ही अधिक होता है। अिसके अलावा जो यह खयाल कर लेते हैं कि खुदको या किसीको साक्षात्कार हो गया है, अुनके अभिप्रायोंसे आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विविध मत भी स्थिर किये जाते हैं।

अतः यह विचार कर लेना जरूरी है कि आखिर यह 'साक्षात्कार' है क्या?

ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा हम जो कुछ अनुभव करते हैं, अुसके संस्कार सूक्ष्म फोटोग्राफकी तरह हमारी मज्जातन्तु-व्यवस्था — मस्तिष्क — में किसी न किसी तरह संचित या अेकत्र हो रहते हैं। अिनमेंसे कभी कोअी संस्कार किसी निमित्तसे जाग्रत हो जाता है और जाग्रत अवस्थामें वह स्मृतिरूप मालूम होता है। जब ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार बन्द होते हैं (जैसे कि नींदमें), तब ये संस्कार जाग्रत होकर प्रत्यक्षकी तरह सामने आ खड़े होते हैं। अिन्हें हम स्वप्न कहते हैं। यह क्रिया बहुतांशमें अितनी तेजीसे होती है कि अिसमें कोअी बार विचित्र संकर, कभी अद्भुतता और कभी अतर्क्य योगायोग दिखाअी देते हैं। यह सब संस्कारोंका साक्षात्कार ही है। परन्तु अेक तो ये प्रयत्नपूर्वक अुत्पन्न किये गये नहीं होते, और दूसरे सामान्य लोगोंका अिन पर ताबा नहीं होता।

किन्तु अभ्याससे, ज्ञानेन्द्रियोंका जागरूकताके साथ प्रत्याहार करके, अिच्छित संस्कारको साक्षात् किया जा सकता है। जिन संस्कारोंका

साक्षात्कार किया जाता है, वे हमारे चित्तमें पहले हुअे अनुभवके अथवा कृत कल्पनाके रूपमें संग्रहीत ही रहते हैं यह याद रखना चाहिये। जैसे मैंने पुस्तकें पढ़कर सूर्यमण्डलके सम्बन्धमें मनमें कुछ मूर्तियाँ बना रखी हैं। अिन मूर्तियोंकी रचना भिन्न भिन्न समयमें भले ही हुअी हो, और अिसलिअे सम्भव है कि मैं खुद आज अिनका अच्छी तरह वर्णन भी न कर सकूँ, अिनसे सम्बन्धित आनुषंगिक विचारोंका भी मुझे पूरा पता न हो। अिसके अलावा मैंने नित्यप्रति जिस तरह सूर्य-दर्शन किया हो, अुसके भी संकल्प मेरे मस्तिष्कमें अंकित रहते हैं। अब यदि मैं सूर्य-मण्डल पर धारणा, ध्यान, समाधि सिद्ध करूँ, तो ये सब संस्कार मेरे सामने मूर्तिमान् हो सकते हैं। अब चूँकि मुझे अिन सबकी स्मृति नहीं है, मैं अिनको साक्षात्कार ही मान लूँगा। कोअी कहेंगे कि यह तो मेरे पूर्व-संग्रहीत संस्कारोंका ही साक्षात्कार है, तो सम्भव है कि मैं यह स्वीकार न करूँ और अिसी बात पर जोर दूँ कि यह यौगिक साक्षात्कार ही है।

राम-कृष्णादिक 'मूर्तिमन्त अीश्वर' के साक्षात्कार अिसी कोटिके होते हैं। कितने ही यौगिक प्रत्यक्ष अिसी प्रकारके होते हैं।* ये साक्षात्कार स्थूल जगत्में भी दिखाअी देनेकी हद तक पहुँच सकते हैं। अिससे आगे चलकर यह भी हो सकता है कि दूसरोंको भी अिनके कुछ परिणाम स्थूल दृष्टिसे दिखाअी दें। किन्तु अिसका कारण दूसरा है। अिसमें ध्याताकी संकल्पसिद्धि भी हो सकती है। अिस तरह साक्षात्कार व सिद्धियोंका कुछ योग मिल जाता है। जब अैसा कोअी चमत्कार दिख जाता है, तो फिर अुसके पीछे लगनेसे अुसकी आवृत्तियाँ होने लगती हैं। कभी कभी अिनका वर्णन अत्युक्ति करके भी किया जाता है।

---

* अिससे भिन्न प्रकारके यौगिक प्रत्यक्ष भी होते हैं। चित्तका व्यापार शान्त व व्यवस्थित होनेसे ज्ञानेन्द्रियों व चित्तकी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। और वे वातावरणमें स्थित तेज, ध्वनि, विचार आदिके अुन सूक्ष्म आन्दोलनोंको भी ग्रहण कर सकते हैं, जो साधारण ज्ञानेन्द्रियों तथा चित्त द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। वे सूक्ष्म आन्दोलनोंको अुसी तरह ग्रहण करते हैं, जिस तरह रेडियो वातावरणमें अुपजाअी ध्वनिको ग्रहण कर लेता है।

साक्षात्कारके सम्बन्धमें भ्रम

अब ब्रह्म साक्षात्कारके सम्बन्धमें ।

अपने चित्तके विषयमें साधकको जो ज्ञान होता है, अुसके बादके अेक संप्रज्ञानकी आमतौर पर वह ब्रह्ममें कल्पना करता जाता है; अथवा कभी मार्गदर्शक गुरु अुसे ब्रह्मके रूपमें अेक ही कदम बताता है । जैसे — यदि यह धारणा बैठी हुअी हो कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है, तो साधक जब आनन्द-समाधि लगाता है और आनन्दावस्थाको जाग्रत करता है, तब वह समझ लेता है कि यही ब्रह्मानन्द है और मान लेता है कि मुझे आत्म-साक्षात्कार हो गया है । यदि वह अिस भूलसे निकल जाय, तो आगे प्रगति करता है । परन्तु बहुत बार जीवनपर्यंत वह अिसी मंजिल पर आकर रुक जाता है। फिर वह अिस आनन्द-ब्रह्मका ही वर्णन करता है । अुसका आत्मा साक्षित्व और आनन्दके अभिमानसे युक्त होता है ।

अिससे आगे जाकर कोअी अस्मिताकी समाधिमें रहते हैं । अुनके मतमें ब्रह्म सुख-दुःखहीन निर्गुण साक्षित्वके अभिमानसे युक्त होता है ।

अस्मिताका निरोध करनेवाला आत्माको शान्तस्वरूप, निर्गुण, निरभिमानी कहता है ।

अिस तरह आनन्दब्रह्म, प्रेमब्रह्म, प्रकाशब्रह्म, शान्तब्रह्म, निर्गुणब्रह्म, साक्षीब्रह्म, आदि मत बने हैं, और प्रत्येकके साक्षात्कारकी बातें कही-सुनी जाती हैं ।

सच पूछिये तो जो कुछ साक्षात्कार होता है, वह चित्तके ही किसी प्रत्यय, अवस्था या भावनाका होता है — सांख्य परिभाषामें कहें तो प्रकृतिके ही किसी कार्यका साक्षात्कार होता है — अितना समझ लें तो बस है । क्योंकि आत्मा तो कभी साक्षात्कारका विषय हो ही नहीं सकता ।

९

अुपसंहार

योगके सम्बन्धमें जितनी बातोंका विचार करना जरूरी है, अुन्हें पद्धति-पूर्वक नीचे सूत्र-रूपमें दिया गया है। अिसके जितने आधार योग-सूत्रोंसे या सांख्यकारिकासे लिअे गये हैं, वे बतौर सूचकके कौंसमें दे दिये गये हैं।

१. विषयप्रवेश

१. **योगके** माने चित्तवृत्तिका निरोध। (१–२)

२. **चित्तके** माने, जहाँतक योग-शास्त्रसे अुसका सम्बन्ध है, निश्चय करनेवाली शक्ति। बुद्धि, महान्, महत्, सत्त्व, दर्शनशक्ति आदि अिसीके दूसरे नाम हैं।

३. **वृत्तिके** माने निश्चय करनेके लिअे चित्तमें जो व्यापार होता है।

४. **निरोधके** माने अिस व्यापारको रोकनेवाली क्रिया।

५. **प्रत्ययके** माने वृत्तिके साथ जुड़ा हुआ बाह्य या आभ्यन्तर विषयका संस्कार।

२. वृत्तिके भेद तथा अुपभेद

६. वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी हैं। वे हरअेक शुद्ध (क्लेशरहित) या अशुद्ध (क्लेशकारक) हो सकती हैं। (१–५)

७. पाँच वृत्तियोंके नाम — प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। (१–६)

८. **प्रमाण** वृत्ति तीन प्रकारकी है: प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (आप्त अथवा शास्त्रवाक्य)। (१–७)

९. **विपर्ययका** अर्थ है मिथ्याज्ञान अथवा भ्रम; जिस पदार्थका अनुभव नहीं होता अथवा नहीं हुआ, अुसका अनुभव होता है अथवा हुआ है अैसा निश्चय। (१–८)

१०. **विकल्पके** माने विशेष कल्पना; अर्थात् शब्दज्ञानके पीछे अुठनेवाला अैसा निश्चय कि जिसके लिअे शब्दसे प्रदर्शित पदार्थमें संकेत

अुपसंहार

अथवा आरोपित कल्पनाके सिवा दूसरा कोअी आधार नहीं; अिस रूपमें वस्तुशून्य निश्चय । (१-९)

११. जाग्रति या स्वप्नमें जो अिस तरहका निश्चय होता है कि 'बुद्धि चलती नहीं', 'निश्चय नहीं किया जा सकता', अुसे **मूढ़त्वका आवरण** कह सकते हैं ।

१२. आवरण-वृत्तिकी तीव्रता ही निद्रा है । **निद्रामें** अभावके (कुछ है नहीं अैसे) प्रत्ययका आलम्बन करके वृत्ति रहती है । (१-१०)

१३. **स्मृति**का अर्थ है अनुभूत विषयसे अधिक न बढ़नेवाली, अनुभूत विषय पर ही चिपकी रहनेवाली और अुसको सँभाल रखनेवाली वृत्ति । (१-११)

३. निरोधके अुपाय

१४. योगसिद्धिके दो अुपाय हैं: (१) अभ्यास और वैराग्य (१-१२) अथवा (२) ओीश्वर-प्रणिधान । (१-२३)

१५. तीव्रसंवेग — अत्यन्त आतुरता — हो, तो वह जल्दी सिद्ध होता है । (१-२१)

१६. अिसके अलावा प्रयत्नकी मात्राके अनुसार मृदु, मध्य या अतिशयताके परिमाणमें सिद्धि न्यूनाधिक होती है । (१-२२)

४. अभ्यास

१७. **अभ्यास** कहते हैं चित्त स्थिर करनेके यत्नको । (१-१३)

१८. बहुत समय तक, निरंतर, सत्कारपूर्वक सेवन करनेसे अभ्यास पक्का होता है । (१-१४)

५. वैराग्य

१९. **वैराग्य**का अर्थ है — अैसे पुरुषके मनमें, जिसे यह भान हो कि विषय मेरे वशमें हैं, देखे या सुने गये विषयोंमें तृष्णाका अभाव । (१-१५)

२०. अुसके बाद जिस पुरुषने आत्मा-अनात्मा सम्बन्धी विवेक प्राप्त कर लिया है, अुसकी गुण-विषयक तृष्णा भी चली जाती है । (१-१६)

६. अीश्वर-प्रणिधान

२१. **अीश्वर** माने परमात्मा, परम चैतन्य, सर्वत्र व्यापक ब्रह्म ।

२२. **प्रणिधान** अथवा अुत्तम प्रकारसे निधानका अर्थ है अीश्वरका आश्रय और अुसका अनन्य भक्तिपूर्वक आलम्बन ।

२३. ॐ **अथवा प्रणव** अीश्वर-वाचक संज्ञा है । (१-२७)

२४. ॐका जप और अीश्वरके अर्थकी भावना योगाभ्यासके लिअे प्रणिधानकी विधि है । (१-२८)

७. चित्तनिरोधके कारण

२५. चित्तका निरोध दो तरहसे होता है — (१) बेबसीसे और (२) अपने प्रयत्नसे स्वाधीनतापूर्वक ।

२६. मूर्छित पुरुषको अपने अस्तित्वके प्रत्ययके साथ जुड़ी हुअी वृत्तिके व्यापारका जो निरोध होता है, वह बेबसीसे होनेवाला योग (निरोध) है । (१-१९)

२७. श्रद्धा आदि सम्पत्तिपूर्वक जो साधकका प्रयत्न है, वह **स्वाधीन योग** है ।

८. स्वाधीन योगकी सम्पत्तियाँ

२८. श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ये स्वाधीन योगकी सम्पत्तियाँ हैं । (१-२०)

२९. **श्रद्धाका** अर्थ है वह विश्वास जो मनुष्यकी अपनी स्वीकृत प्रवृत्तिमें दृढ़ताके साथ लगे रहनेके लिअे आवश्यक होता है ।

३०. **वीर्यके** माने वह अुत्साह जो अिसी हेतुकी सिद्धिके लिअे अुसमें अवश्य होना चाहिये ।

३१. **स्मृतिके** माने अिसी हेतुकी सिद्धिके लिअे जो जागृति, सावधानता और चिन्तन अुसमें अवश्य होने चाहियें ।

(समाधिका अर्थ आगे समझमें आ जायगा ।)

३२. **प्रज्ञाके** माने जो जो अनुभव होते हैं, अुनका सूक्ष्म अवलोकन करनेकी शक्ति । धारणा, ध्यान व समाधिके अेकत्र अभ्याससे वह विकसती है ।

९. योगकी भूमिकायें

३३. योगकी दो भूमिकायें हैं: (१) संप्रज्ञात, और (२) असंप्रज्ञात।

३४. संप्रज्ञात अुस योगको कहते हैं, जिसमें अतिशय स्पष्ट ज्ञानपन (ज्ञातृत्व) है। (संप्रज्ञानका अर्थ है स्पष्ट भान)

३५. संप्रज्ञात-योगमें क्रमशः वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिताके संप्रज्ञानोंका निरोध होता है। (१-१७)

३६. असंप्रज्ञात-योगमें वृत्ति अेक प्रत्ययको छोड़कर दूसरेको पकड़े, अुस बीचके विरामका अभ्यास होता है। अुसके फलस्वरूप जो संस्कार रह जाता है, वही यह योग है। (१-१८)

१०. संप्रज्ञात योगके भेदोंकी समझ

३७. वितर्कका अर्थ है कोअी शब्द, अुससे दर्शित पदार्थ तथा अुस पदार्थके साथ युक्त 'विकल्प' (देखिये सूत्र १०वाँ) — अुसका संप्रज्ञान।

३८. विचारका अर्थ है वितर्कके बाद अुठनेवाले आनुषंगिक विचारका संप्रज्ञान।

३९. आनंदका अर्थ है वितर्क तथा विचारके साथ अुठनेवाले हर्ष (या शोक) अथवा प्रीति (या द्वेष) के भावका संप्रज्ञान।

४०. चैतन्य और चित्तकी अेकाग्रता प्रतीत होना **अस्मिता** है (२-६)। अिसका संप्रज्ञान पूर्वोक्त तीनों संप्रज्ञानोंके पीछे चित्रके आधार-स्वरूप परदेकी तरह मालूम पड़ता है।

११. योगकी पूर्व तैयारियाँ

४१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योगके अंग अथवा पूर्व तैयारियाँ हैं। (२-२९)

४२. **यम**के माने हैं सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह अिन पाँच महाव्रतोंका काया-वाचा-मनसा सूक्ष्म विवेकपूर्वक पालन; यमोंसे चित्तकी समता सिद्ध होती है।

४३. **नियम**के माने हैं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और अीश्वर-प्रणिधानका निरंतर दृढ़तापूर्वक आचरण; नियमोंसे शरीरकी शुद्धि

होती है, मन प्रसन्न रहता है, तथा मन और बुद्धिकी शुद्धि बढ़ती और सुरक्षित रहती है।

४४. **आसन**के माने हैं स्थिरताके साथ, सहज भावसे, तन कर सीधे, अेक ही तरीकेसे, लम्बे समय तक बैठनेकी आदत। चित्तको स्थिर करनेके लिअे यह आवश्यक है।

४५. **प्राणायाम**के माने हैं दीर्घ, धीमी, अेक-सी और बिना घबड़ाहटकी श्वासोच्छ्वासकी टेव; अुससे शरीरकी नीरोगता कायम रहती है। अुसके बिना योगमें प्रगति कठिन होती है।

४६. **प्रत्याहार**के माने हैं योगाभ्यासके विषयमें अैसी लगन कि जिसके कारण समस्त अिन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंके प्रति दौड़ना भूल जायँ तथा भूख, प्यास, नींद तकको अेक हदतक भूल जायँ।

४७. ये पाँच योगाभ्यासके बाह्य अंग हैं। (२-७)

४८. **धारणा**के माने हैं शरीरके अन्दर या बाहरके किसी केन्द्र पर चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास। (३-१)

४९. **ध्यान**के माने हैं धारणाके स्थान पर चित्तको अेक ही प्रत्यय पर चिपके हुअे रखनेका अभ्यास: प्रत्ययके साथ अेकतानता। (३-२)

५०. **समाधि**के माने हैं ध्यानकी अैसी अेकतानता कि जिसमें अपने अस्तित्वका भी भान न हो। अिसमें चित्त व चैतन्यकी ही अेकरूपता होती हो सो नहीं; लेकिन चैतन्य चित्तके ग्रहण किये हुअे प्रत्ययके साथ अेकरूप जैसा हो जाता है और खुदको, क्षणभरके लिअे ही सही, दृश्यरूप मानता है। (१-४३; ३-३)

१२. कुछ पारिभाषिक शब्द

५१. **सर्वार्थता**का अर्थ है वृत्तिके प्रत्येक व्यापारमें जुदा जुदा प्रत्ययों पर अटकनेकी चित्तकी आदत: चित्तकी चंचलता।

५२. **अेकाग्रता**का अर्थ है वृत्तिके प्रत्येक व्यापारमें अेक ही प्रत्यय पर स्थिर रहनेकी टेव।

५३. सर्वार्थतामेंसे अेकाग्रतामें जाना **समाधि-परिणाम** है। (३-११)

५४. व्युत्थानका अर्थ है समाधिकी स्वरूपशून्य जैसी दृश्याकार स्थितिमेंसे जग जाना तथा द्रष्टा, दृश्य और दर्शनके भानपूर्वक दृश्यके प्रति अेकाग्रता रहना।

५५. समाधिमेंसे व्युत्थान दशामें जाना **समापत्ति** है।

५६. वितर्क और विचारकी समाधिमेंसे समापत्तिमें जाना अनुक्रमसे सवितर्क और सविचार समापत्ति है। वितर्क और विचारकी समाधि ही अनुक्रमसे निर्वितर्क और निर्विचार समापत्ति है। (१-४२से ४४)

५७. वितर्क और विचारकी समाधियोंको **सबीज समाधि** भी कहते हैं। (१-४६)

५८. निर्विचार समाधिमें कुशलता प्राप्त होनेसे आध्यात्मिक प्रसन्नता आती है। जिससे प्रज्ञा **ऋतंभरा** यानी सत्यदर्शी होती है। अुसके संस्कार दूसरे विरोधी संस्कारोंको हटानेकी क्षमता रखते हैं। (१-४७, ४८, ५०)

५९. अुन संस्कारोंका भी निरोध करनेसे संस्कारमात्रका निरोध होता है। अुसे **निर्बीज समाधि** कहते हैं। (१-५१)

६०. समापत्तिके वक्त रही हुअी दृश्यके प्रति अेकाग्रताको रोककर, अुस समयकी दर्शनशक्ति (चित्त) की स्थितिका प्रज्ञाके द्वारा आकलन करना यह **निरोध-परिणाम** है: यही योगका अभ्यास है।

१३. योगका फल

६१. चित्तके सम्पूर्ण निरोधके समय चैतन्यशक्ति अपने सहजभावमें रहती है (१-३)। अुस स्थितिके आकलनके फलस्वरूप चित्त और चैतन्यके भेदका ज्ञान होता है। यह **विवेकख्याति** है।

६२. अिस भेदका ज्ञान दृढ़ होनेसे प्रयत्नशील साधकको सर्व भावों पर अधिष्ठातृत्व प्राप्त होता है और अुसकी बुद्धि सर्वग्राही होती है (२-४९)। अैसा चित्त **सत्त्व** कहलाता है।

६३. अपने सत्त्वकी शुद्धिकी पराकाष्ठा करना और समग्र मानव-जीवनको अुसी दिशामें ले जानेका पुरुषार्थ करना मनुष्य **जीवनका आदर्श** समझा जाय।

६४. यही मानव जीवनकी परम प्राप्ति है।

अन्तिम कथन

ये सब लेख निन्दा-बुद्धिसे नहीं लिखे गये हैं। बल्कि अिस अनुभव व अवलोकन परसे लिखे गये हैं कि सत्यदर्शनमें भ्रामक कल्पनायें और आदर्श, अथवा सच्चे आदर्शकी गलत कल्पनायें कितनी बाधक होती हैं, और अुनकी बदौलत साधकोंका कितना परिश्रम गलत दिशाओंमें व्यर्थ चला जाता है।

अिस पुस्तकके निचोड़के रूपमें मुझे जो कुछ कहना है, वह यदि मैं सूत्र-रूपमें लिख डालूँ तो पाठकोंको अनुकूलता होगी। हाँ, यह बात जरूर याद रखनी चाहिये कि अिन सूत्रोंको अिस पुस्तकका लघुदर्शन (summary) न समझा जाय।

१. वेदधर्म नाम यदि सार्थक हो, तो वह ज्ञानका — अनुभवका — धर्म है। अुसका दावा है कि जो कुछ अन्तिम प्राप्तव्य है, वह अिसी जीवनमें सिद्ध हो सकता है। शास्त्र केवल अपनी प्राचीनताके लिअे अथवा प्रसिद्ध ऋषियों द्वारा प्रणीत होनेसे मान्य नहीं हो सकते। वे अुसी अंशतक विचारणीय हैं, जिस अंश तक कि अुनके वचन जीवनके मूल प्रश्नोंके सम्बन्धमें अनुभव-युक्त हों या अनुभव प्राप्त करनेमें मार्गदर्शक हो सकते हों। फिर वे प्राचीन हों या अर्वाचीन, प्रतिष्ठा-प्राप्त हों या न हों, संस्कृतमें हों या प्राकृतमें या संसारकी किसी भी अन्य भाषामें हों। अनुभवकी वाणी चाहे जीवित पुरुषकी हो या मृतकी, वह अवश्य विचारणीय है।

२. अनुभव यथार्थ व अयथार्थ दो प्रकारका हो सकता है; फिर अनुभव व अनुभवका खुलासा (अुपपत्ति) दोनोंमें भेद है। अतः अनुभवके वचन या अुपपत्ति भी सिर्फ विचारणीय ही समझी जा सकती है। वे मान्य तो अुसी हद तक हो सकते हैं, जिस हद तक वे हमारे अनुभव और विचारमें सही साबित हों।

३. प्राचीन कालसे लेकर अबतक के गहरे विचारकोंके अनुभव और अुनकी अुपपत्तियोंमें जिस अंशतक अेकवाक्यता है, अुसी अंशतक शास्त्रोंको प्रमाणभूतता मिलती है।

४. अिस शास्त्र-प्रमाण तथा अनुभव-प्रमाणके अनुसार यह स्वीकार करने योग्य सिद्धान्त है कि सर्वत्र समतासे व्याप्त आत्मतत्त्व है। अुसकी शोध ज्ञानरूपी पुरुषार्थका अन्तिम ध्येय है। यह ध्येय अिस जीवनमें ही प्राप्त कर लेना है — जीवनके बाद नहीं।

५. अिसके लिअे कृत्रिम पूजा, वेष, कर्मकाण्ड आदिकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने देश, काल, वय, जाति, शक्ति, संस्कार, शिक्षण आदिको देखकर, निरन्तर सावधान रहकर, योग्यायोग्यता तथा धर्माधर्मका विवेकबुद्धिसे विचार करके समाजके तथा अपने जीवनके धारण, पोषण व सत्त्वसंशुद्धिके लिअे जो आवश्यक कर्म हों अुन्हें करता रहे और अपने चित्तशोधनका अभ्यास करता रहे, तो वह अपने जीवनका ध्येय प्राप्त कर सकता है और गुणोंका जो स्वाभाविक विकास व पराकाष्ठाका क्रम होगा अुसे गति दे सकता है।

६. आचारमें, वाणीमें, या वेषमें सारासारविवेकसे सामान्य पुरुषार्थी सदाचारी मनुष्यको जो बात अनुचित मालूम हो, अुसे करनेकी 'मुक्त' या 'सिद्ध' कहलानेवाले व्यक्तिको छूट है — अिस वचनमें या तो अज्ञान है या पागलपन अथवा पाखण्ड है।

७. अेक ओर अनुभव व दूसरी ओर तर्क, अनुमान या कल्पना अिनमें बहुत भेद है। अनुमानको सिद्धान्त समझनेकी या कल्पनाको सत्य समझनेकी भूल करना सत्यशोधनमें बड़ी खामी जैसा है। सत्य-शोधकको जिस बातका अनुभव न हुआ हो, अुसके विषयमें अुसे साशंक या तटस्थ रहनेका अधिकार है।

८. अिसी तरह वाद और सिद्धान्तमें भी भेद है। वाद अुस कल्पनाको कहते हैं जो स्पष्ट परिणामों अथवा अनुभवोंके अगोचर कारणोंके विषयमें अथवा प्रत्यक्ष कर्मोंके अगोचर फलोंके विषयमें सयुक्तिक दिखाअी देती हो। सिद्धान्त अनुभव या प्रयोगसे निष्पन्न अचल नियम है। वादको सिद्धान्त माननेकी भूल न करनी चाहिये। वह कितना ही युक्तियुक्त व सन्तोषकारक क्यों न प्रतीत हो, फिर भी यदि दूसरा व्यक्ति अुस विषय पर दूसरा वाद अुपस्थित करता है, तो अुसके लिअे झगड़ा

करनेकी जरूरत अेक तरहसे नहीं है; हाँ, अुस वादको माननेवालेके मन पर अुससे जो संस्कार दृढ़ बनते हों, अुनके गुण-दोषोंकी दृष्टिसे अुस वादकी समालोचना व शुद्धि आवश्यक है। अिससे अधिक अुस वादके खण्डन-मण्डन या अुसे पकड़ रखनेका आग्रह न होना चाहिये।

९. सत्यशोधकमें तटस्थता, निराग्रह, या जिसे निष्कामता या निःस्पृहता कहते हैं, वह [illegible] और पूर्वग्रहोंका त्याग बिलकुल आवश्यक है। अैसा आग्रह कि अमुक मान्यता या विचारको मैं कदापि न छोड़ूँगा, सत्य-शोधनमें बाधक है। मन्यता या मोहकताके कारण किसी मान्यता या कल्पनाको पकड़ रखनेका आग्रह भी सत्यशोधनमें बाधक है। यह आग्रह भी सत्यशोधनमें बाधक है कि शास्त्रोंमेंसे अेकवाक्यता निकालना आना चाहिये। शोधनका विषय शास्त्र नहीं, बल्कि आत्मा व चित्त हैं; और ये शास्त्रोंमें नहीं बल्कि हमारे अपने अन्दर हैं। बुनाअी सीखनेमें जितना अुपयोग बुनाअीकी पाठ्य-पुस्तकका हो सकता है, अुतना ही हमारे लिअे अिन शास्त्रोंका हो सकता है। परन्तु जिस तरह बुनाअी सीखनेका अधिक मौजूँ साधन पाठ्य-पुस्तक नहीं, बल्कि बुनाअीशाला — कारखाना — या अनुभवी बुनकर है, अुसी तरह आत्मशोधनका अधिक योग्य साधन शास्त्राध्ययन नहीं, बल्कि चित्त व सद्गुरु तथा सत्पुरुषोंका भक्ति-पूर्वक समागम है।

१०. भाषाका अचोकसपन — अयथार्थता — विचारमें अचोकसपन पैदा करता है; तत्त्वचिन्तकोंको अिसके विषयमें सावधानी रखनी चाहिये।

११. व्याकुलता, जिज्ञासा, शोधक-बुद्धि, सत्त्वसंशुद्धि, विचारमय व पुरुषार्थी जीवन, पूज्य व गुरुजनोंके प्रति भक्ति, आदर, जगत्‌के प्रति निष्काम प्रेम, धैर्य, दृढ़ता, कृतज्ञता, धर्मशीलता, आत्मा या परमात्माके सिवा दूसरे आलम्बनके विषयमें निःस्पृहता — अितने गुण सत्यशोधकमें अवश्य होने चाहियें।